शताब्दिसंस्करण

श्री आत्मानन्दजैनशताब्दि सिरीज़ नं० ८

※ वन्दे श्री वीरमानन्दम् ※

जैनतत्त्वादर्श

पूर्वार्ध

रचयिता

तपोगणगगनदिनमणि—न्यायांभोनिधि-जैनाचार्य

श्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वर प्रसिद्ध नाम

श्री आत्माराम जी महाराज



प्रकाशक

श्री आत्मानन्द जैन महासभा पञ्जाब,

हैड ऑफिस, अंबाला शहर ।

वीर सं० २४६२	दोनों भागों का मूल्य	विक्रम सं० १९९२
आत्म सं० ४०	आठ आना	ईस्वी सं० १९३६

शताब्दीसंस्करण

ठाकुर जगजीतसिंह पाल,
बसन्त प्रिंटिंग प्रैस, गनपत रोड लाहौर

पुस्तक मिलने का पता.—

१. श्री आत्मानन्द जैन महासभा पञ्जाब,
"हैड आफिस" अम्बाला शहर (पञ्जाब)

२. श्री जैन आत्मानन्द सभा
भावनगर (काठियावाड़)

तृतीय संस्करण

प्रति ३०००


स्वर्गीय न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य
श्रीमद्विजयानन्द सूरि

नम्र निवेदन

प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री १००८ श्री विजयानन्द सूरीश्वर प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज की गुजरात देश की बड़ोदा राजधानी में [चैत्र शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९९३] बड़े समारोह से मनाई जाने वाली जन्म शताब्दी के मनाने का अधिकार यद्यपि सब से पहिले पंजाब को था, क्योंकि स्वर्गीय गुरुदेव के उपकारों का सब से अधिक ऋणी पंजाब ही है। इस के अतिरिक्त आप श्री के पुनीत जन्म का असाधारण गौरव भी पंजाब ही को प्राप्त है। यदि सच कहा जाय तो आप के सुविनीत वल्लभ की तरह ही आप को पंजाब वल्लभ था। इसी लिये स्वर्ग लोक को अभिनन्दित करने से पहिले ही आप ने अपने वल्लभ देश को अपने प्यारे वल्लभ के सुपुर्द कर दिया था। इस भी पंजाब ही को इस शताब्दि रूप पुण्य यज्ञ के अनुष्ठान में सब से पहिले दीक्षित होने का अधिकार था। परंतु कई एक अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने से पंजाब इस गौरवान्वित गुरुभक्ति से वञ्चित रहा, जिस का उसे अत्यन्त खेद है। यदि उस को पूज्य गुरुदेव की शताब्दि मनाने का गौरव प्राप्त होना होता तो आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि जी महाराज पंजाब के किसी निकट प्रदेश में अवश्य विराजते होते।

इस पर भी पंजाब पर होने वाले गुरुदेव के असीम उपकारों को देखते हुये, गुरुदेव की जन्म शताब्दि के उपलक्ष में श्री आत्मानन्द जैन महासभा ने कुछ न कुछ श्रद्धा के फूल गुरुदेव की सेवा में सविनय अर्पण करने का निश्चय किया, और उस के अनुसार शताब्दि के निमित्त यथाशक्ति किये जाने वाले विविध कार्यों का आरम्भ कर दिया। उन में से एक कार्य यह भी था, कि गुरुदेव के आद्य ग्रन्थ "जैनतत्त्वादर्श" का अधिक प्रचार करने के लिये उस का नवीन और शुद्ध संस्करण प्रकाशित करा कर बहुत सस्ते दामों पर दिया जावे। क्योंकि यह ग्रन्थ जैन तथा जैनेतर सभी के लिये परम उपयोगी और बड़े महत्त्व का है।

यद्यपि जैनतत्त्वादर्श बहुत वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ था, परंतु आज वह दुष्प्राप्य है। और पूर्व प्रकाशित इस ग्रंथ में छापे की अनेक अशुद्धियां भी थीं, तथा उसका दाम अधिक होने से सर्व साधारण उस से लाभ उठाने में भी असमर्थ थे। इन्हीं सब बातों के आधार पर उक्त ग्रन्थ के नवीन और शुद्ध संस्करण प्रकाशित करने का विचार स्थिर हुआ। परंतु इस कार्य के लिये समय बहुत थोड़ा था, क्योंकि लगभग १२०० पृष्ठ में समाप्त होने वाले ग्रंथ का संशोधन और नवीन शैली से सम्पादन करके उसे छपवाने के लिये प्रेस में देना, और प्रूफादि का देखना वगैरह कार्य मात्र तीन मास के समय में होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य प्रतीत होता

था। तो भी सभा की कार्यकारिणी समिति ने श्रीमान् पं० हंसराज जी शास्त्री, तथा श्रीयुत भाई हंसराज जी एम. ए. पर इस कार्य का भार डाला। उन्होंने इतने थोड़े समय में भी दिन रात लगातार परिश्रम करके इस कार्य को सम्पूर्ण करने का जो कष्ट उठाया, उस के लिये महासभा उन दोनों सज्जनों की बहुत आभारी है।

लगभग १२०० पृष्ठों की पुस्तक के दोनों भागों का दाम केवल आठ आना ही रक्खा गया है, जब कि असल लागत डेढ़ रुपया के करीब आई है। इस का एक मात्र उद्देश्य सर्व साधारण में प्रचार ही है। यदि सर्व सज्जन इसे पढ़ कर लाभ उठायेंगे, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

आभार प्रदर्शन—

श्रीमान् डाक्टर बनारसी दास जी M. A. P. H. D. प्रोफ़ेसर ओरियंटल कालेज लाहौर का भी यह सभा आभार मानती है, जिन्हों ने हमारी प्रेरणा पर "महाराज साहब की भाषा" शीर्षक लेख लिख कर देने की कृपा की है, जो कि इस पुस्तक में दिया गया है।

परमपूज्य जैनाचार्य श्री विजयवल्लभसूरि जी की प्रेरणा से जिन सज्जनों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में धन की सहायता दी है, उन को यह महासभा हार्दिक धन्यवाद देती है।

१०००) सूरत निवासी सेठ नगीनचन्द कपूरचन्द जी जौहरी की धर्मपत्नी श्रीमती रुकमणी बहन

[स्वर्गीय आचार्य महाराज के पट्टधर श्री विजय वल्लभ सूरि के सूरत में पधारने की खुशी में]

७८७॥)। जंडियालागुरु से "जैनतत्वादर्श" के लिये प्राप्त ।

२००) श्री पूज राज ऋषि जी तिलोक ऋषिजी जंडियाला

२१२॥)। सूद ।

२५०) ला० लालूमल मेलामल जीरा (विवाह पर)

१००) ला० गोपीमल दुर्गादास जंडियाला।

२५) ला० तेजपाल हंसराज जंडियाला।

७८७॥)। जोड़

अन्त में हम प्रेस वालों के भी कृतज्ञ हैं, जिन्हों ने दिन रात लगा कर इस कार्य को सम्पूर्ण करने में हमें सहायता दी है।

विनीत-

मंत्री—श्री आत्मानन्द जैन महासभा पञ्जाब

प्रासङ्गिक वक्तव्य ।

ग्रन्थकार—

प्रस्तुत ग्रंथ के रचियता स्वनामधन्य आचार्य श्री १००८ श्री विजयानंद सूरि प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज बीसवीं सदी के एक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। आप की सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास, निर्भयता और प्रतिभासम्पत्ति ने जैन समाज के जीर्णतम कलेवर में नवीन रक्त का संचार करने में सचमुच ही एक अद्‌भुत रसायन का काम किया। आज जैन समाज में धार्मिक और सामाजिक जितनी भी जागृति नज़र आती है, उस का प्रारम्भिक श्रेय अधिक से अधिक आप ही को है। आप की वाणी और लेखिनी ने समाज के जीवन-क्षेत्र में क्रांति के बीज को वपन करके उसे पल्लवित करने में एक श्रमशील चतुर माली का काम किया है। आज समाज के अंदर विचार-स्वतंत्रता का जो वातावरण फैल रहा है, तथा रूढिवाद का अन्त करने के लिये जो तुमुल धर्म युद्ध किया जा रहा है, यह सब इसी का परिणाम है।

पंजाब की मातृभूमि को इस बात का गर्व है कि उस ने वर्तमान युग में एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया कि जो अहिंसा त्याग और तपश्चर्या की सजीव मूर्ति होते हुए अपनी सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास और प्रतिभाबल से

विभक्त किया गया है । प्रथम परिच्छेद में देव के स्वरूप का वर्णन है, और उस से सम्बन्ध रखने वाले और कई एक उपयोगी विषयों की चर्चा है ।

दूसरे में कुदेव के स्वरूप का उल्लेख करते हुए ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का दार्शनिक रीति से प्रतिवाद किया है ।

तीसरा परिच्छेद गुरुतत्त्व के स्वरूप का परिचायक है, और उस में साधु के पांच महाव्रतों का स्वरूप और १२ भावना आदि का विस्तृत वर्णन है ।

चौथे में कुगुरु के स्वरूप का विस्तृत वर्णन एवं वेद विहित हिंसा का प्रतिवाद और अहिंसा के सिद्धांत का समर्थन किया है ।

पांचवें परिच्छेद में धर्म के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए साथ में जीवादि नवपदार्थों का विशद वर्णन है ।

छठे परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान के विवेचन में १४ गुणस्थानों का वर्णन और उन की विशद व्याख्या विद्यमान है ।

सातवें में सम्यग्दर्शन और तत्सम्बन्धी अन्य विवेचनीय विषयों पर प्रकाश डाला है ।

आठवें परिच्छेद में सम्यक् चारित्र के स्वरूप का उल्लेख करते हुए सर्व विरति और देशविरति आदि भेदों का निरूपण भली भांति से किया है । श्रावक के बारह व्रतों का भी इस में पूर्ण रूप से विवेचन है ।

नवमे और दशवें परिच्छेद में श्रावक का दिनकृत्य पूजाभक्ति, रात्रिकृत्य, पाक्षिक कृत्य, चौमासी और संवत्सरी आदि कृत्यों का विस्तृत विवेचन है।

ग्यारहवें परिच्छेद में भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक का संक्षिप्त इतिहास दिया है।

और बारहवें परिच्छेद में भगवान् महावीर स्वामी के गौतम आदि ग्यारह गणधरों की तात्त्विक चर्चा का उल्लेख करके भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद का उपयोगी इतिवृत्त दिया है। जिस में तत्कालीन प्रमाणिक जैनाचार्यों की कतिपय जीवन घटनाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार यह ग्रन्थ बारह परिच्छेदों में समाप्त किया है।

भाषा—

प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा आज कल की परिष्कृत अथवा छटी हुई हिन्दी भाषा से कुछ विभिन्नता और कुछ समानता रखती हुई है। आज से पचास वर्ष पहिले प्रचलित बोलचाल की भाषा से अधिक सम्बन्ध रखने वाली और साहचर्य वशात् पंजाबी, गुजराती और मारवाडी के मुहाविरे के कतिपय शब्दों को साथ लिये हुए है। परन्तु इस से इस के महत्व में कोई कमी नहीं आती। भाषाओं के इतिहास को जानने वाले इस बात की पूरी साक्षी देंगे, कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की भांति भाषा और लिपि में भी परिवर्तन बराबर होता रहता है। परिवर्तन का यह नियम केवल हिन्दी भाषा

के लिये ही नहीं, किन्तु भाषा मात्र के लिये है प्रस्तुत ग्रंथ की रचना के समकालीन भाषा की अन्य रचनाओं के साथ तुलना करने से भी अपने समय के अनुसार इस की विशिष्टता में कोई अन्तर नहीं आता। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा के साथ यदि निश्चल दास जी के विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर की भाषा का मिलान करें, तो दोनों में बहुत समानता नज़र आयेगी। इस लिये भाषा की दृष्टि से भी प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादेयता में कोई अन्तर नहीं आता। हां! वर्तमान समय की छटी हुई हिंदी भाषा के दिलदादाओं-प्रेमियों को यदि यह भाषा रुचिप्रद न हो, तो हम कुछ नहीं कह सकते। परन्तु इस से उक्त भाषा सौष्ठव में कोई क्षति नहीं आती।

न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि।
प्रियत्वं वस्तूनां भवति खलु तद्ग्राहकवशात्॥

रचनाशैली—

प्रस्तुत ग्रंथ की रचनाशैली भी वर्तमान समय की रचनाप्रणाली से भिन्न है, तथा विषय निरूपण में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है, वह भी वर्तमान समय की निरूपण शैली से पृथक् है। परन्तु यह होना भी कोई अस्वाभाविक नहीं, क्योंकि यहां पर भी वही परिवर्तन का नियम काम करता है, अर्थात् भाषा और लिपि की तरह रचनाशैली में भी समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचनाशैली के लिये भी उपर्युक्त विचार-सागर और वृत्तिप्रभाकर तथा स्वामी चिद्घनानंद जी कृत

भगवद्गीता और आत्मपुराण की रचना शैली को देखें। इन में वाक्य रचना और विषय निरूपण में एक ही प्रकार की पद्धति का अनुसरण किया गया है, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की रचनाशैली में विभिन्नता होने पर भी उस की उपादेयता में कोई अंतर नहीं पड़ता।

ग्रंथ की प्रमाणिकता—

प्रस्तुत ग्रन्थ में जितने भी विषयों का निरूपण किया गया है, और जिस अंश तक उन का विवेचन किया है, वे सब प्रामाणिक जैनाचार्यों के ग्रन्थों के आधार से किया गया है, और उन प्राचीन शास्त्रों के आधार के विना प्रस्तुत ग्रन्थ में एक बात का भी उल्लेख नहीं, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता में अणुमात्र भी सन्देह करने को स्थान नहीं।

ग्रंथ की उपादेयता—

प्रस्तुत ग्रंथ का रचनासमय भी एक विचित्र समय था, उस समय सांप्रदायिक संघर्ष आज कल की अपेक्षा भी अधिक था। एक सम्प्रदाय वाला दूसरे सम्प्रदाय पर आक्षेप करते समय सभ्यता को भी अपने हाथ से खो बैठता था। तात्पर्य कि उस समय साम्प्रदायिक विचारों का प्रवाह ज़ोर शोर से बह रहा था। और कभी २ तो तटस्थ विचार वालों की भी पगड़ियें उछाली जाती थीं। ऐसी दशा में एक सुधारक धर्माचार्य को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा, इस की कल्पना सहज ही में की जा सकती है। इस के अतिरिक्त उस काल में जैन धर्म

के सिद्धांत साधारण जनता की दृष्टि से प्रायः ओझल हो रहे थे। उन के विषय में तरह २ की भ्रांत कल्पनायें स्थान प्राप्त कर रही थीं, तथा उस के सिद्धांतों के विरुद्ध भी बड़े जोर का प्रचार हो रहा था। ऐसी अवस्था में जैनधर्म के सिद्धांतों का स्थायीरूप में यथार्थ ज्ञान कराने और उस के विरोधी विचारों का युक्ति युक्त प्रतिवाद करने की आवश्यकता पर ध्यान देते हुए स्वर्गीय आचार्य श्री ने प्रस्तुत ग्रंथ का निर्माण किया है। हमारे विचार में यह ग्रन्थ जैन जैनेतर सभी के लिये बड़े काम की वस्तु है।

तत्कालीन परिस्थिति—

जिस परिस्थिति में प्रस्तुत ग्रंथ का निर्माण किया गया है, वह वर्तमान परिस्थिति से बिलकुल भिन्न थी। आज ग्रन्थों का प्राप्त होना जितना सुलभ है, उतना उस समय न था। ग्रंथों की रचना प्रणालि और सम्पादन कला में जितना विकास आज हो रहा है। और अनेकानेक दुर्लभ ग्रन्थों के विशद विवेचन जिस ढंग के आज उपलब्ध होते हैं, उस समय तो इन का प्रायः अभाव सा ही था। इस पर भी प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध होने वाले अनेकानेक दुष्प्राप्य ग्रंथों के पाठों के महान् संग्रह को देखते हुए तो चकित होना पड़ता है, और ग्रन्थप्रणेता की प्रतिभा के प्रकर्ष की बलात् मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना रहा नहीं जाता।

हमारी विनय

सम्पादनभार—

गुजरात देश की बड़ौदा राजधानी में मनाई जाने वाली स्वर्गीय गुरु देव की जन्मशताब्दि के उपलक्ष में पंजाब की

श्री आत्मानन्द जैन महासभा की कार्यकारिणी समिति ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नवीन संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया, और उसे कम से कम मूल्य में वितीर्ण करने का भी निश्चय किया। तदनुसार इस के सम्पादन का कार्य हम दोनों को सौंप दिया गया। हम ने भी समय की स्वल्पता, कार्य की अधिकता और अपनी स्वल्प योग्यता का कुछ भी विचार न करके केवल गुरुभक्ति के वशीभूत हो कर महासभा के आदेशानुसार पूर्वोक्त कार्य को अपने हाथ में लेने का साहस कर लिया। और उसी के भरोसे पर इस में प्रवृत्त हो गये।

हमारी कठिनाइयां—

इस कार्य में प्रवृत्त होने के बाद हम को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन का ध्यान इस से पूर्व हमें बिल्कुल नहीं था। एक तो हमारा प्रस्तुत ग्रंथ का साद्यन्त अवलोकन न होने से उसे नवीन ढंग से सम्पादन करने के लिये जिस साधन सामग्री का संग्रह करना हमारे लिये आवश्यक था, वह न हो सका। दूसरे, समय बहुत कम होने से प्रस्तुत पुस्तक में प्रमाणरूप से उद्धृत किये गये प्राकृत और संस्कृत वाक्यों के मूलस्थल का पता लगाने में पूर्ण सफलता नहीं हुई। तीसरे, इधर पुस्तक का संशोधन करना और उधर उसे प्रेस में देना। इस बढ़ी हुई कार्य-व्यग्रता के कारण प्रस्तुत पुस्तक में आये हुए कठिन स्थलों पर नोट में टिप्पणी या परिशिष्ट में स्वतन्त्र विवेचन लिखने से हम वंचित रह गये हैं। एवं समय के अधिक

न होने से दूसरे भाग में तो निर्धारित संशोधन भी हम नहीं कर पाये। अतः विवशता के कारण प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादन में रही हुई अनेक त्रुटियों के लिये हम अपने सभ्य पाठकों से सांजलि क्षमा मांगते हैं।

संशोधनः—

प्रस्तुत पुस्तक के संशोधन के विषय में भी हम दो शब्द कह देना आवश्यक समझते हैं।

(१) ग्रंथ की मूल भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। सिर्फ विभक्तियों में किंचित् मात्र परमावश्यक आंशिक परिवर्तन किया गया है, जैसे—

मूलपाठ	संशोधित
उस कुं	उस को
सर्वजीवां कुं	सर्व जीवों को
धर्मीपणे	धर्मीपने
लौकिक में	लोक में
पढ़णे	पढ़ने
फेर	फिर

तथा कहीं कहीं पर उक्त संशोधित पाठ भी मूल में विद्यमान हैं।

(२) प्रेस तथा अन्य किसी कारण से उल्लेख में आई हुई असम्बद्ध वाक्य रचना में विषय के अनुसार कुछ शब्दों की न्यूनाधिकता की गई है।

(३) प्रमाण रूप उद्धृत किये गये प्राकृत और संस्कृत के

अशुद्ध पाठों को मूल ग्रंथों के अनुसार शुद्ध किया गया है।

(४) तथा ग्रंथ की भाषा में रही हुई प्रेस की भूलों का सुधार किया गया है। इस के अतिरिक्त मूलग्रन्थ की भाषा में अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया। हां! अनुस्वार के अनावश्यक प्रयोग को प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया गया।

आभार—

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में समय की न्यूनता और कार्य की अधिकता को देख कर अपनी सहायता के लिये हम ने आरम्भ में श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल के स्नातक प० रामकुमार जी और उन के बाद उक्त गुरुकुल के स्नातक (वर्तमान में अध्यापक) पं० ईश्वरलाल जी को कष्ट दिया। इन दोनों सज्जनों ने इस कार्य में हमारी यथाशक्ति सहायता करने में किसी प्रकार की कमी नहीं की, अतः हम इन दोनों स्नातक सज्जनों के कृतज्ञ हैं।

इन के अतिरिक्त हम मुनि श्री पुण्यविजय जी का भी पुण्य स्मरण किये बिना नहीं रह सकते, कि जिन्हों ने प्रस्तुत ग्रन्थ में आये हुए बहुत से प्राकृत पाठों के मूल स्थलों को बतलाकर हमें अनुगृहीत किया है।

तथा भाई सुन्दरदास जी ने इस सम्पादन कार्य में हमारी बड़ी भारी सहायता की है, तदर्थ हम इन के विशेष

कृतज्ञ हैं। इन के ही विशिष्ट प्रबंध से लाहौर में हम लोग घर से भी अधिक सुखी रहे, तथा संपादनोपयोगी पुस्तकें भी पर्याप्त रूप से समय पर मिलती रहीं, एवं संपादन संबंधी विचार विनिमय भी होता रहा। और अनेकविध घरेलू कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वे प्रूफ आदि के देखने में सहायता देते रहे।

अन्त में हम अपने आसन्नोपकारी स्वर्गीय आचार्य श्री के पट्टधर परमपूज्य आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी महाराज की असीम कृपा के सब से अधिक आभारी हैं। आप श्री के अमोघ आशीर्वाद के प्रभाव से ही हम इस महान् कार्य को निर्विघ्न समाप्त करने में सफल हुए हैं। तथा आप श्री की पुनीत सेवा में श्री रामचंद्र जी के प्रति कही हुई हनुमान की—

शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गंतुं परिश्रमः।
यदयं लंघितोऽम्भोधिः प्रभावस्ते रघूत्तम !॥

इस उक्ति को दोहराते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्पादन संबन्धी आई हुई त्रुटियों के लिये पुनः क्षमा मांगते हैं।

लाहौर
फाल्गुन शु० १०
सं० १९९२

विनीत
हंसयुगल

महाराज साहिब की भाषा

बोल चाले की भाषा

महाराज जी के पूर्वज चिर काल मे पिण्डदादनखां (ज़िला जेहलम) में निवास करते थे * । उन के माता पिता का जन्म इसी प्रदेश में हुआ था, अतः दृढ़ अनुमान है कि वे यहां की ही भाषा बोलते होंगे । सर् जार्ज ग्रियर्सन् की जांच के अनुसार इस प्रदेश की भाषा एक प्रकार की लहन्दी है † । जिस की कुछ विशेषताएं नीचे दी जाती हैं । महाराज जी के जन्म से कुछ समय पहले उन के माता पिता सरकारी नौकरी के कारण हरी के पत्तन में आ रहे थे, और रिटायर होने पर वहीं रहने लगे । कुछ काल के पश्चात् जीरा के निकट लहरा ग्राम (ज़िला फीरोज़पुर) में आ रहे, जहां महाराज जी का जन्म हुआ * । यहां की भाषा मालवई पञ्जाबी है § । महाराज का शैशव काल लहरा ग्राम में ही बीता, वहीं उन का भरण पोषण हुआ । इस से हम कह सकते हैं कि दीक्षा लेने के पूर्व महाराज जी दो भाषाएं बोलते होंगे-घर में माता पिता के साथ लहन्दी और गांव

* देखिये—"तत्त्वनिर्णयप्रासाद"–जीवन चरित, पृ० ३३-३४

† देखिये—सर् जार्ज ग्रियर्सन् द्वारा सम्पादित, "लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया" पुस्तक ८, भाग १ ।

§ देखिये—लिंग्विस्टिक....पृ० ६, भाग १ ।

में लोगों के साथ मालवई।

दीक्षा लेने के पश्चात् पञ्जाबी श्रावकों के साथ पञ्जाबी भाषा में बातचीत करते होंगे जिस में कुछ झलक लहन्दी की पड़ती होगी। अन्य देश वासियों के साथ मिश्रित हिंदी में बात चीत करते होंगे, जिस में उन्हों ने जैनतत्त्वादर्श की रचना की।

लहन्दी और पंजाबी की कुछ विशेषताएं *

(१) वर्गीय चतुर्थ अक्षरों का लहन्दी उच्चारण हिंदी उच्चारण से कुछ ही भिन्न है, अर्थात् लहन्दी में इन के उच्चारण में हिन्दी की अपेक्षा महाप्राणता की कुछ थोडी है। परन्तु पंजाबी में महाप्राणता का और साथ ही घोषता का सर्वथा अभाव है। शब्द के आदि में आने वाले चतुर्थ अक्षर के स्थान में प्रथम अक्षर (अघोष, अल्पप्राण) बोल कर आगे आने वाला स्वर पांच छः श्रुतियें नीचे सुर में बोला जाता है। शब्द के मध्य या अन्त में केवल महाप्राणता का लोप होता है, घोषता बनी रहती है।

(२) संस्कृत प्राकृत के संयुक्त अक्षर के पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर हिंदी में दीर्घ हो जाता है, परन्तु लहन्दी और पंजाबी में ह्रस्व ही रहता है। जैसे—

* विशेष वर्णन के लिये देखिये लिंग्विस्टिक सर्वे की पूर्वोक्त पुस्तकें।

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
अष्ट	अट्ठ	आठ	अट्ठ	अट्ठ
शिक्षा	सिक्खा	सीख	सिक्ख	सिक्ख
दुग्ध	दुद्ध	दूध	दुद्ध	दुद्ध
		इत्यादि	(उच्चारण दुद्द उ उच्चस्वर)	

(३) संस्कृत का 'त्र' हिंदी, पंजाबी में 'त' 'त्त' परन्तु लहन्दी में त्र रहता है।

संस्कृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
त्रयः त्रीणि	तीन	त्रै	तिन्न
त्रुट्यते	टूटना	त्रुट्टणा	टुट्टना
पुत्र	पूत	पुत्तर	पुत्त

(४) लहन्दी में भविष्य काल के प्रत्यय सी, सां आदि होते हैं।

जैसे—हिंदी—करेगा, करूंगा, आदि

लहन्दी—करसी, करसां ,,

पंजाबी—करूगा, करांगा ,,

साहित्यिक भाषा

प्रायः प्रत्येक लिखे पढ़े व्यक्ति की कम से कम दो भाषाएं हुआ करती हैं—१. बोल चाल की साधारण भाषा, २. लिखने पढ़ने की साहित्यिक भाषा। इन में परिस्थिति

(शिक्षा आदि) के अनुसार कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है। महाराज साहिब की साधारण भाषा पर विचार हो चुका है। उन की साहित्यिक भाषा जिस में वे ग्रंथ रचना करते थे, एक प्रकार की मिश्रित हिंदी थी, जिस में मारवाड़ी ढुंढारी आदि का कुछ २ मिश्रण था *। ऐसा होने के मुख्य कारण ये हैं:—

(१) महाराज साहिब के समय में हिंदी का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और न ही इस ने कोई निश्चित रूप धारण किया था। अंग्रेजी राज्य के स्थापन होने से पहले हिंदी की यह दशा थी कि कविता के लिये ब्रज और अवधी का प्रयोग होता था और गद्य लिखने के लिये प्रान्तीय भाषाओं का अथवा प्रान्तीय मिश्रित हिंदुस्तानी का, क्योंकि मुसलमानों ने हिंदुस्तानी का दूर २ प्रचार कर दिया था। अधुनिक

* १. जैनियों की मिश्रित भाषा के लिये देखिये—"माधुरी" सं० १९८१ भाद्र० पृ० २११—१३; आश्विन पृ० ३२५—३० जहां कई उदाहरण दिए गए हैं।

२. महाराज जी के "नवतत्त्व" (रचना सं० १९२७) के संपादक (सन् १९२१) अपनी उपोद्घात में लिखते हैं—"आ ग्रंथ नी मुख्य भाषा हिंदी गणाय जो के केटलीक वार संस्कृत, प्राकृत अने गुजराती प्रयोगो एमां दृष्टिगोचर थाय छे; कोइक वेला तो पंजाबी शब्दो पण नजर पडे छे":

हिंदी या 'खड़ी बोली' जिस में आजकल उपन्यास, गल्प, नाटक आदि लिखे जाते हैं, तथा जो पत्र पत्रिकाओं में व्यवहृत होती है, का जन्म आज से कोई डेढ सौ बरस पहले हुआ। इस ने निश्चित और परिच्छिन्न रूप तो अभी बीसवीं सदी में धारण किया है।

(२) तीस चालीस बरस पहले यू० पी०, पंजाब और मारवाड़ में साधु महात्मा अपना उपदेश हिंदुस्तानी भाषा में देते थे, जिस में वे अपनी रुचि या परिस्थिति (शिक्षा, भ्रमण, देश, परिषदा आदि) के अनुसार दूसरी भाषाओं का मिश्रण कर देते थे। जब कभी उन को गद्य लिखना होता था तो भी वे इसी भाषा में लिखते थे। शिक्षा के प्रचार से अब इस प्रकार की मिश्रित हिंदी का व्यवहार घटता जाता है।

(३) महाराज साहिब ने प्रारम्भिक शिक्षा पंजाब में पाई थी परन्तु उच्च शिक्षा के लिये उन्हें जयपुर, आगरा अजमेर, जोधपुर आदि नगरों में देर तक रहना पड़ा *। श्वेताम्बर संप्रदाय का ज़ोर मारवाड़ गुजरात में होने से अन्य देशों में रहने वाले श्वेताम्बर जैनों की भाषा में भी गुजराती मारवाडी के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं।

---

* देखिये—तत्त्वनिर्णय प्रासाद—जीवन चरित—पृ० ४०—४६

यद्यपि महाराज जी के ग्रंथों (विशेष कर जैनतत्त्वादर्श) की भाषा मिश्रित हिन्दी है, तथापि इस में साहित्यिक भाषा के सब गुण विद्यमान हैं। इस में सूक्ष्म से सूक्ष्म और गूढ़ से गूढ़ शास्त्रीय अर्थ प्रकट करने की पूर्ण क्षमता है। महाराज जी की गद्य लिखने की शैली अति गम्भीर और परिपक्व है। यह शिथिलता, विषमता आदि दोषों से रहित है।

व्याख्यान की भाषा।

मेरा अनुमान है कि जिस भाषा में महाराज साहिब ने जैनतत्त्वादर्श ग्रन्थ की रचना की थी, उसी में वे अपना उपदेश भी देते होंगे। जैनतत्त्वादर्श के प्रथम संस्करण की भाषा में कई ऐसी विशेषताएं हैं, जो इस अनुमान को पुष्ट करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात और मारवाड़ में विचरते हुए वे यही भाषा बोलते होंगे और वहां भी इसी में उपदेश करते होंगे। यह भाषा समस्त आर्यावर्त्त में धर्मोपदेश के लिये उपयोगी है। अब भी बहुत से ऐसे उपदेशक हैं, जो अपने श्रोतागण की आसानी के लिये इसी प्रकार की मिश्रित हिन्दी में उपदेश करते हैं।

कविता की भाषा।

महाराज साहिब ने अपनी कविता ब्रजभाषा में की है परन्तु इस में भी कहीं २ पंजाबी, मारवाड़ी और गुजराती

के प्रयोग दिखाई देते हैं । इन की पद्यरचना में भावुकता और भक्ति का स्रोत बहता है । जहां तहां उचित अलं-कारों का प्रयोग किया गया गया है । "द्वादश भावना" में अनुप्रास ने वैराग्य रस का पोषक हो कर खूब ही रंग बांधा है । "चतुर्विंशतिस्तवन" में करुणा, विलाप और प्रभु भक्ति कूट २ भरी है । उदाहरण के लिये श्री नमि-नाथस्तवन को देखिये—

तारो जी मेरे जिनवर साईं, बांह पकड़ कर मोरी ।
कुगुरु कुपन्थ फन्द थी निकसी, सरण गही अब तोरी ॥ ता०॥१॥
नित्य अनादि निगोद में रुलतां, झुलतां भवोदधि मांही ।
पृथ्वी अप तेज वात सरूपी, हरितकाय दुख पाई ॥ ता० ॥२॥
बितिचउरिन्द्री जात भयानक, संख्या दुख की न काई ।
हीन दीन भयो परबस परके, ऐसे जनम गमाई ॥ ता० ॥३॥
मनुज अनारज कुल में उपनो, तोरी खबर न काई ।
ज्यूं त्यूं कर अब मग प्रभु परख्यो, अब क्यों वेर लगाई ॥ ता०॥४॥
तुम गुण कमल भमर मन मेरो, उड़त नहीं है उड़ाई ।
तृषित मनुज अमृतरस चाखी, रुच से तृपत बुझाई ॥ ता०॥५॥
भवसागर की पीर हरो सब, मेहर करो जिन राई ।
दृग करुणा की मोह पर कीजो, लीजो चरण छुहाई ॥ ता०॥६॥
विप्रानन्दन जग दुख कन्दन, भगत वछल सुखदाई ।
आतमराम रमण जगस्वामी, कामत फल वरदाई ॥ ता०॥७॥

जब महाराज साहिब इस को अपने मधुर स्वर से गाते

होंगे तो सुनने वालों के हृदय में भक्ति रस की बिजली दौड़ जाती होगी और उन की आंखों से प्रेम के आंसुओं की धारा बह निकलती होगी।

महाराज जी की साहित्यिक भाषा की कुछ विशेषताएं।

१. वर्णविन्यास की विषमता। एक ही शब्द भिन्न २ प्रकार से लिखा गया है। जैसे—

सडसठ, सट्सठ (जैन० पृ० १२४)
बिश्वा, वीश्वा = बिसवा (जैन० पृ० ३१९)
बहुत, बहूत (जैन० पृ० ३२१)
कीड़ीयों (पृ० ११५), बिमारीयां (पृ० ३२२)
इत्यादि।

२. अनुस्वार का अनावश्यक प्रयोग। जैसे—कहनां (पृ० १२३)। इसी प्रकार से, कों आदि में—

३ कान्त-रूपों में 'यश्रुति'। जैसे—सज्या (पृ० ३२१), बह्या (सुशीलकृत 'विजयानन्द सूरि' में पत्र का फोटो, पंक्ति ६) इत्यादि।

४. कारकाव्यय। कूं, कुं, कों, सुं, सें, सों, इत्यादि।

५. मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग। यह मारवाड़ी या पंजाबी के प्रभाव का फल है। जैसे—करणे (पृ० २१७), हरणें, करणी, अपणा (पृ० ३१६)।

६. प्रयोग की विषमता। जैसे—पुत्र के शरीर में कीड़े आदि जीव उत्पन्न होवे (पृ० ३१९), यहां "होवें" के स्थान में "होवे"। इत्यादि।

ओरियण्टल कालेज
लाहौर
फाल्गुन शुक्ला० ११, सं० १९९२

बनारसीदास जैन

नोट—पूर्वोक्त विशेषताएं भाषा के दोष नहीं कहे जा सकते। इन से यह सिद्ध होता है कि अभी हिन्दी ने निश्चित रूप धारण नहीं किया था। इस प्रकार की विशेषताएं उस समय के अन्य लेखकों में भी पाई जाती हैं।

ग्रंथसङ्केतसूची

—:०:—

अन्य० व्य०=अन्ययोगव्यवच्छेदिका

अभि० चि०=अभिधानचिन्तामणि

अभि० रा०=अभिधानराजेन्द्र

आ० चतु० स्त०=आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव

आ० नि० हारि० टी० अधि०=आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्री टीका अधिकार

आ० मी०=आप्तमीमांसा

आश्व० गृ० सू०=आश्वलायन गृह्यसूत्र

उप० तरं० तरं०=उपदेशतरंगिणी तरंग

ऋग्० मं०=ऋग्वेद मण्डल

ऐत० उ०=ऐतरेय उपनिषद्

ओ० नि० भा०=ओघनिर्युक्ति भाष्य

औप० सू०=औपपातिक सूत्र

कर्म० (हिं)=कर्मग्रन्थ (हिंदी)

गुण० क्रमा०=गुणस्थानक्रमारोह

छां० उ०=छांदोग्य उपनिषद्

ठा० सू०=ठाणांगसूत्र

तत्त्वा० अ०=तत्त्वार्थसूत्र अध्याय
तै० उ०=तैत्तिरीय उपनिषद्
दशवै० नि०=दशवैकालिकनिर्युक्ति
द्वा० द्वा०=द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
न्या० द० अ० आ०=न्यायदर्शन अध्याय, आह्निक
नं० सू० टीका जीव० सि०=नन्दी सूत्र टीका जीव सिद्धि (प्रकरण)
पं० लिं०=पंचलिंगी
पंचा० प्रतिमाधि०=पंचाशक प्रतिमाधिकार
पं० नि०=पंचनिर्ग्रन्थी
पिंड० नि०=पिंडनिर्युक्ति
प्रव० सा०=प्रवचनसारोद्धार
प्रज्ञा० सू०=प्रज्ञापनासूत्र
भ० गी०=भगवद्गीता
भक्ता० स्तो०=भक्तामर स्तोत्र
भग० सू०=भगवती सूत्र
म० स्मृ०=मनुस्मृति
मीमांसा श्लो० वा०=मीमांसाश्लोकवार्तिक
या० व० स्मृ०=याज्ञवल्क्य स्मृति
यो० शा०=योगशास्त्र
वाल्मी० रा०=वाल्मीकि रामायण
श० ब्रा०=शतपथ ब्राह्मण

शं० वि० प्र०=शंकरविजय प्रकरण

शा० स० स्त०=शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तबक

श्रा० दि०=श्राद्धदिनकृत्य

श्वेता० उप०=श्वेताश्वतर उपनिषद्

श्लो० वा० निरा० वा०=श्लोकवार्तिक निरालम्बनवाद

षड्० स०=षड्दर्शनसमुच्चय

षड्० स० बृ० वृ०=षड्दर्शनसमुच्चय-बृहद्वृत्ति

समवा० सू०=समवायांग सूत्र

सं० त० टी०=सम्मतितर्क टीका

स्या० म०=स्याद्वादमञ्जरी

स्या० रत्ना० परि०=स्याद्वादरत्नाकरावतारिका परिच्छेद

सां० स० का०=सांख्यसप्तति कारिका

स्थानां० स्था०=स्थानाङ्गसूत्र, स्थान

सां० का० मा० वृ०=सांख्यकारिका माठरवृत्ति

सू० कृ० श्रु०=सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध

सि० है०=सिद्धहैम



विषयानुक्रमणिका



प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

विषय | पृष्ठ

षष्ठ परिच्छेद



* ॐ नमः स्याद्वादवादिने *

न्यायाम्भोनिधिजैनाचार्य

श्री विजयानन्द सूरीश्वर (प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी) विरचित

जैनतत्त्वादर्श

पूर्वार्द्ध

प्रथम परिच्छेद

स्यात्कारमुद्रितानेक-सदसद्भाववेदिनम् ।
प्रमाणरूपमव्यक्तं भगवन्तमुपास्महे ॥

देव, गुरु और धर्म तत्त्व का स्वरूप ।

प्राक्कथन

विदित हो कि जो यह * जैनमत है, तिसका स्वरूप श्री तीर्थंकर, गणधर और पूर्वाचार्यादिकों ने आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका और प्रकरण तर्कादि अनेक ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट † निष्टंकन किया है। परन्तु पूर्वाचार्यरचित सर्व ग्रन्थ

---

* जैन धर्म । † निर्णय ।

प्राकृत वा संस्कृत भाषा में हैं। सो अब जैन लोगों के पढ़ने में उद्यम के न करने से उन अति उत्तम अद्भुत ग्रन्थों का आशय लुप्तप्राय हो रहा है। सो कितनेक भव्य जीवों की प्रेरणा से तथा स्वकर्मनिर्जरा के आशय से, जिनको प्राकृत वा संस्कृत पढ़नी कठिन है, तिनों के उपकारार्थ देव, गुरु और धर्म का स्वरूप किञ्चित् मात्र इस भाषाग्रन्थ में लिखते हैं।

सर्व श्रीसंघ से नम्रतापूर्वक यह विनति है, कि जो इस ग्रन्थ को पढ़ें, सो जहां मैं ने जिन मार्ग से विरुद्ध लिखा हो, तहां यथार्थ लिख देवें। यह मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह होगा। इस ग्रन्थ के लिखने का मेरा मुख्य प्रयोजन तो यह है, कि जो इस काल में बहुत नवीन मत लोकों ने स्वकपोलकल्पित प्रगट करे हैं तथा * अङ्गरेज़ों की और मुसलमानों की विद्या पढ़ने से तथा अनेक प्रकार के मत मतान्तरों की बातें सुनने से, अनेक भव्यजीवों को अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हो रहे हैं; तिन के दूर करने के वास्ते इस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है।

* पाठकों को इस बात का ध्यान रहे, कि इस लेख से स्वर्गीय आचार्य श्री जी अंग्रजी तथा अरबी वा फारसी के पठन पाठन का निषेध नहीं करते हैं। उनका आशय यही है, कि उक्त भाषाओं के अभ्यासियों के लिये उचित है, कि वे अपने धार्मिक विचार सुरक्षित रक्खें और भारतीय संस्कृति व सभ्यता का तिरस्कार करने की धृष्टता न करें।

अब पूर्वोक्त तीनों तत्त्वों में से प्रथम देवतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—देव नाम परमेश्वर का है। सो परमेश्वर के स्वरूप में अनेक प्रकार के विकल्प मतान्तरीय पुरुष करते हैं, सो जैनमत में परमेश्वर का क्या स्वरूप मान्या है, तिस परमेश्वर का स्वरूप, नाम, रूप और विशेषण संयुक्त लिखते हैं। जैनमत में जो परमेश्वर मान्या है, सो बारह गुण संयुक्त और अष्टादश दूषण रहित अर्हन्त परमेश्वर है और जो परमेश्वर उक्त बारह गुण रहित तथा अष्टादश दूषण सहित होगा तिस में कदापि परमेश्वरता सिद्ध नहीं होगी। यह कथन आगे चलकर लिखेंगे।

देव-अरिहंत के बारह गुण

अब प्रथम बारह गुण लिखते हैं * अशोकवृक्षादि अष्ट † महाप्रातिहार्य (सर्व जैन लोगों में प्रसिद्ध हैं) तथा चार मूलातिशय एवं सर्व बारह गुण हैं तिस में चार मूलातिशय का नाम कहते हैं—१. ज्ञानातिशय २. वागतिशय ३. अपायापगमातिशय ४. पूजातिशय। तत्र प्रथम ज्ञानातिशय

* अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

अर्थ—१. अशोकवृक्ष, २. देवों द्वारा फूलों की वर्षा, ३. दिव्य ध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. दुन्दुभि ८. छत्र—यह जिनेश्वर के आठ प्रातिहार्य हैं।

† प्रातिहार्य शब्द की व्युत्पत्तिः—

'प्रतिहारा इन्द्रवचनानुसारिणो देवास्तैः कृतानि प्रातिहार्याणि'—इन्द्र

का स्वरूप कहे हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन करी भूत, भविष्य, वर्तमान काल में जो सामान्य विशेषात्मक वस्तु है, तिसको तथा * "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"—त्रिकालसम्बन्धी जो सत् वस्तु का जानना तिसका नाम ज्ञानातिशय है। दूजा वचनातिशय—तिसमें भगवन्त का वचन पैंतीस अतिशय करी संयुक्त होता है। तिन पैंतीस अतिशयों का स्वरूप ऐसा है १. †"संस्कारवत्त्वम्"-संस्कृतादि लक्षणयुक्त,२. ‡"औदात्यम्"-शब्द में उच्चपना, ३. §"उपचारपरीतता"—अग्राम्यत्वम्—ग्राम के रहने हारे पुरुष के वचन समान जिनों का वचन नहीं, ४. "मेघगम्भीर-घोषत्वम्"-मेघकी तरें गम्भीर शब्द,५.॥"प्रतिनादविधायिता"-

के आदेश का अनुसरण करने वाले देव 'प्रतिहार' कहलाते हैं, उन देवों से किये गए भक्तिरूप कृत्य विशेष को प्रातिहार्य कहते है।

* यह तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का ५-२९ सूत्र है, जिस का अर्थ इस प्रकार है—

जो उत्पत्ति विनाश तथा स्थिति युक्त है उसे सत्-पदार्थ कहते हैं।

† संस्कारादि युक्त वचन अर्थात् जिस वचन में भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष न हो।

‡ जिस में शब्द और अर्थ विषयक गम्भीरता होती है।

§ ग्रामीणता दोष से रहित होना।

॥ अभिधान चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में ऐसा अर्थ उपलब्ध होता है—'प्रतिरवोपेतता'—प्रतिध्वनि से युक्त अर्थात् चारों ओर दूर तक गूंजने वाला। नाद शब्द का अर्थ वाद्य-वादित्र भी है। अतः उपर्युक्त अर्थ भी संगत ही है।

सर्व वाजित्रों के साथ मिलता शब्द, ६. "दक्षिणत्वम्"—सरलता संयुक्त, ७. *"उपनीतरागत्वम्"—मालव, कौशिक्यादि ग्राम, राग संयुक्त। ए सात अतिशय तो शब्द की अपेक्षा से जानना और अन्य अतिशय जो हैं सो अर्थाश्रय जानना। ८. "महार्थता"—बड़ा—मोटा-जिसमें अभिधेय अर्थात् कहने योग्य अर्थ है, ९. "अव्याहतत्वम्"—पूर्वापर विरोध रहित, १०. †"शिष्टत्वम्"—अभिमतसिद्धान्तोक्तार्थता—एतावता अभिमत सिद्धान्त जो कहना सोइ वक्ता के शिष्टपने का सूचक है, ११. "संशयानामसंभवः"—जिनों के कहने में श्रोता को संशय नहीं होता, १२. "निराकृताऽन्योत्तरत्वम्"—जिनों के कथन में कोई भी दूषण नहीं अर्थात् न तो श्रोता को शंका उत्पन्न होवे न भगवान दूसरी वार उत्तर देवें, १३. "हृदयंगमता"—हृदय ग्राह्यत्व-हृदय में ग्रहण करने योग्य, १४. "मिथःसाकांक्षता"—परस्पर-आपस में पद वाक्यों का सापेक्षपना, १५. §"प्रस्तावौचित्यम्"—देशकाल करके रहितपना नहीं १६. ‡"तत्त्वनिष्ठता"—विवक्षित वस्तु के स्वरूपानुसारिपना, १७.

* जिसमें शुद्ध संगीत की प्रधानता होती है।

† अभिमत सिद्धान्त को कहने वाला, अर्थात् अभिमत सिद्धान्त का प्रतिपादन करना ही वक्ता की शिष्टता का सूचक है।

§ जो देशकाल के अनुसार हो।

‡ विवक्षित विषय के अनुकूल होता है अर्थात् अप्रासङ्गिक नहीं होता।

*"अप्रकीर्णप्रसृतत्त्वम्"–सुसम्बद्ध होकर प्रसरना अथवा जिस में असंबद्धाधिकार तथा अतिविस्तार नहीं, १८."अस्वश्लाघान्यनिन्दता"—आत्मोत्कर्ष तथा परनिन्दा करके वर्जित, १९. "आभिजात्यम्"—प्रतिपाद्य वस्तु की भूमिकानुसारिपना, २०. §"अतिस्निग्धमधुरत्वम्"—घृत गुडादिवत् सुखकारी, २१. "प्रशस्यता" ऊपर कहे जो गुण तिनकी योग्यता से प्राप्त हुई है श्लाघा जिसे २२. "अमर्मवेधिता"-परके मर्मका जिसमें उघाड़ना नहीं है, २३. "औदार्यम्"—जिसमें अभिधेय अर्थ का तुच्छपना नहीं. २४. "धर्मार्थप्रतिबद्धता"—धर्म और अर्थ करके संयुक्त २५. "कारकाद्यविपर्यासः"—जिसमें कारक, काल, वचन और लिङ्गादि का विपर्यय नहीं, २६. "विभ्रमादिवियुक्तता"–विभ्रमवक्ता के मन की भ्रान्ति तथा विक्षेपादि दोष रहितपना २७. "चित्रकृत्त्वम्"-उत्पन्न करा है अच्छिन्न (निरन्तर) कौतूहलपना जिसने २८. "अद्भुतत्वम्"—अद्भुतपना २९. "अनतिविलम्बिता"-अतिविलम्बरहितपना, ३०. ‡"अनेकजातिवैचित्र्यम्"–जातियां-वर्णन करने योग्य वस्तु स्वरूप वर्णन—उनों का आश्रय ३१. "आरोपितविशेषता"—वचनान्तर की अपेक्षा करके स्थापन किया गया विशेषपना, ३२. "सत्त्वप्रधानता"–

---

* जो सुसम्बद्ध होकर फैलता है अथवा जिसमे असम्बद्ध अधिकार और अतिविस्तार का अभाव होता है।

§ जो मृदु और मधुर होता है।

‡ जिसमें विविध वर्णनीय विषयों का निरूपण होता है।

साहसकारी वर्णन संयुक्त, ३३. * "वर्णपदवाक्यविविक्तता"। वर्णादिकों का विच्छिन्नपना, ३४ § "अव्युच्छित्तिः"—विवक्षितार्थ की सम्यक् सिद्धि जहां लग न होवे तहां ताईं अव्यवच्छिन्न वचन का प्रमेयपना, ३५. "अखेदित्वम्"–थकेवां–थकावट रहित। यह भगवंत के दूसरे वचनातिशय के पैंतीस भेद हैं। तीसरा "अपायापगमातिशय"—एतावता उपद्रव निवारक अतिशय है। और चौथा पूजातिशय अर्थात् भगवान् तीन लोक के पूजनीक हैं। इन दोनों अतिशयों के विस्तार रूप चौंतीस अतिशय होते हैं, सो लिखते हैं:—

चौंतीस अतिशय

१. तीर्थङ्कर भगवान् की देह का रूप और सुगन्ध सर्वोत्कृष्ट और देह रोग रहित तथा पसीना और मल करी वर्जित है, २. श्वास निःश्वास पद्म–कमल की तरें सुगन्धवाला, ३. रुधिर और मांस गोदुग्धवत् उज्ज्वल, ४. आहार नीहार की विधि चर्मचक्षुवाले को नहीं दीखे। ए चार अतिशय जन्म से ही साथ होते हैं। १. एक योजन प्रमाण ही समवसरण का क्षेत्र है, परन्तु तिसमें देवता, मनुष्य, और तिर्यञ्च की कोटाकोटि भी समाय सकती है अर्थात् भीड़ नहीं होती, २. वाणी–भाषा †अर्धमागधी देवता,

* जिसमें वर्ण, पद तथा वाक्य अलग अलग रहते हैं।

§ जिसका प्रवाह विवक्षितार्थ की सिद्धि पर्यन्त जारी रहे।

† तीर्थङ्कर भगवान् जिस भाषा में उपदेश देते हैं, उसका नाम अर्धमागधी भाषा है। विशेष स्वरूप के लिये देखो परिशिष्ट नं० १–क।

मनुष्य, तिर्यञ्च को अपनी अपनी भाषापने परिणमती है, और एक योजन में सुनाई देती है ३. प्रभामंडल—मस्तक के पीछे सूर्य के बिम्ब की मानो विडम्बना करता है अपनी शोभा करके, ऐसा मनोहर भामंडल शोभे है, ४. साढे पच्चीस योजन प्रमाण चारों पासे उपद्रवरूप ज्वरादि रोग न होवें, ५. वैर—परस्पर विरोध न होवे, ६. ईति—धान्याद्युपद्रवकारी घणे मूषकादि न होवें, ७. मारिमरी का उपद्रव न होवे, ८. अतिवृष्टि—निरन्तर वर्षण न होवे, ९. अवृष्टि—वर्षण का अभाव न होवे, १०. दुर्भिक्ष न होवे, ११. स्वचक्र परचक्र का भय न होवे । ए ग्यारां अतिशय * ज्ञानावरणीय आदि चार घाती कर्मों के क्षय होने से उत्पन्न होते हैं । १. आकाश में धर्म—प्रकाशक चक्र होता है, २. आकाश गत चामर, ३. आकाश में पादपीठ सहित स्फटिकमय सिंहासन होता है, ४. आकाश में तीन छत्र, ५. आकाश में रत्नमय ध्वजा, ६. जब भगवान् चलते हैं, तब पग के हेठ सुवर्णकमल देवता रच देते हैं । ७. समवसरण में रत्न, सुवर्ण और रूपामय तीन मनोहर कोट होते हैं, ८. समवसरण में प्रभु के चार मुख दीखते हैं, ९. अशोक वृक्ष छाया करता है, १०. कांटे अधो मुख हो जाते हैं, ११. वृक्ष ऐसे नम्रित होते हैं, मानो नमस्कार करते हों, १२. उच्चनाद

* ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म आत्मा के विशेष गुणों का घात करते है, इस लिए यह घाती कर्म कहे जाते हैं ।

से दुन्दुभि भुवनव्यापक नादध्वनि करता है, १३. पवन सुखदाई चलता है १४. पक्षी प्रदक्षिणा देते हैं, १५. सुगन्धमय पानी की वर्षा होती है, १६. गोडे प्रमाण पंच वर्ण के फूलों की वर्षा होती है, १७. केश, दाढी, मूंछ नख अवस्थित रहते हैं, १८. चार प्रकार के देवता जघन्य से जघन्य भगवंत के पास एक कोटी होते हैं, १९. षड्ऋतु अनुकूल होती हैं—एतावता उनके स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द ए पांचों बुरे तो लुप्त हो जाते हैं और अच्छे प्रगट हो जाते हैं। ए ओगणीश अतिशय देवता करते हैं। मतान्तर तथा वाचनान्तर में कोई कोई अतिशय अन्य प्रकार से भी हैं। ए पूर्वोक्त चार मूलातिशय और आठ प्रातिहार्य एवं बारां गुणों करी विराजमान अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर है। और अठारह दूषण करके रहित है। सो अठारह दूषणों के नाम दो श्लोक करके लिखते हैं:—

अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी॥

[अभि० चि० का० १, श्लो० ७२-७३]

इन दोनों श्लोकों का अर्थः—१. "दान देने में *अन्तराय"

* जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग रूप

२. "लाभगत अन्तराय" ३. "वीर्यगत अन्तराय" ४. जो एक बेरी भोगिये सो भोग-पुष्पमालादि, तद्गत जो अंतराय सो "भोगान्तराय," ५. जो बार बार भोगने में आवे सो उपभोग-स्त्री आदि, घर आदि, कंकण कुण्डलादि, तद्गत जो अन्तराय सो "उपभोगान्तराय," ६. "हास्य"-हसना, ७. "रति"-पदार्थों के ऊपर प्रीति, ८. "अरति"-रति से विपरीत सो अरति, ९. "भय"-सप्त प्रकार का भय, १०. "जुगुप्सा"-घृणा-मलीन वस्तु को देखकर नाक चढ़ाना, ११. "शोक" चित्त का विकलपना,

---

शक्तियों का घात करता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। उसके दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय ये पांच भेद हैं।

(१) दान की सामग्री उपस्थित हो, गुणवान् पात्र का योग हो और दान का फल ज्ञात हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता वह "दानान्तराय" है।

(२) दाता उदार हो, दान की वस्तु उपस्थित हो, याचना में कुशलता हो तो भी जिस कर्म के उदय से याचक को लाभ न हो सके वह लाभान्तराय है। अथवा योग्य सामग्री के रहते हुवे भी जिस कर्म के उदय से जीवको अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, उसको "लाभान्तराय" कहते हैं।

(३) वीर्य का अर्थ सामर्थ्य है। बलवान् हो, नीरोग हो और युवा भी हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृण को भी टेढ़ा न कर सके वह "वीर्यान्तराय" है।

१२. "काम"–मन्मथ–स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों का वेद-विकार, १३. "मिथ्यात्व"–दर्शन मोह–विपरीत श्रद्धान, १४. "अज्ञान"-मूढपनां, १५. "निद्रा"–सोना, १६. "अविरति"–प्रत्याख्यान से रहित पना, १७. "राग"–पूर्व सुखों का स्मरण और पूर्व सुख वा तिसके साधन में गृद्धिपना, १८. "द्वेष"–पूर्व दुःखों का स्मरण और पूर्व दुःख वा तिसके साधन विषय क्रोध। यह अठारह दूषण जिनमें नहीं सो अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर है। इन अठारह दूषण में से एक भी दूषण जिसमें होगा सो कभी भी अर्हन्त भगवंत परमेश्वर नहीं हो सकता।

अठारह दोषों की मीमांसा

प्रश्न:—दानान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर दान देता है ? अरु लाभांतराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर को लाभ होता है ? तथा वीर्यान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर शक्ति दिखलाता है ? तथा भोगान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर भोग करता है ? उपभोगान्तराय के नष्ट

(४) भोग के साधन मौजूद हों, वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं को भोग न सके वह "भोगान्तराय" है।

(५) उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न कर सके वह "उपभोगान्तराय" है।

होने से-क्षय होने से क्या परमेश्वर उपभोग करता है ?

उत्तर—पूर्वोक्त पांचों विघ्नों के क्षय होने से भगवन्त में पूर्ण पांच शक्तियां प्रगट होती हैं । जैसे—निर्मल चक्षु में पटलादिक बाधकों के नष्ट होने से देखने की शक्ति प्रगट होजाती है, चाहे देखे चाहे न देखे, परन्तु शक्ति विद्यमान है । जो पांच शक्तियों से रहित होगा वह परमेश्वर कैसे हो सकता है ?

छठा दूषण "हास्य" है-जो हँसना आता है सो अपूर्व वस्तु के देखने से वा अपूर्व वस्तु के सुनने से वा अपूर्व आश्चर्य के अनुभव के स्मरण से आता है । इत्यादिक हास्य के निमित्त कारण हैं तथा हास्यरूप मोहकर्म की प्रकृति उपादान कारण है । सो ए दोनों ही कारण अर्हन्त भगवन्त में नहीं हैं । प्रथम निमित्त कारण का संभव कैसे होवे ? क्योंकि अर्हन्त भगवन्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, उनके ज्ञान में कोई अपूर्व ऐसी वस्तु नहीं जिसके देखे, सुने, अनुभवे आश्चर्य होवे । इससे कोई भी हास्य का निमित्त कारण नहीं । और मोह कर्म तो अर्हन्त भगवन्त ने सर्वथा क्षय कर दिया है, सो उपादान कारण क्योंकर संभवे ? इस हेतु से अर्हन्त में हास्यरूप दूषण नहीं । और जो हसनशील होगा सो अवश्य असर्वज्ञ, असर्वदर्शी और मोहकर्म संयुक्त होगा । सो परमेश्वर कैसे होवे ?

सातवां दूषण "रति" है—जिसकी प्रीति पदार्थों के ऊपर होगी सो अवश्य सुन्दर शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श स्त्री

आदि के ऊपर प्रीतिमान होगा । जो प्रीतिमान होगा सो अवश्य उस पदार्थ की लालसा वाला होगा, अरु जो लालसा वाला होगा सो अवश्य उस पदार्थ की अप्राप्ति से दुःखी होगा । वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे हो सकता है ?

आठवां दूषण "अरति" है—जिसकी पदार्थों के ऊपर अप्रीति होगी, सो तो आपही अप्रीतिरूप दुःखकरी दुःखी है । सो अर्हन्त भगवन्त कैसे हो सके ?

नववां दूषण "भय" है—सो जिसने अपना ही भय दूर नहीं किया वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे होवे ?

दशवां दूषण "जुगुप्सा" है—सो मलीन वस्तु को देखके घृणा करनी—नाक चढ़ानी, सो परमेश्वर के ज्ञान में सर्व-वस्तु का भासन होता है । जो परमेश्वर में जुगुप्सा होवे तो बड़ा दुःख होवे । इस कारण ते जुगुप्सामान अर्हन्त भगवन्त कैसे होवे ?

ग्यारवां दूषण "शोक" है—सो जो आपही शोक वाला है सो परमेश्वर नहीं ।

बारवां दूषण "काम" है—सो जो आपही विषयी है, स्त्रियों के साथ भोग करता है, तिस विषयाभिलाषी को कौन बुद्धि-मान पुरुष परमेश्वर मान सकता है ?

तेरवां दूषण "मिथ्यात्व" है—सो जो दर्शनमोहकरी लिप्त है सो भगवन्त नहीं ।

चौदवां दूषण "अज्ञान" है—सो जो आपही मूढ है सो अर्हन्त भगवन्त कैसे ?

पंद्ररवां दूषण "निद्रा" है-सो जो निद्रा में होता है, सो निद्रा में कुछ नहीं जानता और अर्हन्त भगवान तो सदा सर्वज्ञ है, सो निद्रावान् कैसे होवे ?

सोलवां दूषण "अप्रत्याख्यान" है—सो जो प्रत्याख्यान रहित है वोह सर्वाभिलाषी है सो तृष्णावाला कैसे अर्हन्त भगवन्त हो सके ?

सतारवां और अठारवां—ए दोनों दूषण राग अरु द्वेष हैं। सो रागवान्, द्वेषवान् मध्यस्थ नहीं होता। अरु जो रागी द्वेषी होता है तिस में क्रोध, मान, माया का सम्भव है। भगवान तो वीतराग, सम शत्रुमित्र, सर्व जीवों पर समबुद्धि, न किसी को दुःखी अरु न किसी को सुखी करे है। जेकर दुःखी, सुखी करे तो वीतराग, करुणा समुद्र कभी भी नहीं हो सकता। इस कारण तें राग द्वेष वाला अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर नहीं। ए पूर्वोक्त अठारह * दूषण रहित अर्हन्त भग-

* अष्टादश दोष कर्मजन्य हैं, अतः जिस आत्मा में यह दोष उपलब्ध होंगे उस में कर्ममल अवश्य ही विद्यमान होगा। और कर्ममल से जो आत्मा लिप्त है वह जीव अथवा सामान्य आत्मा है, परमात्मा नहीं। क्योंकि कर्ममल से सर्वथा रहित होना ही परमात्मपद की प्राप्ति अथवा आत्मा का सम्पूर्ण विकास है। इस लिए जो आत्मा कर्ममल से सर्वथा रहित हो गया है वही परमात्मा है और उस में यह दोष कभी नहीं रह सकते। अतः सामान्य आत्मा और परमात्मा की परीक्षा के लिए उक्त दोषों का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वन्त परमेश्वर है अपर कोई परमेश्वर नहीं।

अथ अर्हन्त के नाम दो श्लोकों करि लिखते हैं:—

अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालवित्,
क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः।
शम्भुः स्वयम्भुर्भगवान् जगत्प्रभु-
स्तीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वरः॥
स्याद्वाद्यभयदसार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शिकेवलिनौ।
देवाधिदेवबोधिदपुरुषोत्तमवीतरागाप्ताः॥

[अभि० चि०—कां० १, श्लो० २४-२५]

परमात्मा के विविध नाम

इन दोनों श्लोकों का अर्थः-१. "अर्हन्"—चौंतीस अतिशय करी, सबसे अधिक होने से, तथा सुरेन्द्र आदिकों की करी हुई अष्ट महाप्रातिहार्य, और जन्मस्नात्रादि पूजा के योग्य होने से अर्हन्, अथवा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मरूप वैरी को हनने से अर्हन्, अथवा बध्यमान कर्म रज के हनने से अर्हन्, अथवा नहीं है कोई पदार्थ छाना जिन्हों के ज्ञान में सो अर्हन्। तथा नामान्तर में अरुहन्—नहीं उत्पन्न होता भवरूपी अंकुर जिनों के सो अरुहन्। २. "जिनः"—जीते हैं राग, द्वेष, मोहादि अष्टादश दूषण जिसने सो जिन। ३. "पारगतः"—जो संसार के अथवा प्रयोजन जात के-प्रयोजन मात्र के पार-अन्त को गत-प्राप्त हुआ है, एतावता संसार में जिसका कोई प्रयोजन नहीं सो पारगत। ४. "त्रिकालवित्"-

भूत, भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों को जो जाने सो त्रिकालवित्। ५. "क्षीणाष्टकर्मा"–क्षीणानि–क्षय हुए हैं आठ ज्ञानावरणीयादि कर्म जिसके सो क्षीणाष्टकर्मा। ६. "परमेष्ठी" परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी—परम—उत्कृष्ट पद में जो रहे सो परमेष्ठी। ७. "अधीश्वरः"—जगत का ईश्वर-स्वामी सो अधीश्वर। ८. "शम्भुः"–शं–शाश्वत सुख, तिस में जो होवे सो शम्भुः। ९. "स्वयम्भुः"–स्वयं आप ही अपनी आत्मा करके तथाभव्यत्वादि सामग्री के परिपक्व होने से, न कि पर के उपदेश से (यह तिसही भवकी अपेक्षा का कथन है) जो होवे सो स्वयम्भू। १०. "भगवान्"—भग शब्द के चौदह अर्थ हैं। तिनमें से अर्क और योनि ए दो अर्थ वर्ज के शेष बारां अर्थ ग्रहण करने, तिनका नाम कहते हैं:—१. ज्ञानवन्त, २. माहात्म्यवन्त, ३. शाश्वत वैरियों के वैर को उपशमने से यशस्वी, ४. राज्यलक्ष्मी के त्याग से वैराग्यवन्त, ५. मुक्तिवन्त, ६. रूपवन्त, ७. अनन्तबल होने से वीर्यवन्त, ८. तप करने में उत्साहवान होने से प्रयत्नवन्त, ९. इच्छावन्त–संसार सेती जीवों का उद्धार करने में इच्छा वाला, १०. चौंतीस अतिशय रूप लक्ष्मी करी विराजमान होने से श्रीमन्त, ११. धर्मवन्त १२. अनेक देवकोटि करी सेव्यमान होने से ऐश्वर्यवन्त—ए बारां अर्थ करी जो संयुक्त सो भगवान्। ११. "जगत्प्रभु" १२. "तीर्थङ्करः"–तरिये संसार समुद्र जिस करके सो तीर्थ—प्रवचन का आधार स्वरूप

चार प्रकार का संघ, अथवा प्रथम गणधर, तिसके जो. करने वाला सो तीर्थङ्कर। १३. "जिनेश्वरः"—रागादिकों के जीतने हारे सो जिन—केवली, तिनका जो ईश्वर सो जिनेश्वर। १४. "स्याद्वादी"—'स्यात्' यह जो अव्यय है सो अनेकान्त का वाचक है, वस्तु को अनेकान्तपने-अनेक स्वरूपे कहने का शील है जिसका सो स्याद्वादी। १५. *"अभयदः"-भय सात प्रकार का है:—१. मनुष्यादि को मनुष्यादि स्वजातीय से अर्थात् एक मनुष्य को अन्य मनुष्य सेती जो भय होवे सो "इहलोकभय," २. विजातीय तिर्यञ्च, देवतादिक सेती जो भय होवे सो "परलोकभय," ३. आदानभय—आदान कहिये धन, तिस धन के कारणे चोरादिक सेती जो भय होवे सो "आदानभय",४. बाहिरले निमित्त विना घरादि में बैठे को जो भय होवे सो "अकस्मात् भय", ५. आजीविकाभय-मैं निर्धन हूँ,

---

* अभि० चि०, कां० १, श्लो० २५ की टीका से उद्धृतः—

भयं इहपरलोकादानाकस्मादाजीवमरणाश्लाघाभेदेन सप्तधा, एतत् प्रतिपक्षतोऽभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यं निःश्रेयसधर्मनिबन्धनभूमिकाभूतं, तत् गुणप्रकर्षादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वात् ददातीति अभयदः ।

भावार्थ—सप्तविध भय से विलक्षण जो आत्मा की विशिष्ट निराकुलता है उसका नाम अभय है। वह मोक्षप्राप्ति के साधनभूत धर्म की भूमिका-आधारशिला है। अनन्तवीर्य आदि गुणों के प्रकर्ष से सर्वशक्तिमान् और परोपकारी होने से उसे जो देता है उसको अभयद कहते हैं।

कैसे दुर्भिक्षादिक में अपने आपको धारण करूंगा, ऐसा जो भय सो "आजीविकाभय," ६. मरणभय-मरण से जो भय सो "मरणभय" यह प्रसिद्ध ही है, ७. अश्लाघाभय-अयश का भय जो मैं ऐसा करूंगा तो मेरा बड़ा अपयश होगा, अपयश के भयसे किसी निन्दनीय कार्य में प्रवर्ते नहीं सो "अश्लाघाभय", ए सात प्रकार का भय, इस का जो विपक्षी सो अभय है। सो क्या वस्तु है ? आत्मा का विशिष्ट स्वास्थ्यपना, निःश्रेयस धर्मनिबन्धनभूमिकाभूत, तिस को गुण के प्रकर्ष से अचिन्त्य शक्तियुक्त होने से, सर्वथा परहितकारी होने से जो देवे सो अभयद। १६. "सार्वः"-सर्व प्राणियों के तांई जो हितकारी सो सार्व। १७. "सर्वज्ञः"-सर्व को जो जाने सो सर्वज्ञ। १८. "सर्वदर्शी"-सर्व को जो देखे सो सर्वदर्शी। १९. सर्व प्रकारे कर्मावरण के दूर होने से जो चेतनस्वरूप प्रगट भया सो केवल—केवल ज्ञान, वह जिसके है सो केवली। २०. "देवाधिदेवः"—देवताओं का जो अधिपति सो देवाधिदेव। २१. "बोधिदः"—बोधि जिनप्रणीत धर्म की प्राप्ति, तिसको जो देव सो बोधिद। २२. "पुरुषोत्तमः"-पुरुषों में उत्तम-सहज तथाभव्यत्वादि भावकरी जो श्रेष्ठ सो पुरुषोत्तम। २३. "वीतरागः"-वीतो-गतो रागोऽस्मात् इति वीतरागः, चला गया है राग जिससे सो वीतराग। २४. "आप्तः"-हितोपदेशक होने से आप्त कहिये—यथार्थ वक्ता। इत्यादिक हजारों नाम परमेश्वर के हैं। यह पूर्वोक्त परमेश्वर का स्वरूप श्री हेमचन्द्राचार्यकृत

ग्रन्थों के अनुसार तथा समवायाङ्ग, राजप्रश्नीय प्रमुख शास्त्रों के अनुसार संक्षेप से लिखा है, अन्यथा जिनसहस्रनाम ग्रन्थ में तो एक हजार आठ नाम अन्वयार्थ सहित कहे हैं। सर्व नाम व्युत्पत्ति सहित अर्हन्त परमेश्वर के हैं। सो अर्हन्त पद तो एक और अनादि अनन्त है, परन्तु इस पद के धारक जीव तो अतीत काल में अनन्त हो गये हैं। क्योंकि एक एक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में भारतवर्ष में चौबीस चौबीस जीव, अर्हन्त पद को धारकर पीछे सिद्धि पद को प्राप्त हो चुके हैं।

गत चौबीसी के तीर्थंकर

इस वर्तमान अवसर्पिणी से पिछली उत्सर्पिणी में जो जीव अरिहन्त पद के धारक हुए हैं, तिन के नाम यह हैं:—१. केवलज्ञानी २. निर्वाणी ३. सागर ४. महायश ५. विमलनाथ ६. सर्वानुभूति ७. श्रीधर ८. दत्त ९. दामोदर १०. सुतेज ११. स्वामी १२. मुनिसुव्रत १३. सुमति १४. शिवगति १५. अस्ताग १६. नेमीश्वर १७. अनिल १८. यशोधर १९. कृतार्थ २०. जिनेश्वर २१. शुद्धमति २२. शिवकर २३. स्यन्दन २४. सम्प्रति।

वर्तमान चौबीसी के तीर्थंकर

अथ वर्तमान चौबीस अर्हन्तों के नामः—१. श्रीऋषभनाथ २. श्री अजितनाथ ३. श्री सम्भवनाथ ४. श्री अभिनन्दननाथ ५. श्री सुमतिनाथ ६. श्री पद्मप्रभ ७. श्री सुपार्श्वनाथ ८. श्री चन्द्रप्रभ ९. श्री सुविधिनाथ अपर नाम पुष्पदन्त १०.

श्री शीतलनाथ ११. श्री श्रेयांसनाथ १२. श्री वासुपूज्य १३. श्री विमलनाथ १४. श्री अनन्तनाथ १५. श्री धर्मनाथ १६. श्री शान्तिनाथ १७. श्री कुन्थुनाथ १८. श्री अरनाथ १९. श्रीमल्लिनाथ २०. श्री मुनिसुव्रत स्वामी २१. श्री नेमिनाथ २२. श्री अरिष्टनेमि २३. श्री पार्श्वनाथ २४. श्री महावीर।

सामान्य और विशेष अर्थ

अब चौवीस तीर्थङ्कर भगवन्तों के जो नाम हैं, सो किस किस कारण से हुवे हैं, तिन नामों का एक तो सामान्यार्थ है, जो सब तीर्थङ्करों में *पावे और दूजा विशेषार्थ है जो एक ही तीर्थङ्कर के नाम का निमित्त है, सो लिखते हैं-

१. "ऋषति गच्छति परमपदमिति ऋषभः" †जावे जो परम पद को सो ऋषभ। यह अर्थ सब तीर्थङ्करों में व्यापक है। अथ विशेषार्थ-"उर्वोर्वृषभलाञ्छनमभूत्, भगवतो जनन्या च चतुर्दशानां स्वप्नानामादौ वृषभो दृष्टस्तेन ऋषभः"-भगवान की दोनों साथलों में बैल का लाञ्छन था, अथवा भगवन्त की

* चरितार्थ होता है।

† ऋषभदेव का दूसरा नाम 'वृषभ' भी है यथा-'वृष उद्वहने' समग्रसंयमभारोद्वहनाद् वृषभः, सर्व एव च भगवन्तो यथोक्तस्वरूपाः।

अर्थ—'वृष' धातु भार उठाने के अर्थ में है। अर्थात् संयम भार के उठाने से भगवान् ऋषभदेव का 'वृषभ' भी नाम है। सभी भगवान् उक्त स्वरूप वाले होते हैं, अतः यह सामान्य स्वरूप है।

[आ० नि० हारि० टी० गा० १०७०.]

माता मरुदेवी ने चौदह स्वप्न की आदि में बैल का स्वप्न देखा था, तिस कारण से ऋषभ ऐसा नाम दिया। ऐसे ही सर्व तीर्थङ्करों का प्रथम सामान्यार्थ और दूसरा विशेषार्थ जानना।

२—"परीषहादिभिर्न जितः इत्यजितः"-बावीस *परीषह, आदि शब्द से चार † कषाय, आठ ‡ कर्म, चार प्रकार का §उपसर्ग-इनों करके जो न जीत्या गया सो अजित, "यद्वा गर्भस्थेऽस्मिन् द्यूते राज्ञा जननी न जितेत्यजितः"—अथवा जब भगवान गर्भ में थे तब जूआ खेलता हुआ राजा रानी को न जीत सका, इस हेतु से अजित नाम दिया।

३—"शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते सः शम्भवः"—शं नाम सुख का है, सुख होवे जिसकी स्तुति करने पर सो शम्भव, "यद्वा गर्भगतेप्यस्मिन्नभ्यधिकसस्यसंभवात् सम्भवोपि"—अथवा भगवान जब गर्भ में थे तब पृथिवी में अधिक धान्य

---

* १. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक—डांस और मच्छर ६. नग्नत्व, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कारपुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान, २२. अदर्शन। विशेष स्वरूप के लिये देखो परि० नं० १—ग।

† १. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ।

‡ १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।

§ १. देवकृत, २. मनुष्यकृत, ३. तिर्यञ्चकृत, ४. कर्मजनित।

का सम्भव होने से *सम्भव।

४—"अभिनंद्यते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनन्दनः"—जिनकी स्तुति करी है देवेन्द्रादिकों ने सो अभिनन्दन। "यद्वा गर्भात्प्रभृत्येवाभीक्ष्णं शक्रेणाभिनन्दनादभिनन्दनः"—अथवा जिस दिन भगवान गर्भ में आये उस दिन से लेके शक्रेन्द्र के बार बार स्तुति करने से अभिनन्दन।

५—"शोभना मतिरस्येति सुमतिः"—भली है बुद्धि जिस की सो सुमति। "यद्वा गर्भस्थे जनन्याः सुनिश्चितामतिरभूदिति सुमतिः"—अथवा भगवान के गर्भ में आने पर माता की बहुत निर्मल—निश्चित बुद्धि हुई, इस हेतु से सुमति।

६—"निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्येति पद्मप्रभः"—विषयतृष्णा कर्म कलङ्क रूप कीचड़ करी रहित पद्म की तरें प्रभा है इसकी सो पद्मप्रभ। "यद्वा पद्मशयनदोहदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति पद्मप्रभः"—अथवा पद्मशयन दोहद—दोहला माता को उत्पन्न हुवा सो देवता ने पूरण किया इस कारण से पद्मप्रभ, अरु पद्मकमल सरीखा भगवान के शरीर का वर्ण था इस हेतु से भी पद्मप्रभ।

७—"शोभनौ पार्श्वावस्येति सुपार्श्वः"—शोभनीक हैं दोनों पासे इसके सो सुपार्श्व। "यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्यपि

---

* सामान्यार्थः—"संभवन्ति प्रकर्षेण भवन्ति चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा यस्मिन्निति संभवः"—जिसमें चौंतीस अतिशय प्रकृष्टरूप से पाये जाते है, उसे संभव कहते हैं। [आ॰ नि॰ हा॰-टी॰ गा॰ १०८१]

सुपार्श्वाभूदिति सुपार्श्वः"—अथवा भगवान के गर्भ में स्थित हुये माता के दोनों पासे बहुत सुन्दर होगये इस कारण से सुपार्श्व।

८—"चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्य-चन्द्रप्रभः"—चन्द्रमा की तरें है प्रभा–कान्ति–सौम्य लेश्या–विशेष इसकी सो चन्द्रप्रभ। तथा "गर्भस्थे देव्याश्चन्द्रपानदोहदोऽभूदिति चन्द्रप्रभः"–गर्भ में जब भगवान थे तब माता को चन्द्रमा पीने का दोहद उत्पन्न हुआ था, इस कारण से चन्द्रप्रभ।

९—"शोभनो विधिर्विधानमस्य—सुविधिः"—भली है विधि इसकी सो सुविधि। "यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्यप्येवमिति सुविधिः"—अथवा गर्भ में भगवान् के रहने से माता भी शोभनीक विधिवाली होती भई, इस कारण से सुविधि।

१०—"सकलसत्त्वसन्तापहरणाच्छीतलः"—सर्व जीवों का संताप हरने से शीतल। तथा "गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वोत्पन्नाचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतलः"–भगवन्त के गर्भ में आने से, भगवन्त के पिता के शरीर में पित्तदाह रोग था, वैद्यों से जिसकी शान्ति न हुई परन्तु भगवन्त की माता के हाथ का स्पर्श होते ही राजा का शरीर शीतल होगया, इस कारण से शीतल।

११—"श्रेयान् समस्तभुवनस्यैव हितकरः, प्राकृत शैल्या

छान्दसत्वाच्च श्रेयांस इत्युच्यते"--सर्व जगत का जो हित करे सो श्रेयांस। "यद्वा गर्भस्थेऽस्मिन् केनाप्यनाक्रान्तपूर्वदेवताधिष्ठितशय्या जनन्याक्रान्तेति श्रेयो जातमिति श्रेयांसः"—भगवान जब गर्भ में थे तब भगवन्त के पिता के घर में एक देवताधिष्ठित शय्या थी। उस पर जो बैठता था उसही को *असमाधि उत्पन्न होती थी। भगवन्त की माता को उसी शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ। माता उसी शय्या पर सोई। देवता शान्त भया-उपद्रव न करा, इस हेतु से श्रेयांस।

१२-"तत्र वसूनां पूज्यः वसुपूज्यः", "वसवो देवाः"—वसुओं करी जो पूजनीक होवे सो वसुपूज्य, वसु कहिये देवता, "वसुपूज्यनृपतेरपत्यं वासुपूज्यः"-वसुपूज्य नामा राजा का जो पुत्र सो वासुपूज्य। "वासवो देवराया तस्स गब्भगयस्स अभिक्खणं अभिक्खणं जणणीए पूयं करेइ तेण वासुपुज्जोत्ति, अहवा वसूणि रयणाणि वासवो—वेसमणो सो गब्भगए, अभिक्खणं अभिक्खणं तं रायकुलं रयणेहिं पूरेइत्ति वासुपुज्जोत्ति"। [आ० जि० हारि० टी० गा० १०८५]

अस्यार्थः—वासव नाम इन्द्र का है, सो भगवान् जब गर्भ में आये तब बार बार इन्द्र ने भगवन्त की माता को पूजा इस कारण से वासुपूज्य। अथवा वसु कहिये रतन, अरु वासव नाम है वैश्रमण का, सो वैश्रमण जब भगवान् गर्भ में थे तब बार बार तिस राजा के कुलको रत्नों करी पूरण करता भया, इस हेतु से वासुपूज्य।

---

* आकुलता-बेचैनी।

१३—"विगतो मलोऽस्य—विमलः, विमलज्ञानादियोगाद्वा विमलः"—दूर हुवा है अष्टकर्मरूपमल जिसका सो विमल, अथवा निर्मल ज्ञानादि योग से विमल। "यद्वा गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमलः"—अथवा भगवान जब गर्भ में थे, तब माता की बुद्धि अरु शरीर ए दोनों निर्मल होगये इस कारण से विमल नाम जानना।

१४—"न विद्यते गुणानामन्तोऽस्य—अनन्तः, अनन्त कर्मांशजयाद्वानन्तः, अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्तः"—नहीं है गुणों का अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनन्त कर्मांश जीतने से अनन्त, अथवा अनन्त हैं ज्ञानादि गुण जिसके सो अनन्त। "रयणविचित्त—रयणखचियं अणंतं—अइमहप्पमाणं दामं सुमिणे जणणीए दिट्ठं तओ अणंतोत्ति"—[आ० नि०, हारि० टी०, गा० १०८६] रत्न विचित्र—रत्न जडित अति मोटी दाम-माला स्वप्न में माता ने देखी तिस कारण अनन्त।

१५—"दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः"—दुर्गति में पड़ते जीवों के समूह को जो धारण करे सो धर्म। तथा "गर्भस्थे जननी दानादिधर्मपरा जातेति धर्मः"—परमेश्वर के गर्भ में आवने से माता दानादिक धर्म में तत्पर भयी, इस कारण से धर्म नाम।

१६—"शान्तियोगात्तत्कर्तृकत्वाचायं शान्तिः"—शान्त योग से वा शान्तिरूप होने से वा शान्ति करने से शान्ति

"गर्भस्थे पूर्वोत्पन्नाशिवशान्तिरभूदिति शान्तिः"—तथा गर्भ में भगवान् के उत्पन्न होने से, पूर्व में जो अशिव था सो शान्त होगया, इस कारण शान्ति नाम।

१७—"कुः पृथ्वी तस्यां स्थितवानिति कुन्थुः"—कु नाम पृथ्वी का है, तिस पृथ्वी में जो स्थित होता भया सो कुन्थु। तथा—"गर्भस्थे भगवति जननी रत्नानां कुन्थुराशिं दृष्टवतीति कुन्थुः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित हुवे माता रत्नमयी कुन्थुओं की राशि देखती भई, इस हेतु से कुन्थु।

१८—"*सर्वो नाम महासत्त्वः, कुले य उपजायते।
"तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृतः॥
[अभि० चि० कां० १, स्वोपज्ञ टीका]

इति वचनादरः। जो कोई महासत्त्ववान-महापुरुष किसी कुल में उत्पन्न होवे और तिस कुल की वृद्धि के वास्ते होवे तिसको वृद्ध पुरुष प्रधान अर्थात् अर कहते हैं। तथा "गर्भस्थे भगवति जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो दृष्ट इत्यरः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित हुये माता ने स्वप्न में सर्व रत्नमय अर देखा, इस कारण से अर नाम।

१९—"परीषहादिमल्लजयान्मल्लिः"—परीषहादि मल्लों के जीतने से मल्लि। तथा—"गर्भस्थे भगवति मातुः सुरभिकुसुममाल्यशयनीयदोहदो देवतया पूरित इति मल्लिः"—भगवन्त

---

* आवश्यक भाष्यनिर्युक्ति की श्री हरिभद्रसूरिकृत टीका (गा० १०८८) में पूर्वार्ध का पाठ ऐसा है:—सर्वोत्तमे महासत्त्वकुले य उपजायते।

के गर्भ में स्थित हुवे भगवन्त की माता को सुगन्ध वाले फूलों की माला की शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न भया, सो देवता ने पूरण किया, इस कारण से मल्लि ।

२०—"मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रतः, मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः"—माने जो जगत को तीनों ही काल में सो मुनि, भले हैं व्रत जिसके सो सुव्रत, ए दोनों पद इकट्ठे करने से मुनिसुव्रत यह नाम हुवा । तथा "गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित हुये माता मुनि की तरह भले व्रतवाली होती भई, इस हेतु से मुनिसुव्रत ।

२१—"परीषहोपसर्गादिनामनात्—[* नमेस्तुर्वेतिविकल्पेनोपान्त्यस्येकाराभावपक्षे] नमिः"—परीषह तथा उपसर्ग आदि को नमावने से नमि । यद्वा "गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित होने पर वैरी राजाओं ने भी नमस्कार करी, इस कारण से नमि ।

२२—"धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः"—धर्मचक्र की धारावत् जो हो सो नेमि । तथा "गब्भगए तस्स मायाए रिट्ठरयणामओ महइमहालओ नेमी उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति तेण से रिट्ठणेमित्ति णामं कयं"—[आ० नि०, हारि०टी,० गा०

---

* क्रमितमिस्तम्भेरिच्च नमेस्तु वा [सि० है०, उणादि सू० ६१३]

१०७०] भगवन्त के गर्भगत हुये माता ने अरिष्ट रत्नमय बड़ा-मोटा, नेमि–चक्रधारा आकाश में उत्पद्यमान स्वप्न में देखा, तिस कारण से अरिष्टनेमि नाम किया।

२३—"स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः"—स्पर्शे-जाणे सब पदार्थों को ज्ञान करी सो पार्श्व। तथा "गर्भस्थे जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति निरुक्तात्पार्श्वः, पार्श्वोऽस्य वैयावृत्त्यकरो यक्षस्तस्य नाथः पार्श्वनाथः, भीमो भीमसेन इति न्यायाद्वा पार्श्वः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित होने से निशि–रात्रि में शय्या ऊपर बैठी माता ने अन्धेरे में जाता हुवा सर्प देखा, माता पिता ने विचारा कि ए गर्भ का प्रभाव है, अथवा देखे सो पार्श्व, अथवा पार्श्व नामा वैयावृत्त्य करनहारा देवता, तिसका जो नाथ सो पार्श्वनाथ, अथवा भीम और भीमसेन इस न्याय की तरें पार्श्वनाथ ही पार्श्व है।

२४—"विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः"—विशेष करके प्रेरे जो कर्मों को सो वीर, बड़े उग्र परीषह, उपसर्ग सहने से देवता ने जिसका नाम महावीर किया। तथा माता पिता का दिया नाम *वर्द्धमान है।

* जन्म होने के अनंतर जो ज्ञानादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ सो वर्धमान तथा भगवान के गर्भ में आने के बाद ज्ञात कुल में धन धान्यादि की वृद्धि हुई अतः वर्धमान नाम रक्खा। तथा—"उत्पत्तेरारभ्य ज्ञानादिभिर्वर्धत इति वर्धमानः यद्वा गर्भस्थे भगवति ज्ञातकुलं धनधान्यादिभि र्वर्धत इति वर्धमानः"। [अभि० चि०, कां० १, पृ० १२]

इस प्रकार यह अवसर्पिणी में जो तीर्थङ्कर हो गये हैं, तिनों के नाम अरु किस हेतु से यह नाम रक्खे गये सो प्रकरण समाप्त हुवा। ॐ

तीर्थङ्करों के वंश तथा वर्ण

यह जो चौबीस तीर्थङ्कर हैं। इनमें से बावीस तो इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुवे हैं, एतावता ऋषभदेव की सन्तान में से हैं। इक्ष्वाकु कुल ऋषभदेव ही से प्रसिद्ध है, यह आगे चलकर लिखेंगे। एक तो बीसवें मुनिसुव्रत स्वामी तथा दूसरे बावीसवें श्री अरिष्ट नेमि भगवान्, ये दोनों तीर्थङ्कर हरिवंश में उत्पन्न हुए हैं। तथा इन चौबीसों तीर्थङ्करों में छठा पद्मप्रभ और बारहवां वासुपूज्य ये दोनों तीर्थङ्कर रक्तवर्ण शरीर वाले हुए हैं। आठवां चन्द्रप्रभ और नवमा सुविधिनाथ-पुष्पदन्त ए दोनों तीर्थङ्कर श्वेत वर्ण-स्फटिक के समान उज्वल शरीर वाले हुए हैं। तथा उन्नीसवां मल्लिनाथ और तेईसवां पार्श्व-नाथ, ए दोनों तीर्थङ्कर हरितवर्ण शरीर वाले हुए हैं। तथा बीसवां मुनि सुव्रत स्वामी और बावीसवां अरिष्टनेमि भगवान् ए दोनों तीर्थङ्कर श्यामवर्ण-अलसी के फूल सदृश रङ्ग वाले शरीर के धारक हुए हैं। और शेष सोलां तीर्थङ्कर सुवर्ण वर्ण शरीर वाले हुए हैं।

ॐ उपर्युक्त तीर्थङ्कर के नामों के सामान्य और विशेष अर्थ अभि० चि० तथा आवश्यकभाष्य की श्री हरिभद्रसूरिकृत टीकागत लेख के अनुसार किये गये है।

अथ चौबीस तीर्थङ्करों के चिह्न जो कि उनके दक्षिण पग में वा उनकी ध्वजा में होते हैं। [अब तीर्थंकरों के चिह्न भी उनकी प्रतिमा के आसन में ए चिह्न रहते हैं] सो कहते हैं:—१. ऋषभदेव जी के बैल का चिह्न, २. अजितनाथ जी के हाथी का चिह्न, ३. सम्भवनाथ जी के घोड़े का चिह्न, ४. अभिनन्दन जी के बन्दर का चिह्न, ५. सुमतिनाथ जी के क्रौञ्चपक्षी का चिह्न, ६. पद्म-प्रभ जी के कमल का चिह्न, ७. सुपार्श्वनाथ जी के साथिये का चिह्न, ८ चन्द्रप्रभजी के चन्द्रमा का चिह्न, ९. सुविधिनाथ-पुष्पदन्त जी के मकर का चिह्न, १०. शीतलनाथ जी के श्रीवत्स का चिह्न, ११. श्रेयांसनाथ जी के गैंडे का चिन्ह, १२. वासुपूज्य जी के महिष का चिन्ह १३. विमलनाथ जी के शूकर का चिह्न. १४. अनन्तनाथ जी के बाज़ का चिह्न, १५. धर्मनाथ जी के वज्र का चिन्ह १६. शान्तिनाथ जी के हरिण का चिह्न. १७. कुन्थुनाथ जी के बकरे का चिह्न, १८. अरनाथ जी के नन्द्यावर्त का चिन्ह, १९. मल्लिनाथ जी के कुम्भ का चिन्ह. २० मुनिसुव्रतनाथ जी के कच्छु का चिन्ह, २१. नमिनाथ जी के नीले कमल का चिन्ह २२. अरिष्टनेमि जी के शङ्ख का चिन्ह, २३. पार्श्वनाथ जी के सर्प का चिन्ह, २४. महावीर जी के सिंह का चिन्ह, होता है।

१."नाभिः—महात्यन्यायिनो *हकाराद्दिभिर्नीर्निभरिति-

* कुलकरों की दण्ड नीति का विधान 'हक्कार', 'मक्कार' और 'धिक्कार' से किया जाता था। इन तीनों नीतियों में पहली जघन्य,

नाभिरन्त्यकुलकरः"—हकार आदि की नीति

तीर्थङ्करपितृनाम **से जो अन्यायियों को दण्ड देवे है सो**

नाभि—अन्तिम कुलकर।

दूसरी मध्यम और तीसरी उत्कृष्ट अर्थात् स्वल्प अपराध में पहिली से, मध्यम अपराध में दूसरी से और उत्कृष्ट अपराध में तीसरी से दण्ड दिया जाता था।

पहिले तथा दूसरे कुलकरके समय में पहली हक्काररूप दण्डनीति का उपयोग किया जाता था। तीसरे और चौथे कुलकर के समय में दूसरी मक्काररूप दण्डनीति का उपयोग होता था। पांचवें, छठे और सातवें कुलकरके समय में तीसरी दण्डनीति का प्रयोग होता था। यथाः—

हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव दण्डनीइओ।

पढमाविइयाण पढमा तइयचउत्थाण अहिणवा बिइया।

पंचमछट्ठस्स य सत्तमस्स तइया अहिणवा हु॥

[आ० नि०, गा० १६७, १६८]

हक्कारो मक्कारो धिक्कारश्चेति कुलकराणां दण्डनीतयः। तत्र प्रथम-द्वितीययोः कुलकरयोः प्रथमा हक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। तृतीय चतुर्थयोरभिनवा द्वितीया—मक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। तथा पंचमषष्ठयोः सप्तमस्य च तृतीया अभिनवा उत्कृष्टा धिक्काराख्या दण्डनीतिः। किमुक्तं भवति? स्वल्पापराधे प्रथमया मध्यमापराधे द्वितीयया महापराधे तृतीयया च दण्डः क्रियते। एताश्च तिस्रोऽपि लघुमध्यमोत्कृष्टापराधेषु यथाक्रमं प्रवर्तिता इति भावार्थः।

[अभि० रा० ३ भाग, पृ० ५९५ के अनुसार]

२. "जितशत्रुः—जिताः शत्रवोऽनेन"—जीते हैं शत्रु जिस ने सो जितशत्रु, ३. "जितारिः—जिता अरयोऽनेन"—जीते हैं वैरी जिसने सो जितारि, ४. "संवरः—संवृणोतीन्द्रियाणि"—वश में करी हैं इन्द्रियां जिसने सो संवर, ५. "मेघः—सकलसत्त्वसंतापहरणान्मेघ इव"—सकल जीवों का संताप हरने से मेघ की तरें मेघ, ६. "धरः—धरति धात्रीम्"—धारण करे जो पृथ्वी को सो धर, ७. "प्रतिष्ठः—प्रतिष्ठति धर्मकार्ये"—धर्म के कार्य में जो स्थित रहे सो प्रतिष्ठ, ८. "महासेननरेश्वरः—महती पूज्या सेनाऽस्येति-महासेनः स चासौ नरेश्वरश्च"—मोटी-पूजने योग्य है सेना जिसकी सो महासेन, इसका नरेश्वर के साथ समास होने पर महासेननरेश्वर, ६. "सुग्रीवः—शोभना ग्रीवाऽस्य"—भली है ग्रीवा—गर्दन जिसकी सो सुग्रीव, १०.—दृढरथः—दृढोरथोऽस्य"—बलवान् है रथ जिसका सो दृढरथ, ११. "विष्णुः—वेवेष्टि बलैः पृथिवीम्"—वेष्टित किया है पृथिवी को सेना करी जिसने सो विष्णु, १२. "वसुपूज्यराट्—अन्यैः राजभिर्वसुभिर्धनैः पूज्यत इति वसुपूज्यः स चासौराट् च"—दूसरे राजाओं ने धन करी जिसे पूज्या सो वसुपूज्य, इसका राज के साथ समास होने पर वसुपूज्यराट्, १३. "कृतवर्मा—कृतं वर्माऽनेन"—करा है सनाह-कवच जिसने सो कृतवर्मा, १४. "सिंह सेनः—सिंहवत् पराक्रमवती सेनाऽस्य"—सिंह की तरे है पराक्रम वाली सेना जिसकी सो

सिंहसेन, १५. "भानुः—भाति त्रिवर्गेण"—शोभे है जो अर्थ, काम अरु धर्म करके सो भानु. १६. "विश्वसेनराट्—विश्वव्यापिनी सेनाऽस्येति विश्वसेनः स चासौ राट् च"—जगत में व्यापने वाली है सेना जिसकी सो विश्वसेन, इस का राज् के साथ समास होने पर विश्वसेन राट्, १७. "सूरः-तेजसा सूर इव"—तेज करके जो सूर्यसमान सो सूर, १८. "सुदर्शनः—शोभनं दर्शनमस्य"—भला है दर्शन जिसका सो सुदर्शन, १९. "कुम्भः—गुणपयसामाधारभूतत्वात् कुम्भ इव"—गुणरूप पानी का आधार भूत होने से कुम्भ की तरे कुम्भ, २०. "सुमित्रः—शोभनानि मित्राण्यस्य"—भले हैं मित्र जिस के सो सुमित्र, २१. "विजयः—विजयते शत्रूनिति"—जीता है शत्रुओं को जिसने सो विजय २२. "समुद्रविजयः-गाम्भीर्येण समुद्रस्यापि विजेता"—गाम्भीर्य करी समुद्र को भी जीतने वाला—समुद्र विजय, २३. "अश्वसेनः—अश्व-प्रधाना सेनास्य"—घोड़ों करी प्रधान है सेना जिसकी सो अश्वसेन, २४. "सिद्धार्थः—सिद्धा अर्थाः पुरुषार्था अस्य"—सिद्ध हुये हैं अर्थ-पुरुषार्थ जिसके सो सिद्धार्थ। ए ऋषभ आदि चौवीस तीर्थङ्करों के क्रम करके चौवीस पिताओं के नाम कहे हैं।

अथ चौवीस तीर्थङ्करों की माताओं के नाम लिखते हैं:—

तीर्थङ्कर मातृनाम

१. "मरुदेवा—मरुद्भिर्दीव्यते स्तूयते [पृषोदरादित्वात् तलोपः] मरुदेव्यपि"—देवताओं करी जिसकी स्तुति की गयी सो मरुदेवा,

मरुदेवी भी नाम है, २. "विजया—विजयते"—जो विजयवती है सो विजया, ३. "सेना—सह इनेन जितारिस्वामिना वर्तते"—जितारि स्वामी के साथ जो वर्ते—रहे सो सेना, ४. "सिद्धार्था—सिद्धा अर्था अस्याः"—सिद्ध हुये हैं अर्थ-प्रयोजन जिसके सो सिद्धार्था, ५. "मङ्गला—मङ्गलहेतुत्वात्"—मङ्गल का हेतु होने से मङ्गला, ६. "सुसीमा—शोभना सीमा मर्यादास्याः"—भली है सुसीमा—मर्यादा जिस की सो सुसीमा, ७. 'पृथ्वी—स्थेम्ना पृथ्वीव'—स्थिर है जो पृथ्वी की तरे सो पृथ्वी, ८. "लक्ष्मणा—लक्ष्मी शोभास्त्यस्याः"—लक्ष्मी—शोभा है जिसकी सो लक्ष्मणा, ९. "रामा—धर्मकृत्येषु रमते"—धर्मकृत्य में जो रमे सो रामा, १०. "नंदा—नंदति सुपात्रेषु"—सुपात्र में देने से जो वृद्धि को प्राप्त होवे-प्रफुल्लित होवे सो नंदा, ११. "विष्णुः—वेवेष्टि गुणैर्जगत्"—गुणों करी जो जगत् में व्याप्त है सो विष्णु, १२. "जया—जयति सतीत्वेन"—सती पणे करी जो उत्कृष्ट है सो जया, १३. "श्यामा—श्याम वर्णत्वात्"—श्याम वर्ण होने से श्यामा, १४ "सुयशा शोभनं यशोऽस्याः"—भला है यश जिसका सो सुयशा, १५. "सुव्रता—शोभनं व्रतमस्याः सुव्रता पतिव्रतात्वात्"—पतिव्रता होने से भला है व्रत जिसका सो सुव्रता, १६. "अचिरा—न चिरयति धर्मकार्येषु"—नहीं चिर-देर करती है जो धर्म कार्य में सो अचिरा, १७. "श्रीः—श्रीरिव"—लक्ष्मी की तरे प्रभा है जिसकी सो श्री,

१८. "देवी-देवी इव"—देवी की तरे प्रभा है जिसकी सो देवी, १९. "प्रभावती—प्रभास्त्यस्याः"—जो प्रभावाली है सो प्रभावती, २०. "पद्मा—पद्म इव पद्मा"—पद्म की तरे पद्मावती, २१. "वप्रा—वपति धर्मबीजमिति"—बोती है जो धर्मरूपी बीज को सो वप्रा २२. "शिवा—शिवहेतुत्वात्"—कल्याण का हेतु होने से शिवा, २३. "वामा—मनोज्ञत्वाद्वामा पापकार्येषु प्रातिकूल्याद्वा वामा"—मनोज्ञ होने से वामा, अथवा पाप कार्यों के प्रतिकूल होने से वामा, २४. "त्रिशला—त्रीणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि शलयति प्राप्नोतीति"—तीन-ज्ञान दर्शन और चारित्र को जो प्राप्त होवे सो त्रिशला। इस क्रम करके ऋषभ आदि चौवीस तीर्थङ्करों की माताओं के नाम हैं ।*

अब सुगमता के कारण चौवीस तीर्थङ्करों के साथ बावन बोल का जो सम्बन्ध है तिसका स्वरूप यंत्रबंध लिखते हैं। प्रथम बावन बोल का नाम लिखते हैं।

* तीर्थङ्करों की माता व पिता के नामों की व्युत्पत्ति अभिधान चिन्तामणि के प्रथम काण्ड में दी है।

बावन बोल

सं०	बोल का नाम	सं०	बोल का नाम
१	च्यवन तिथि	१८	प्रथम पारणे का आहार
२	किस विमान में आये	१९	प्रथम पारणा का स्थान
३	किस नगरी में जन्म हुवा	२०	कितने दिन का पारणा
४	जन्म तिथि	२१	दीक्षा की तिथि
५	पिता का नाम	२२	छद्मस्थ काल
६	माता का नाम	२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान
७	जन्म नक्षत्र	२४	ज्ञानोत्पत्ति के दिन का तप
८	जन्म राशि	२५	दीक्षावृक्ष
९	लाञ्छन नाम	२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि
१०	शरीरमान	२७	गणधरों की सख्या
११	आयुमान	२८	साधुओं की संख्या
१२	शरीर का वर्ण	२९	साध्वियों की संख्या
१३	पदवी	३०	वैक्रियलब्धिवालों की सख्या
१४	विवाहित या ब्रह्मचारी	३१	अवधिज्ञानियों की संख्या
१५	कितनों ने साथ दीक्षा ली	३२	मनःपर्यवज्ञानियों की संख्या
१६	दीक्षा नगरी	३३	केवलज्ञानियों की संख्या
१७	दीक्षा दिवस का तप	३४	चौदह पूर्वधारियों की संख्या

३५ वादिओं की संख्या
३६ श्रावकों की संख्या
३७ श्राविकाओं की संख्या
३८ शासनयक्ष नाम
३९ शासनयक्षणी नाम
४० प्रथम गणधर का नाम
४१ प्रथम आर्या का नाम
४२ मोक्ष प्राप्तिस्थान
४३ मोक्ष प्राप्ति की तिथि
४४ मोक्ष प्राप्ति दिवस का तप
४५ मोक्ष जाने का आसन
४६ परस्पर अन्तर का मान
४७ गण नाम
४८ योनि नाम
४९ मोक्ष परिवार
५० सम्यक्त्वप्राप्ति के बाद के भव
५१ कुल गोत्र नाम
५२ गर्भवास का कालमान



प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री ऋषभदेव	श्री अजितनाथ
१	च्यवन तिथि	आषाढ वदि ४	वैशाख शुदि १३
२	विमान	सर्वार्थसिद्ध	विजय
३	जन्म नगरी	विनीता	अयोध्या
४	जन्म तिथि	चैत्र व० ८	माघ शु० ८
५	पिता का नाम	नाभि कुलकर	जितशत्रु
६	माता का नाम	मरुदेवी	विजया
७	जन्म नक्षत्र	उत्तराषाढा	रोहिणी
८	जन्म राशि	धन	वृष
९	लाञ्छन	वृषभ	हस्ती
१०	शरीरमान	५०० धनुष	४५० धनुष
११	आयुमान	८४ लक्ष पूर्व	७२ लक्ष पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	स्वर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुआ	हुआ
१५	सहदीक्षित	४००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	विनीता	अयोध्या
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणेका आ०	इक्षुरस	परमान्न क्षीर

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री ऋषभदेव	श्री अजितनाथ
१९	पारणे का स्थान	श्रेयांस के घर में	ब्रह्मदत्त के घर में
२०	पारणे के दिन	१ वर्ष पीछे	२ दिन पीछे
२१	दीक्षा तिथि	चैत्र व० ८	माघ व० ९
२२	छद्मस्थ काल	१००० वर्ष	१२ वर्ष
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	पुरिमताल	अयोध्या
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	३ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	वट वृक्ष	साल वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	फाल्गुन व० ११	पौष व० ११
२७	गणधर संख्या	८४	९५
२८	साधु संख्या	८४०००	१०००००
२९	साध्वी संख्या	३०००००	३३००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	२०६००	२०४००
३१	वादी संख्या	१२६५०	१२४००
३२	अवधिज्ञानी	९०००	९४००
३३	केवली	२००००	२२०००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१२७५०	१२५५०
३५	चौदह पूर्वधारी	४७५०	३७२०
३६	श्रावक संख्या	३५००००	२९८०००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री ऋषभदेव	श्री अजितनाथ
३७	श्राविका संख्या	५५४०००	५४५०००
३८	शासन यक्ष नाम	गोमुख यक्ष	महायक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	चक्रेश्वरी	अजितबला
४०	प्रथम गणधर	पुण्डरीक	सिंहसेन
४१	प्रथम आर्या	ब्राह्मी	फाल्गु
४२	मोक्षस्थान	अष्टापद	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	माघ व० १३	चैत्र शु० ५
४४	मोक्ष संलेखना	६ उपवास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	पद्मासन	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	५० लाख कोटि सागर	३० लाख कोटि सा०
४७	गण नाम	मानव	मानव
४८	योनि	नकुल	सर्प
४९	मोक्ष परिवार	१००००	१०००
५०	भव संख्या	१३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ४ दिन,	८ मास २५ दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सम्भवनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
१	च्यवनतिथि	फाल्गुन शु० ८	वैशाख शु० ४
२	विमान	ऊपर का ग्रैवेयक	जयन्त
३	जन्म नगरी	सावत्थी	अयोध्या
४	जन्मतिथि	माघशु० १४	माघ शु० २
५	पिता का नाम	जितारि	संवर
६	माता का नाम	सेना	सिद्धार्था
७	जन्म नक्षत्र	मृगशिर	पुनर्वसु
८	जन्मराशि	मिथुन	मिथुन
९	लाञ्छन	अश्व	बंदर
१०	शरीरमान	४०० ध०	३५० ध०
११	आयुमान	६० लक्ष पूर्व	५० लक्ष पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	स्वर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	सावत्थी	अयोध्या
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	परमान्नक्षीर	क्षीर

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सम्भवनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
१६	पारणे का स्थान	सुरेंद्रदत्तके घर,	इन्द्रदत्तके घर
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	मगसिर शु० १५,	माघ शु० १२
२२	छद्मस्थ काल	१४ वर्ष	१८ वर्ष
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	सावत्थी	अयोध्या
२४	ज्ञान सम्बंधी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	प्रियाल वृक्ष	प्रियंगु वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	कार्तिक व० ५	पौष व० १४
२७	गणधर संख्या	१०२	११६
२८	साधु संख्या	२०००००	३०००००
२९	साध्वी संख्या	३३६०००	६३००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	१९८००	१९०००
३१	वादी संख्या	१२०००	११०००
३२	अवधिज्ञानी	९६००	९८००
३३	केवली	१५०००	१४०००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१२१५०	११६५०
३५	चौदह पूर्व धारी	२१५०	१५००
३६	श्रावक संख्या	२९३०००	२८८०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री संभवनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
३७	श्राविका संख्या	६३६०००	५२७०००
३८	शासन यक्ष नाम	त्रिमुख यक्ष	नायक यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	दुरितारि	कालिका
४०	प्रथम गणधर	चारु	वज्रनाभ
४१	प्रथम आर्या	श्यामा	अजिता
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	चैत्र शु० ५	वैशाख शु० ८
४४	मोक्ष संलेखना	६ उपवास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	१०लाखकोटि सा.	९ला०कोटि सा.
४७	गण नाम	देव	देव
४८	योनि	सर्प	छाग
४९	मोक्ष परिवार	१०००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	८ मास २८ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
१	च्यवनतिथि	श्रावण शु० २	माघ व० ६
२	विमान	जयन्त	ऊपर का ग्रैवेयक
३	जन्म नगरी	अयोध्या	कौशाम्बी
४	जन्म तिथि	वैशाख शु० ८	कार्तिक व० १२
५	पिता का नाम	मेघ	धर
६	माता का नाम	मंगला	सुसीमा
७	जन्म नक्षत्र	मघा	चित्रा
८	जन्म राशि	सिंह	कन्या
९	लाञ्छन	क्रौञ्च पक्षी	पद्म
१०	शरीरमान	३०० ध०	२५० ध०
११	आयुमान	४० लाख पूर्व	३० लाख पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	रक्त वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	अयोध्या	कौशाम्बी
१७	दीक्षा तप	नित्यभक्त	१ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीर	क्षीर

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
१९	पारणे का स्थान	पद्म के घर में	सोमदेव के०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	वैशाख शु० ९	का०व० १३
२२	छद्मस्थकाल	२० वर्ष	६ मास
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	अयोध्या	कौशाम्बी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	चौथभक्त
२५	दीक्षा वृक्ष	सालवृक्ष	छत्रवृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	चैत्र शु० ११	चैत्र शुदि १५
२७	गणधर संख्या	१००	१०७
२८	साधु संख्या	३२००००	३३००००
२९	साध्वी संख्या	५३००००	४२००००
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१८४००	१६१०८
३१	वादी संख्या	१०४०००	९६०००
३२	अवधि ज्ञानी	११०००	१००००
३३	केवली	१३०००	१२०००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१०४५०	१०३००
३५	चौदह पूर्वधारी	२४००	२३००
३६	श्रावक संख्या	२८१०००	२७६०००
३७	श्राविका संख्या	५१६०००	५०५०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
३८	शासन यक्ष नाम	तुम्बरु यक्ष	कुसुम यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	महाकाली	श्यामा
४०	प्रथम गणधर	चरम	प्रद्योतन
४१	प्रथम आर्या	काश्यपी	रति
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	चैत्र शु० ९	मगसिर व. ११
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	९० ह० कोडि सा०	९ह०को.सा०
४७	गण नाम	राक्षस	राक्षस
४८	योनि	मूषक	महिष
४९	मोक्ष परिवार	१०००	३०८
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	९मा.६दि.

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं० बोल	श्री सुपार्श्वनाथ	श्री चन्द्रप्रभ
१ च्यवन तिथि	भाद्रपद व० ८	चैत्र व० ५
२ विमान	मध्यम ग्रैवेयक	वैजयन्त
३ जन्म नगरी	बनारस	चन्द्रपुरी
४ जन्म तिथि	ज्येष्ठ शु० १२	पौष व० १२
५ पिता का नाम	प्रतिष्ठ	महासेन
६ माता का नाम	पृथिवी	लक्ष्मणा
७ जन्म नक्षत्र	विशाखा	अनुराधा
८ जन्म राशि	तुला	वृश्चिक
९ लाञ्छन	साथिया	चन्द्र
१० शरीरमान	२०० ध०	१५० ध०
११ आयुमान	२० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
१२ शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	श्वेत वर्ण
१३ पदवी	राजा	राजा
१४ पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५ सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६ दीक्षा नगरी	बनारस	चन्द्रपुरी
१७ दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८ प्रथमपारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुपार्श्वनाथ	श्री चन्द्रप्रभ
१९	पारणे का स्थान	माहेन्द्र के घर	सोमदत्त के घर
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	ज्येष्ठ शु० १३	पौष व० १३
२२	छद्मस्थ काल	९ मास	३ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	बनारस	चन्द्रपुरी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	शिरीष वृक्ष	नाग वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	फाल्गुन व० ६	फाल्गुन व० ७
२७	गणधर संख्या	९५	९३
२८	साधु संख्या	३०००००	२५००००
२९	साध्वी संख्या	४३००००	३८००००
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१५३००	१४०००
३१	वादी संख्या	८४००	७६००
३२	अवधिज्ञानी	९०००	८०००
३३	केवली	११०००	१००००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	९१५०	८०००
३५	चौदह पूर्वधारी	२०३०	२०००
३६	श्रावक संख्या	२५७०००	२५००००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुपार्श्वनाथ	श्री चन्द्रप्रभ
३७	श्राविका संख्या	४९३०००	४७६०००
३८	शासन यक्ष नाम	मातंग यक्ष	विजय यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	शान्ता	भृकुटी
४०	प्रथम गणधर	विदर्भ	दिन्न
४१	प्रथम आर्या	सोमा	सुमना
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	फाल्गुन व० ७	भाद्रपद व० ७
४४	मोक्षसंलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	९ सौ कोडि सा०	९० कोडि सा०
४७	गणनाम	राक्षस	देव
४८	योनि	मृग	मृग
४९	मोक्ष परिवार	५००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुल गोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास १९ दिन	९ मास ७ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुविधिनाथ	श्री शीतलनाथ
१	च्यवनतिथि	फाल्गुन व० ६	वैशाख व० ६
२	विमान	आनत	अच्युत
३	जन्म नगरी	काकन्दी	भद्दिलपुर
४	जन्म तिथि	मगसिर व० ५	माघ व० १२
५	पिता का नाम	सुग्रीव	दृढरथ
६	माता का नाम	रामा	नन्दा
७	जन्म नक्षत्र	मूल	पूर्वाषाढा
८	जन्म राशि	धन	धन
९	लाञ्छन	मकर	श्रीवत्स
१०	शरीरमान	१०० ध०	९० ध०
११	आयुमान	२ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	श्वेत वर्ण	स्वर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१०००	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	काकन्दी	भद्दिलपुर
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुविधिनाथ	श्री शीतलनाथ
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन
१९	पारणे का स्थान	पुष्प के घर में	पुनर्वसु के घर.
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	मगसिर व० ६	मगसिर व० १२
२२	छद्मस्थ काल	४ मास	३ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	काकन्दी	भद्दिलपुर
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	मालवृक्ष	प्रियंगु वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	कार्तिक शु० ३	पौष व० १४
२७	गणधर संख्या	८८	८१
२८	साधु संख्या	२०००००	१०००००
२९	साध्वी संख्या	१२००००	१००००६
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१३०००	१२०००
३१	वादी संख्या	६०००	५८००
३२	अवधि ज्ञानी	८४००	७२००
३३	केवली	७५००	७०००
३४	मनः पर्यव ज्ञानी	७५००	७५००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

नं०	बोल	श्री सुविधिनाथ	श्री शीतलनाथ
३५	चौदह पूर्व धारी	१५००	१४००
३६	श्रावक संख्या	२२९०००	२८९०००
३७	श्राविका संख्या	४७१०००	४५८०००
३८	शासन यक्ष नाम	अजित यक्ष	ब्रह्मा यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	सुतारिका	अशोका
४०	प्रथम गणधर	वराहक	नन्द
४१	प्रथम आर्या	वारुणी	सुयशा
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	भाद्रपद शु० ९	वैशाख व० २
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर स्थान	९ कोडी सा०	९ कोडी सा०
४७	गण नाम	राक्षस	मानव
४८	योनि नाम	वानर	नकुल
४९	मोक्ष परिवार	१०००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुल गोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	८ मास २६ दिन	९ मास ६ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री श्रेयांसनाथ	श्री वासुपूज्य
१	च्यवन तिथि	ज्येष्ठ व० ६	ज्येष्ठ शु० ६
२	विमान	अच्युत	प्राणत
३	जन्म नगरी	सिंहपुरी	चम्पापुरी
४	जन्म तिथि	फाल्गुन व० १२	फाल्गुन व०१४
५	पिता का नाम	विष्णु	वसुपूज्य
६	माता का नाम	विष्णु	जया
७	जन्म नक्षत्र	श्रावण	शतभिषा
८	जन्म राशि	मकर	कुम्भ
९	लाञ्छन	गैंडा	महिष
१०	शरीर मान	८० ध०	७० ध०
११	आयुमान	८४ लाख वर्ष	७२ लाख वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	रक्त वर्ण
१३	पदवी	राजा	कुमार
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	६०० साधु
१६	दीक्षा नगरी	सिंहपुरी	चम्पापुरी
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री श्रेयांसनाथ	श्री वासुपूज्य
१९	पारणे का स्थान	नन्द के घर में	सुनन्द के घर,
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	फाल्गुन व० १३	फाल्गुन शु० १५
२२	छद्मस्थ काल	२ मास	१ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	सिंहपुरी	चम्पापुरी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	तन्दुक वृक्ष	पाडल वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	माघ व० ३	माघ शु० २
२७	गणधर संख्या	७६	६६
२८	साधु संख्या	८४०००	७२०००
२९	साध्वी संख्या	१०३०००	१०००००
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	११०००	१००००
३१	वादी संख्या	५०००	४७००
३२	अवधि ज्ञानी	६०००	५४००
३३	केवली	६५००	६०००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	६०००	६५००
३५	चौदह पूर्वधारी	१३००	१२००
३६	श्रावक संख्या	२७९०००	२१५०००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री श्रेयांसनाथ	श्री वासुपूज्य
३७	श्राविका संख्या	४४८०००	४३६०००
३८	शासन यक्ष नाम	मनुज या ईश्वर	कुमार
३९	शासन यक्षिणी नाम	मानवी	चण्डा
४०	प्रथम गणधर	कच्छप	सुभूम
४१	प्रथम आर्या	धारिणी	धरणी
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	चम्पापुरी
४३	मोक्ष तिथि	श्रावण व० ३	अषाढ शु० १४
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	५४ सा०	३० सा०
४७	गणनाम	देव	राक्षस
४८	योनि नाम	वानर	अश्व
४९	मोक्ष परिवार	१०००	६००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	८ मास २० दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री विमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
१	च्यवन तिथि	वैशाख शु० १२	श्रावण व० ७
२	विमान	सहस्रार	प्राणत
३	जन्म नगरी	कम्पिलपुरी	अयोध्या
४	जन्म तिथि	माघ शु० ३	वैशाख व० १३
५	पिता का नाम	कृतवर्मा	सिंहसेन
६	माता का नाम	श्यामा	सुयशा
७	जन्म नक्षत्र	उत्तरा भाद्रपद	रेवती
८	जन्मराशि	मीन	मीन
९	लाञ्छन	वराह	श्येन—बाज़
१०	शरीरमान	६० ध०	५० ध०
११	आयुमान	६० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	कम्पिलपुरी	अयोध्या
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आ०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री विमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
१९	पारणे का स्थान	जय राजा के घर	विजय रा०घ०
२०	पारेण के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	माघ शु० ४	वैशाख व०१४
२२	छद्मस्थकाल	२ मास	३ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	कम्पिलपुरी	अयोध्या
२४	ज्ञानसम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	जम्बू वृक्ष	अशोकवृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	पौष शुदी ६	वैशाख व०१४
२७	गणधर संख्या	५७	५०
२८	साधु संख्या	६८०००	६६०००
२९	साध्वी संख्या	१००८००	६२०००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	९०००	८०००
३१	वादी संख्या	३६००	३२००
३२	अवधिज्ञानी	४८००	४३००
३३	केवली	५५००	५०००
३४	मनःपर्यवज्ञानी	५५००	५०००
३५	चोदहपूर्वधारी	११००	१०००
३६	श्रावक संख्या	२०८०००	२०६०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री विमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
३७	श्राविका संख्या	४२४०००	४१४०००
३८	शासन यक्ष नाम	षण्मुख यक्ष	पाताल यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	विदिता	अंकुशा
४०	प्रथम गणधर	मन्दर	जस
४१	प्रथम आर्या	धरा	पद्मा
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	आषाढ वदी ७	चैत्र शु० ५
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	९ सागरोपम	४ सागरोपम
४७	गण नाम	मानव	देव
४८	योनि नाम	छाग	हस्ती
४९	मोक्ष परिवार	६००	७००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकालमान	८ मास २१ दिन	९ मास ६ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
१	च्यवनतिथि	वैशाख शु० ७	भाद्रपद व०७
२	विमान	विजय	सर्वार्थसिद्ध
३	जन्म नगरी	रत्नपुरी	*गजपुर
४	जन्म तिथि	माघ शु० ३	ज्येष्ठ वदी १३
५	पिता का नाम	भानु	विश्वसेन
६	माता का नाम	सुव्रता	अचिरा
७	जन्म नक्षत्र	पुष्य	भरिणी
८	जन्मराशि	कर्क	मेष
९	लाञ्छन	वज्र	मृग
१०	शरीरमान	४५ ध०	४० ध०
११	आयुमान	१० लाख वर्ष	१ लाखवर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	चक्रवर्ती
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	रत्नपुरी	गजपुर

* हस्तिनापुर।

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आ०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन
१९	पारणे का स्थान	धनसिंह के घर में	सुमित्रके घरमें
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	माघ शु. १३	ज्येष्ठ व० १४
२२	छद्मस्थकाल	२ वर्ष	१ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	रत्नपुरी	गजपुर
२४	ज्ञानसम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	दधिपर्ण वृक्ष	नन्दी वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	पौष शु० १५	पौष शु० ९
२७	गणधर संख्या	४३	३६
२८	साधु संख्या	६४०००	६२०००
२९	साध्वी संख्या	६२४००	६१६००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	७०००	६०००
३१	वादी संख्या	२८००	२४००
३२	अवधिज्ञानी	३६००	३०००
३३	केवली	४५००	४३००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	४५००	४०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
३५	चौदह पूर्वधारी	९००	८००
३६	श्रावक संख्या	२०४०००	१९००००
३७	श्राविका संख्या	४१३०००	३९३०००
३८	शासन यक्ष नाम	किन्नर यक्ष	गरुड यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	कन्दर्पा	निर्वाणी
४०	प्रथम गणधर	अरिष्ट	चक्र युद्ध
४१	प्रथम आर्या	आर्यशिवा	शुचि
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	ज्येष्ठ श. ५	ज्येष्ठ व. १३
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	३ सागरोपम	०॥ पल्योपम
४७	गण नाम	देव	मानव
४८	योनि	मार्जार	हस्ती
४९	मोक्ष परिवार	१०८	९००
५०	भव संख्या	३ भव	१२ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकालमान	८ मास २६ दिन	९ मास ६दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री कुन्थुनाथ	श्री अरनाथ
१	च्यवन तिथि	श्रावण व० ९	फाल्गुन शु० १२
२	विमान	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
३	जन्म नगरी	गजपुर	गजपुर
४	जन्म तिथि	वैशाख व० १४	मगसिर शु० १०
५	पिता का नाम	सूर	सुदर्शन
६	माता का नाम	श्री	देवी
७	जन्म नक्षत्र	कृत्तिका	रेवती
८	जन्म राशि	वृष	मीन
९	लाञ्छन	बकरा	नन्दावर्त
१०	शरीरमान	३५ ध०	३० ध०
११	आयुमान	९५००० वर्ष	८४००० वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	चक्रवर्ती	चक्रवर्ती
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	गजपुर	गजपुर
१७	दीक्षा तप	२ उपावास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आ०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री कुन्थुनाथ	श्री अरनाथ
१९	पारणे का स्थान	व्याघ्रसिंह के घर	अपराजित के घर में
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	चैत्र व० ५	मगसिर शु० ११
२२	छद्मस्थ काल	१६ वर्ष	३ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्तिस्थान	गजपुर	गजपुर
२४	ज्ञान संबन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	भीलक वृक्ष	आम्र वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्तिका तिथि	चैत्र शु० ३	कार्तिक शु० १२
२७	गणधर संख्या	३५	३३
२८	साधु संख्या	६००००	५००००
२९	साध्वी संख्या	६०६००	६००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	५१००	७३००
३१	वादी संख्या	२०००	१६००
३२	अवधिज्ञानी	२५००	२६००
३३	केवली	३२००	२८००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	३३४०	२५५१
३५	चौदह पूर्वधारी	६७०	६१०

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री कुन्थुनाथ	श्री अरनाथ
३६	श्रावक संख्या	१७९०००	१८४०००
३७	श्राविका संख्या	३८१०००	३७२०००
३८	शासन यक्ष नाम	गन्धर्व	यक्षेन्द्र
३९	शासन याक्षिणी नाम	बला	धणा
४०	प्रथम गणधर	साम्ब	कुम्भ
४१	प्रथम आर्या	दामिनी	रक्षिता
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्षतिथि	वैशाख व० १	मगसिर शु० १०
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	०। पल्योपम	१,००० क्रोड़ वर्ष
४७	गणनाम	राक्षस	देव
४८	योनि	छाग	हस्ती
४९	मोक्ष परिवार	१०००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ५ दिन,	९ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री मल्लिनाथ	श्री मुनिसुव्रत
१	च्यवन तिथि	फाल्गुन शु० ४	श्रावण शु० १५
२	विमान	जयन्त	अपराजित
३	जन्म नगरी	मथुरा	राजगृही
४	जन्म तिथि	मगसिर शु० ११	ज्येष्ठ व० ८
५	पिता का नाम	कुम्भ	सुमित्र
६	माता का नाम	प्रभावती	पद्मावती
७	जन्म नक्षत्र	अश्विनी	श्रवण
८	जन्म राशि	मेष	मकर
९	लाञ्छन	कलश	कच्छप
१०	शरीरमान	२५ ध०	२० ध०
११	आयुमान	५५००० वर्ष	३०००० वर्ष
१२	शरीरका वर्ण	नीला	श्याम
१३	पदवी	कुमार	राजा
१४	पाणिग्रहण	नहीं	हुआ
१५	सहदीक्षित	३०० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	मिथिला	राजगृही
१७	दीक्षा तप	३ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आ०,	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री मल्लिनाथ	श्री मुनिसुव्रत
१९	पारणे का स्थान	विश्वसेनके घर	ब्रह्मदत्त के घर
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	मगसिर शु० ११,	फाल्गुन शु० १२
२२	छद्मस्थ काल	एक अहोरात्र	११ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	मथुरा	राजगृही
२४	ज्ञान संबन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	अशोक वृक्ष	चम्पक वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि,	मगसिर शु० ११,	फाल्गुन व० १२
२७	गणधर संख्या	२८	१८
२८	साधु संख्या	४००००	३००००
२९	साध्वी संख्या	५५०००	५००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	२९००	२०००
३१	वादी संख्या	१४००	१२००
३२	अवधिज्ञानी	२२००	१८००
३३	केवली	२२००	१८००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१७५०	१५००
३५	चौदह पूर्वधारी	६६८	५००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री मल्लिनाथ	श्री मुनिसुव्रत
३६	श्रावक संख्या	१८३०००	१७२०००
३७	श्राविका संख्या	३७००००	३५००००
३८	शासन यक्ष नाम	कुबेर यक्ष	वरुण यक्ष
३९	शासन यक्षिणी	धरणप्रिया	नरदत्ता
४०	प्रथम गणधर	अभीक्षक	मल्ली
४१	प्रथम आर्या	बधुमती	पुष्पमती
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्षतिथि	फाल्गुन शु० १२,	ज्येष्ठ व० ९
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	५४०००००० वर्ष,	६०००००० वर्ष
४७	गणनाम	देव	देव
४८	योनि	अश्व	वानर
४९	मोक्ष परिवार	५००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	हरिवंश
५२	गर्भकालमान	९ मास ७ दिन,	९ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
१	च्यवन तिथि	आश्विन शु० १५,	कार्तिक व० १२
२	विमान	प्राणत	अपराजित
३	जन्म नगरी	मथुरा	शौरीपुर
४	जन्म तिथि	श्रावण व०८	श्रावण शु० ५
५	पिता का नाम	विजय	समुद्र विजय
६	माता का नाम	वप्रा	शिवा
७	जन्मनक्षत्र	अश्विनी	चित्रा
८	जन्मराशि	मेष	कन्या
९	लाञ्छन	कमल	शंख
१०	शरीरमान	१५ ध०	१० ध०
११	आयुमान	१०००० वर्ष	१००० वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	पीला	श्याम
१३	पदवी	राजा	कुमार
१४	पाणिग्रहण	हुआ	नहीं
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	मथुरा	द्वारिका
१७	दीक्षा तप	२ उपावस	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आ०,	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
१९	पारणे का स्थान	दिन्न कुमार के०	वरदिन्न के घर में
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	आषाढ वदि ९,	श्रावण शु० ६
२२	छद्मस्थकाल	९ मास	५४ दिन
२३	ज्ञान प्राप्तिस्थान	मथुरा	गिरनार
२४	ज्ञान संबन्धी तप	२ उपवास	३ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	बकुल वृक्ष	वेडस वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि,	मगशिर शु० ११,	आश्विन व० अमा०
२७	गणधर संख्या	१७	११
२८	साधु संख्या	२००००	१८०००
२९	साध्वी संख्या	४१०००	४००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	५०००	१५००
३१	वादी संख्या	१०००	८००
३२	अवधिज्ञानी	१६००	१५००
३३	केवली	१६००	१५००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१२५०	१०००
३५	चौदह पूर्वधारी	४५०	४००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
३६	श्रावक संख्या	१७००००	१६९०००
३७	श्राविका संख्या	३४८०००	३३६०००
३८	शासन यक्षनाम	भृकुटि यक्ष	गोमेधयक्ष
३९	शासन यक्षिणीनाम	गान्धारी	अम्बिका
४०	प्रथमगणधर	शुभ	वरदत्त
४१	प्रथम आर्या	अनिला	यक्षदिन्ना
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	गिरनार
४३	मोक्षतिथि	वैशाख व० १०	आषाढ शु. ८
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	पद्मासन
४६	अन्तरमान	५००००० वर्ष	८३७५० वर्ष
४७	गणनाम	देव	राक्षस
४८	योनि	अश्व	महिष
४९	मोक्ष परिवार	१०००	५३६
५०	भव सं०	३ भव	९ भव
५१	कुलगोत्र	६ इक्ष्वाकु	हरिवंश
५२	गर्भकालमान	९ मास ८ दिन	९ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महावीर
१	च्यवनतिथि	चैत्रवदी ४	आषाढ़ शु० ६
२	विमान	प्राणत	प्राणत
३	जन्म नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
४	जन्मतिथि	पौष व० १०	चैत्र शु० १३
५	पिता का नाम	अश्वसेन	सिद्धार्थ
६	माता का नाम	वामा	त्रिशला
७	जन्मनक्षत्र	विशाखा	उत्तरा फाल्गुनी
८	जन्मराशि	तुला	कन्या
९	लाञ्छन	सर्प	सिंह
१०	शरीरमान	९ हाथ	७ हाथ
११	आयुमान	१०० वर्ष	७२ वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	नीला	पीला
१३	पदवी	कुमार	कुमार
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	३०० साधु	एकाकी
१६	दीक्षा नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणेका आ०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महावीर
१९	पारणे का स्थान	धन्य के घर में	बहुल ब्राह्मण के०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	पौष व० ११	मगसिर व० ११
२२	छद्मस्थकाल	८४ दिन	१२ वर्ष
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	वाराणसी	ऋजुवालिकानदी
२४	ज्ञानसंबन्धी तप	३ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	धातकी वृक्ष	सालवृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	चैत्र व० ४	वैशाख शु० १०
२७	गणधर सं०	१०	११
२८	साधु सं०	१६०००	१४०००
२९	साध्वी सं०	३८०००	३६०००
३०	वैक्रियलब्धिवाले	११००	७००
३१	वादी सं०	६००	४००
३२	अवधिज्ञानी	१०००	१३००
३३	केवली	१०००	७००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	७५०	५००
३५	चौदह पूर्वधारी	३५०	३००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

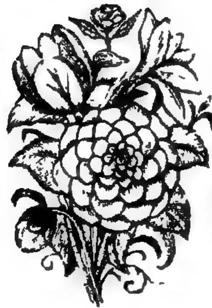
सं०	बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महावीर
३६	श्रावक सं०	१६४०००	१५६०००
३७	श्राविका सं०	३३९,०००	३१८०००
३८	शासन यक्षनाम	पार्श्व यक्ष	मातङ्ग यक्ष
३९	शासनयक्षिणी नाम	पद्मावती	सिद्धायिका
४०	प्रथम गणधर	आर्यदिन्न	इन्द्रभूति
४१	प्रथम आर्या	पुष्प चूडा	चन्दनबाला
४२	मोक्षस्थान	समेत शिखर	पावापुरी
४३	मोक्ष तिथि	श्रावण शु० ८	कार्तिक व०अमा०
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	२ उपवास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	पद्मासन
४६	अन्तरमान	२५०	चरम जिनेश्वर
४७	गणनाम	राक्षस	मानव
४८	योनि	मृग	महिष
४९	मोक्ष परिवार	३३	एकाकी
५०	भव सं०	१० भव	२७ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकालमान	९ मास ६ दिन	९मास ७दिन

इस यन्त्र के अनुसार एक एक तीर्थंकर के साथ बावन बावन बोलका सम्बन्ध जान लेना। इनमें से मातादिक कितनेक द्वार जो प्रथम न्यारे लिखे गये हैं, सो व्युत्पत्ति के कारण से लिखे हैं।

इन चौवीस तीर्थंकरों में से नववें, दशवें, ग्यारवें, बारवें, तेरवें, चौदवें अरु पंदरवें, ए सात तीर्थंकरों के निर्वाण हुए पीछे इन सातों का शासन-जो द्वादशांगवाणी रूप शास्त्र अरु साधु तथा साध्वी, श्रावक, और श्राविका, ए चतुर्विध श्री संघरूप तीर्थ-सो कितनेक काल तक प्रवृत्त होकर पीछे से व्यवच्छेद हो गया। तब तो भारत वर्ष में जैन मत का नाम भी न रहा था। तब ही से अनेक मत मतांतर और कुशास्त्रों की प्रायः प्रवृत्ति भयी सो अब ताईं होती ही चली जाती है। बहुत से लोगों ने स्वकपोलकल्पित शास्त्र बना करके पूर्व मुनि व ऋषि वा ईश्वर प्रणीत प्रसिद्ध कर दिए हैं। ऐसे तीनसौ त्रेसठ मत प्रवृत्त हुए हैं। अरु चारों आर्य वेद तो व्यवच्छेद हो गये अरु नवीन वेद बना लिये। उन नवीनों को भी कई बार लोगों ने नवी २ रचना से बनाकर उलट पुलट कर दिया। जो कुछ बन बनाके शेष रहे उनमें भी अनेक तरें के भाष्य, टीका, आदि रच कर अर्थों की गड़ बड़ कर दीनी, सो अब तांई करते ही चले जाते हैं। ए सर्व स्वरूप जहां वेदों की उत्पत्ति लिखेंगे तहां स्पष्ट करेंगे। वेद जो नाम है सो तो बहुत प्राचीन काल से है, अरु जिन पुस्तकों

का नाम वेद अब प्रसिद्ध है सो पुस्तक प्राचीन नहीं हैं, इसका प्रमाण आगे चल कर लिखेंगे ॥

इति श्री तपागच्छीय-मुनिश्रीबुद्धिविजय-शिष्य मुनि
आनन्दविजय-आत्माराम-विरचिते जैनतत्त्वादर्शे
प्रथमः परिच्छेदः सम्पूर्णः ।



द्वितीय परिच्छेद

अब दूसरे परिच्छेद में कुदेव का स्वरूप लिखते हैं—

कुदेव का स्वरूप

कुदेव उसको कहते हैं जो भगवान् तो नहीं परन्तु लोकों ने अपनी बुद्धि से जिसमें परमेश्वर का आरोप कर लिया है। सो कुदेव का स्वरूप तो उक्त देवस्वरूप से विपर्ययरूप है, सर्व बुद्धिमान् आपही जान लेंगे। परन्तु जो विस्तार से लिखा ही समझ सकते हैं तिनों के तांई लिखते हैं:—

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादि-रागाद्यंककलंकिताः।
निग्रहानुग्रहपरा-स्तेदेवाः स्युर्न मुक्तये॥
नाट्याट्टहाससंगीता-द्युपप्लवविसंस्थुलाः।
लंभयेयुः पदं शान्तं, प्रपन्नान्प्राणिनः कथम्॥

[यो० शा०, प्र० २ श्लो० ६-७]

अस्यार्थः—जिस देव के पास स्त्री होवे तथा जिसकी प्रतिमा के पास स्त्री होवे—क्योंकि जैसा पुरुष होता है उसकी मूर्त्ति भी प्रायः वैसी ही होती है। आज कल सर्व चित्रों में ऐसा ही देखने में आता है। सो मूर्त्ति द्वारा देव का भी स्वरूप प्रगट हो जाता है। इस प्रकार मूर्त्ति द्वारा तथा अन्य मतावलंबी पुरुषों के ग्रन्थानुसार समझ लेना। तथा शस्त्र,

धनुष, चक्र, त्रिशूलादि जिसके पास होवे तथा अक्षसूत्र-जपमाला, आदि शब्द से कमंडल प्रमुख होवे। फिर कैसा वो देव होवे ? राग द्वेषादि दूषणों का जिसमें चिन्ह होवे। स्त्री को जो पास रक्खेगा वो जरूर कामी और स्त्री से भोग करने वाला होगा। इस से अधिक रागी होने का दूसरा कौनसा चिन्ह है ? इसी काम राग के वश होकर कुदेवों ने स्वस्त्री, परस्त्री, बेट , माता, बहिन, अरु पुत्र की वधू प्रमुख मे अनेक कामक्रीडा कुचेष्टा करी है।

जो पुरुष मात्र होकर परस्त्री गमन करता है उसको आज कल के मतावलंबियों में से कोई भी अच्छा नहीं कहता। तो फिर परमेश्वर होकर जो परस्त्री से काम कुचेष्टा करे, तो उसके कुदेव होने में कोई भी बुद्धिमान् शंका नहीं कर सकता। जो अपनी स्त्री मे काम सेवन करता है और पर स्त्री का त्यागी है उसको भी पर स्त्री का त्यागी, धर्मी गृहस्थ तो लोक कह सकते हैं, परन्तु उसको मुनि वा ऋषि वा ईश्वर कभी नहीं कहेंगे क्योंकि जो कामाग्नि के कुण्ड में प्रज्वलित हो रहा है, उसमें कभी ईश्वरता नहीं हो सकती। इस हेतु से जो रागरूप चिन्ह करी संयुक्त है, सो कुदेव है। पुनः जो द्वेष के चिन्ह करी संयुक्त है वो भी कुदेव है। द्वेष के चिन्ह शस्त्रादि का धारण करना क्योंकि जो शस्त्र, धनुष, चक्र, त्रिशूल प्रमुख रक्खेगा उसने अवश्य ही किसी वैरी को मारना है, नहीं तो शस्त्र रखने से क्या प्रयोजन है ? अतः

जिसको वैर विरोध लगा हुवा है सो परमेश्वर नहीं हो सकता है। जो ढाल वा खड्ग रक्खेगा वह भय करी अवश्य संयुक्त होगा अरु जो आप ही भय संयुक्त है तो उसकी सेवा करने से हम निर्भय कैसे हो सकते हैं? इस हेतु से द्वेष संयुक्त को कौन बुद्धिमान् परमेश्वर कह सकता है? परमेश्वर जो है सो तो वीतराग है अरु जो राग द्वेष करी संयुक्त है सो परमेश्वर या सुदेव नहीं किन्तु कुदेव है।

तथा जिसके हाथ में जपमाला है, सो असर्वज्ञ है। क्योंकि यह असर्वज्ञता का चिन्ह है। जेकर सर्वज्ञ होता तो माला के मणकों बिना भी जपकी संख्या कर सकता। अरु जो जप को करता है, सो भी अपने से उच्चका करता है; तो परमेश्वर से उच्च कौन है जिसका वो जप करता है? इस हेतु से जो माला से जप करता है सो देव नहीं है। तथा जो शरीर को भस्म लगाता है, और धूनी तापता है, नंगा होकर कुचेष्टा करता है; भांग, अफ़ीम, धत्तूरा, मदिरा प्रमुख पीता है तथा मांसादि अशुद्ध आहार करता है; वा हस्ती, ऊंट, बैल, गर्दभ प्रमुख की सवारी करता है सोभी कुदेव है। क्योंकि जो शरीर को भस्म लगाता है, अरु जो धूनी तापता है सो किसी वस्तु की इच्छा वाला है। सो जिसका अभी तक मनोरथ पूरा नहीं हुआ सो परमेश्वर नहीं वो तो कुदेव है। अरु जो नशे, अमल की चीजें खाता पीता है, सो तो नशे के अमल में आनन्द और हर्ष ढूंढता है, परन्तु परमेश्वर तो

सदा आनन्द और सुख रूप है। परमेश्वर में वो कौनसा आनन्द नहीं था जो नशा पीने से उसको मिलता है ? इस हेतु से नशा पीने वाला अरु मांसादि अशुद्ध आहार करने वाला जो है सो कुदेव है। और जो सवारी है सो परजीवों को पीड़ा का कारण है, अरु परमेश्वर तो दयालु है, सो पर जीवों को पीड़ा कैसे देवे ? इस हेतु से जो किसी जीव की सवारी करे, सो कुदेव है। और जो कमंडल रखता है, सो शुचि होने के कारण रखता है। परन्तु परमेश्वर तो सदा ही पवित्र है उनको कमंडल से क्या काम है ? यतः—

स्त्रीसङ्गः काममाचष्टे, द्वेषं चायुधसंग्रहः।
व्यामोहं चाक्षसूत्रादि-रशौचं च कमंडलुः॥

अर्थः—स्त्री का जो संग है सो कामको कहता है, शस्त्र जो है सो द्वेष को कहना है, जपमाला जो है सो व्यामोह को कहती है, और कमंडलु जो है सो अशुचिपने को कहता है। तथा जो निग्रह करे-जिसके ऊपर क्रोध करे तिसको वध, बन्धन, मारण, नरकपात का दुःख देवे तथा रोगी, शोकी, इष्टवियोगी, निर्धन, हीन, दीन, क्षीण करे-सोभी कुदेव है। और जो अनुग्रह करे-जिसके ऊपर तुष्टमान होवे तिसको इन्द्र, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, महामांडलिक बनावे और मांडलिकादिकों को राज्यादि पदवी का वर देवे, तथा सुन्दर अप्सरा सदृश स्त्री, पुत्र परिवारादिकों का संयोग

जो करे, सो कुदेव है। क्योंकि जो ऐसा रागी अरु द्वेषी है वो मोक्ष के तांई कभी नहीं हो सकता। वो तो भूत, प्रेत, पिशाचादिकों की तरे क्रीडाप्रिय देवता मात्र है। ऐसा देव अपने सेवकों को कैसे मोक्ष दे सकता है? आपही यदि वो रागी, द्वेषी, कर्मपरतंत्र है, तो सेवकों का क्या कार्य सार सकता है? इस हेतु से वो भी कुदेव है।

पुनः कुदेव के लक्षण लिखते हैं—जो नाद, नाटक, हास्य, संगीत, इनके रस में मग्न है, बाजा बजाता है, आप नृत्य करता है, तथा औरों को नचाता है, आप हंसता अरु कूदता है, विषय बढ़ाने वाले रागों को गाता है, वाद्य अरु संगीत लोलुप है, इत्यादि मोह कर्म के वश से संसार की चेष्टा करता है, तथा जिसका स्वभाव अस्थिर हो रहा है। सो जो आपही ऐसा है तो फिर सेवकों को शांति पद कैसे प्राप्त करा सकता है। जैसे एरंड वृक्ष कल्पवृक्ष की तरें किसी की इच्छा नहीं पूरी कर सकता। यदि किसी मूढ पुरुष ने एरंड को कल्पवृक्ष मान लिया तो क्या वो कल्पवृक्ष का काम दे सकता है? ऐसे ही किसी मिथ्यादृष्टि पुरुष ने जो कुदेव को परमेश्वर मान लिया तो क्या वो परमेश्वर हो सकता है ? कभी नहीं। इस वास्ते प्रथम परिच्छेद में जो लक्षण परमेश्वर के लिखे हैं तिनही लक्षणों वाला परमेश्वर देव है। शेष सर्व कुदेव हैं।

प्रश्नः—हमने तो ऐसा सुन रक्खा है कि जैनी ईश्वर को नहीं मानते। उनका जो मत है, सो अनीश्वरीय है। परन्तु

तुमने तो प्रथम परिच्छेद में कई जगह पर अर्हंत भगवंत परमेश्वर लिखा है अरु प्रथम परिच्छेद तो भगवान् ही के स्वरूप कथन में समाप्त किया है। यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

जैन धर्म्म और ईश्वर

उत्तरः—हे भव्य ! जो कोई कहते हैं कि जैनमतावलम्बी ईश्वर को नहीं मानते उनका ऐसा कहना मिथ्या है। उन्होंने कभी जैन मत का शास्त्र पढ़ा वा सुना न होगा, तथा किसी बुद्धिमान् जैनी का संसर्ग भी न करा होगा। जेकर जैन मत का शास्त्र पढ़ा वा सुना होता तो कभी ऐसा न कहते कि जैनी ईश्वर को नहीं मानते। जेकर जैनी ईश्वर को न मानते होते तो यह जो श्लोक लिखे जाते हैं, वो किस की स्तुति के हैं ?

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति संतः ॥

[भक्तामरस्तोत्र—श्लो० २४]

अस्यार्थः—हे जिन ! 'संतः'—सत्पुरुष 'त्वां'—तेरे को 'अव्ययम्'—अव्यय 'प्रवदंति'—कहते हैं। अव्यय-अपचय को जो न प्राप्त

होवे, सो द्रव्यार्थ * नय के मत मे अव्यय–तीनों कालों में एक स्वरूप है। 'विभुम्'–विभाति–शोभता है परमेश्वरता करी सो विभु, अथवा विभवति–समर्थ होवे कर्मोन्मूलन करके सो विभु, अथवा इन्द्रादिक देवताओं का जो स्वामी सो विभु, सत्पुरुष इस वास्ते तुझको विभु कहते हैं। पुनः कैसे तुझको ? 'अचिन्त्यम्'–अध्यात्मज्ञानी भी तुमारा चिंतन करने को समर्थ नहीं, इस वास्ते सत्पुरुष तुझको अचिन्त्य कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'असंख्यम्'–तुमारे गुणों की संख्या–गिणती नहीं कि कितने गुण हैं, इस हेतु से सत्पुरुष तुझको असंख्य कहते हैं । फिर कैसे तुझको ? 'आद्यम्'–आदि में जो होवे–सर्व लोकव्यवहार का प्रवर्त्तक होने से सन्त तेरे को आद्य कहते हैं। अथवा अपने तीर्थ को आदि करने से आद्य। फिर कैसे तुझको ? 'ब्रह्माणम्'–अनंत आनंद करी सर्व से अधिक वृद्धि वाला होने से सत्पुरुष तुझको

* वस्तु में रहे हुए अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का सापेक्ष दृष्टि से निरूपण करने वाले विचार को नय कहते हैं। वह द्रव्य और पर्याय भेद से दो प्रकार का है। केवल द्रव्य–मूल वस्तु का सापेक्ष दृष्टि से निरूपण करने वाला विचार द्रव्यार्थिक नय है। वस्तु में रहे हुए अनन्त धर्मों का सापेक्ष दृष्टि से निरूपण करने वाले विचार को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। यह दोनों नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत के भेद से सात प्रकार के हैं । विशेष स्वरूप के लिये देखो परि० नं० १–घ।

ब्रह्मा कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'ईश्वरम्'-सर्व देवताओं का स्वामी—ठाकुर होने से ईश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'अनन्तम्'-अनंत ज्ञान, दर्शन के योग तें अनन्त, अथवा नहीं है अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनंत ज्ञान, अनंतबल, अनंत सुख, अनंतजीवन इन चारों करी संयुक्त होने से अनंत कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'अनंगकेतुम्'-कामदेव को केतु के उदय समान-नाशकारक होने से अनंगकेतु कहते हैं, अथवा नहीं हैं अङ्ग-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर रूपी चिन्ह जिसके सो अनंग केतु। यह *भविष्य नैगम के मत करी कहते हैं फिर कैसे तुझको ? 'योगीश्वरम्'-योगी-जो चार ज्ञान के धरनारे, तिनों का ईश्वर होने से योगीश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुझ को ? 'विदितयोगम्'-जाना है सम्यक् ज्ञानादि का रूप जिसने, अथवा ध्यानादि योग जिसने, अथवा विशेष करके दित—खण्डित किया है कर्म का संयोग जीव के साथ जिसने ऐसे तुझको विदितयोग कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'अनेकम्'-ज्ञान करके सर्वगत होने से, अथवा अनेक सिद्धों के एकत्र रहने से, अथवा गुण पर्याय की अपेक्षा करके, अथवा ऋषभादि व्यक्ति भेद से तुझको अनेक कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'एकम्'-अद्वितीय—उत्तमोत्तम अथवा जीव द्रव्यापेक्षया एक कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'ज्ञानस्वरूपम्'-

* देखो परि० नं १—घ०

ज्ञान-क्षायिक केवल है स्वरूप जिसका, अतः ज्ञानस्वरूप कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'अमलम्'—नहीं है अष्टादश दोषरूप मल जिसके. इस वास्ते अमल कहते हैं। ए पूर्वोक्त पंद्रां विशेषण ईश्वर के *मतांतरों में प्रसिद्ध हैं।

तथा:—

"बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित ! बुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोसि ॥

* पाठक तुलना करें—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥
[भगवद्गीता अ० ११ श्लो० १८]

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयंति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः ॥
[भक्ता० स्तो० श्लो० २३]

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
[श्वेता० उप०, अ० ३. मंत्र ८]

अर्थः—हे विबुधार्चित ! विबुध-देवताओं करी पूजित ! बुद्ध-सातों सुगतों में से कोई एक सुगत-धर्मबुद्धि प्रगट करने से सो बुद्ध तूंही है। तीनों भुवनों में सुख करने से तूं शंकर है। शं-सुख को जो करे सो शंकर। हे धीर ! शिव-मोक्ष तिसका जो मार्ग-ज्ञानदर्शनचारित्ररूप-तिसका विधान करने से तूं धाता-विधाता-ब्रह्मा है। हे भगवन् ! तूंही व्यक्त-प्रगट रूप से पुरुषों में उत्तम है। इत्यादि लाखों श्लोक परमेश्वर की स्तुति के हैं। जेकर जैनी ईश्वर को न मानते तो इन श्लोकों से उन्होंने किसकी स्तुति करी है ? इस कारण से जो कहते हैं कि जैनी लोग ईश्वर को नहीं मानते, वे प्रत्यक्ष मृषावादी हैं।

प्रश्नः—बहुत अच्छा हुआ जो मेरे मनका संशय दूर हुआ। परन्तु एक बात का संशय मेरे मनमें है कि तुमने ईश्वर तो मान्या, परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर जैनमत में मान्या है वा नहीं ?

उत्तरः—हे भव्य ! जगत् का कर्त्ता जो ईश्वर सिद्ध हो जावे तो जैनी क्यों नहीं मानें ? परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

जगत्कर्तृत्व-मीमांसा

प्रश्नः—जे कर किसी प्रमाण से ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता तो, नवीनवेदांती, नैयायिक, वैशेषिक, पातंजल, नवीनसांख्य, ईसाई, मुसलमान प्रमुख अनेक

मतावलंबी पुरुष, ईश्वर को जगत् का कर्त्ता वा सर्व वस्तु का कर्त्ता क्यों मानते हैं ? क्या इन में से कोई भी ईश्वर के जगत्कर्त्तापने का निषेध करने वाला समझदार नहीं भया ?

उत्तर:-हे भव्य ! जैन, बौद्ध, प्राचीनसांख्य, पूर्वमीमांसाकार जैमिनी मुनि के संप्रदायी भट्ट, प्रभाकर, इत्यादि अनेक मतावलंबियों में से कोई भी समझदार न भया जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता स्थापन करता।

प्रश्न:—जैन बौद्ध अरु प्राचीन सांख्यादि उक्त मतावलंबी सर्व अज्ञानी हुए हैं, इस हेतु से ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानते।

उत्तर:—नवीन वेदांती, नैयायिक अरु वैशेषिकादि यह भी सर्व अज्ञानी हुए हैं, जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं।

प्रश्न:—ईश्वर जगत् का वा सर्व वस्तु का कर्त्ता है, ऐसे जो मानिये, तो क्या दूषण है ?

उत्तर:—ईश्वरको जगत् का कर्त्ता वा सर्व वस्तु का कर्त्ता मानने में बहुत दूषण आते हैं।

प्रश्न:—तुम तो अपूर्व बात सुनाते हो, हमने तो कदापि नहीं सुना कि ईश्वर को जगत्कर्त्ता वा सर्व वस्तुका कर्त्ता मानने में दूषण आता है। अबतो आपको कहना चाहिये कि जगत् का कर्त्ता मानने से ईश्वर में क्या दूषण आता है ?

उत्तर:—हे भव्य ! प्रथम तुम यह बात कहो कि तुम कौनसा ईश्वर जगत् का कर्त्ता मानते हो ?

प्रश्नः—क्या ईश्वर भी कई एक तरें के हैं, जो आप हमसे ऐसा पूछते हो?

उत्तरः—क्या तुम नहीं जानते हो कि दो तरेंके ईश्वर अन्य मतावलंबियों ने माने हैं? एक तो जगदुत्पत्ति से पहिले केवल एक ही ईश्वर था। जगत् का उपादानादिक कोई भी कारण वा दूसरी वस्तु नहीं थी—एक ही शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दादि स्वरूप युक्त परमेश्वर था। कई एक जीवों को तो ऐसा ईश्वर, जगत् वा सर्व वस्तु का रचने वाला अभिमत है। और दूसरों ने तो जीव, परमाणु, आकाश, काल, दिशादि सामग्री वाला—एतावता एक तो उक्त विशेषण संयुक्त ईश्वर और दूसरी सामग्री जिससे जगत् रचा जावे, ए दोनों वस्तु अनादि हैं—एतावता एक तो ईश्वर और दूसरी जगत् उत्पन्न करने की सामग्री, ए दोनों किसी ने बनाये नहीं—ऐसा माना है। तुम को इन दोनों मतों में से कौनसा मत सम्मत है?

निरपेक्ष ईश्वर-कर्तृत्वखण्डन

पूर्वपक्षः—हमको तो प्रथममत सम्मत है, क्योंकि वेदादि शास्त्रों में ऐसा लिखा है:—

* एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आका-

* उस सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा (ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से

शाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । [तै० उ०, २—१]

तथा—*सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । [छा० उ०, ६—२—१]

† तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । [छा० उ०, ६—२—३]

‡ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमापरोयत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्म—

पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियें, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, और वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुआ । सो यह पुरुष अन्नरसमय है ।

* हे सौम्य ! यह दृश्यमान जगत् उत्पत्ति से प्रथम सत् रूप ही था, वह सत् एक और अद्वितीय अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य है ।

† उस—परमात्मा ने यह इच्छा की कि मै एक से अनेक हो जाऊं ।

‡ तब—मूलारम्भ में असत् नहीं था और सत् भी नहीं था । अन्तरिक्ष नही था और उसके परे का आकाश भी नहीं था । किसने किस पर आवरण डाला ? कहां ? किसके सुख के लिए ? अगाध और गहन जल कहां था ?

अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

[ऋग्वेद मं० १०, सू० १२९, मन्त्र १]

† आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चिन्मिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति।

[ऐत० उ०, १—१]

इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है, कि सृष्टि से पहिले केवल एक ईश्वर ही था, न जगत् था और न जगत् का कारण था, एक ही ईश्वर शुद्ध स्वरूप था। तथा ईसाई वा मुसलमान मतवाले भी ऐसे ही मानते हैं। इस हेतु से हम प्रथम पक्ष मानते हैं।

उत्तरः—हे पूर्वपक्षी! तुमारा यह कहना ईश्वर को बड़ा कलंकित करता है।

पूर्वपक्षः—जगत् के रचने से ईश्वर को क्या कलंक प्राप्त होता है?

उत्तरपक्षः—प्रथम तो जगत् का उपादान कारण नहीं है, इस हेतु से जगत् कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका उपादान कारण नहीं है, सो कार्य कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता जैसे गधे का सींग।

पूर्वपक्षः—ईश्वर ने अपनी शक्ति, नामांतर कुदरत से

† प्रथम ब्रह्म ही था और कुछ नहीं था। उस ने इच्छा की कि सृष्टि को उत्पन्न करूं।

जगत् को रचा है, ईश्वर की जो शक्ति है, सोई उपादान कारण है।

उत्तरपक्षः—ईश्वर की जो शक्ति है सो ईश्वर से भिन्न है, वा अभिन्न है ? जे कर कहोगे कि भिन्न है, तो फिर जड है वा चेतन है ? जेकर कहोगे कि जड है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? जेकर कहोगे कि नित्य है, तो फिर यह जो तुमारा कहना था कि सृष्टि से पहिले केवल एक ईश्वर था, दूसरा कुछ भी नहीं था, यह ऐसा हुआ कि जैसे उन्मत्तों का वचन अर्थात् अपने ही वचन को आपही झूठा करा। जेकर कहोगे कि अनित्य है, तो फिर उसका उपादान कारण ईश्वर की और शक्ति हुई, तिस शक्ति को उत्पन्न करने वाली और शक्ति हुई, इसी तरें अनवस्थादूषण आता है, जेकर कहोगे कि चेतन है तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? दोनों ही पक्षों में पूर्वोक्त अपरापरस्ववचनव्याघात अरु अनवस्था दूषण है। जेकर कहोगे कि ईश्वरशक्ति ईश्वर से अभिन्न है, तो सर्व वस्तु को ईश्वर ही कहना चाहिये। जब सर्व वस्तु ईश्वर ही हो गई, तो फिर अच्छा और बुरा, नरक और स्वर्ग, पुराय और पाप, धर्म और अधर्म, ऊंच नीच, रङ्क राजा, सुशील और दुःशील, राजा और प्रजा, चोर और साध— संत, सुखी और दुःखी, इत्यादिक सब कुछ ईश्वर ही आप बना। तब तो ईश्वर ने जगत् क्या रचा, आप ही अपना सत्यानाश कर लिया—ए प्रथम कलंक ईश्वर

को लगता है। तथा जब ईश्वर आप ही सब कुछ बन गया, तो फिर वेदादिक शास्त्र क्यों बनाए ? अरु उनके पढ़ने से क्या फल हुआ ? ए दूसरा कलंक। तथा अपने आप ज्ञानी होने वास्ते वेदादिक शास्त्र बनाए अर्थात् पहिले तो अज्ञानी था—ए तीसरा कलंक। तथा शुद्ध से अशुद्ध बना, और जो जगत् रूप होने की मेहनत करी, सो निष्फल हुई—ए चौथा कलंक। कोई वस्तु जगत में अच्छी वा बुरी नहीं—ए पाचवां कलंक। क्यों अपने आपको संकट में डाला ? ए छठा कलंक। इत्यादि अनेक कलंक तुम ईश्वर को लगाते हो।

पूर्वपक्षः—ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, इस हेतु से ईश्वर, बिनाही उपादान कारण के जगत् रच सकता है।

उत्तरपक्षः—यह जो तुमारा कहना है सो प्यारी भार्या वा मित्र मानेगा परन्तु प्रेक्षावान् कोई भी नहीं मानेगा, क्योंकि इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। परन्तु जिसका उपादान कारण नहीं वो कार्य कदे भी नहीं हो सकता; जैसे गधे का सींग, ऐसा प्रमाण तुमारे कहने को बाधने वाला तो है। जेकर हठ करके स्वकपोलकल्पित ही को मानोगे तो परीक्षा वालों की पंक्ति में कदे भी नहीं गिने जाओगे। तथा इस तुमारे कहने में इतरेतराश्रय दूषण रूप वज्र का प्रहार पड़ता है; यथा सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध हो जावे तो सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे, अब सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे

तो सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध होवे। इन दोनों में से जब तक एक सिद्ध न होवे तब तक दूसरा कभी सिद्ध नहीं होता। तथा इस तुमारे कहने में *चक्रक दूषण भी होता है, जैसे यदा सृष्टि का कर्त्ता सिद्ध होवे, तदा सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे, जब सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे तब सृष्टि से पहिले सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध होवे, जब सृष्टि से पहिले शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध होवे तब सृष्टि कर्त्ता सिद्ध होवे–ऐसे प्रगट चक्रक दूषण है।

पूर्वपक्षः—ईश्वर त प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, फिर तुम उसको सृष्टिकर्त्ता क्यों नहीं मानते?

उत्तरपक्षः—जे कर ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होवे, तो किसी को भी अमान्य न होवे, और तुमारा हमारा ईश्वर विषयक विवाद कभी नहीं होवे, क्योंकि प्रत्यक्ष में विवाद नहीं होता है। तथा ईश्वर का प्रत्यक्ष देखना भी तुमारे वेदमंत्र से विरुद्ध है। तथा च वेदमंत्रः—

---

* एक अनिष्ट प्रसङ्ग रूप दोष है, जो तीन या अधिक सापेक्ष विषयों में प्रसक्त होता है अर्थात् पहला दूसरे की, दूसरा तीसरे की और तीसरा पहिले की अपेक्षा रखता है। फिर पहला दूसरे की और दूसरा तीसरे की, इस प्रकार यह दोष चक्रवत् बराबर चलता रहता है।

*अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्याऽस्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

[श्वेता० उ०, ३—१९]

इस मन्त्र में कहा है कि ईश्वर को जानने वाला कोई भी नहीं है।

पूर्वपक्ष:—बिना कर्त्ता के जगत् कैसे हो गया? इस अनुमान प्रमाण से ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता सिद्ध होता है। सो तुम क्यों नहीं मानते?

उत्तरपक्ष:—इस तुमारे अनुमान को दूसरे ईश्वर पक्ष में खण्डन करेंगे। यद्यपि उक्त प्रकार से सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित, केवल एक परमेश्वर नहीं सिद्ध हुआ, तो भी हम आगे चलते हैं। कि जब ईश्वर ने यह जीव रचे थे तब १-निर्मल रचे थे? २-पुण्य वाले रचे थे? ३-पाप वाले रचे थे? ४-मिश्रित पुण्य पाप—अर्द्धो अर्द्ध पुण्य पाप वाले रचे थे? ५-पुण्य थोड़ा पाप अधिक वाले रचे थे?

* वह—परमात्मा हाथ और पाओं के विना ग्रहण करता और चलता है, आंख के विना देखता है, कान के विना सुनता है। जो कुछ जानने योग्य है वह सब जानता है और उसको जानने वाला कोई नहीं है। उसे प्रथम—आद्य और महान्—श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं।

६-किंवा पुण्य अधिक पाप थोडे वाले रचे थे ? जे कर प्रथम पक्ष ग्रहण करोगे तो जगत् में सर्व जीव निर्मल ही चाहिये, फिर वेदादि शास्त्रों द्वारा उनको उपदेश करना वृथा है, अरु वेदादि शास्त्रों का कर्त्ता भी मूढ सिद्ध हो जावेगा, क्योंकि जब आगे ही जीव निर्मल हैं तो उनके वास्ते शास्त्र काहे को रचने थे। क्योंकि जो वस्त्र निर्मल होता है तिसको कोई भी बुद्धिमान् धोता नहीं, जे कर धोवे तो महामूढ है। इस कारण से जो निर्मल जीवों के उपदेश निमित्त शास्त्र रचे सो भी मूढ है।

पूर्वपक्षः—ईश्वर ने तो जीवों को शुद्ध निर्मल एतावता अच्छा ही बनाया था, परन्तु जीवों ने अपनी इच्छा से अच्छा वा बुरा-भूण्डा काम कर लिया है। इस में ईश्वर का कुछ दोष नहीं ?

उत्तर पक्षः—जब ईश्वर ने जीवों में अच्छा वा बुरा काम करने की शक्ति नहीं रची, तो फिर जीवों में पुण्य वा पाप करने की शक्ति कहां से आई ?

पूर्वपक्षः—सर्व शक्तियां तो जीव में ईश्वर ने ही रची हैं। परन्तु जीवों को बुरा काम करने में प्रवृत्त नहीं करता। बुरे कामों में जीव आपही प्रवृत्त हो जाते हैं। जैसे किसी गृहस्थ ने अपने प्रिय पुत्र बालक को खेलने वास्ते एक खिलौना दिया है, परन्तु जो वो बालक उस खिलौने से अपनी आंख निकाल लेवे तो माता पिता का क्या दूषण है ? तैसे ही

जीवों को ईश्वर ने जो हाथ, पग, प्रमुख वस्तु दी हैं, सो नित्य केवल धर्म करने के कारण दी हैं। पीछे जो जीव उन से, अपनी इच्छा से, पाप कर लेवे तो इस में ईश्वर का क्या दूषण है ?

उत्तरपक्षः—हे भव्य! यह जो तुमने बालक का दृष्टांत दिया सो यथार्थ नहीं, क्योंकि बालक के माता पिता को यह ज्ञान नहीं है, कि यदि हम इस बालक के खेलने वास्ते खिलौना देते हैं, तो हमारा बालक इस खिलौने से अपनी आंख फोड़ लेगा। जेकर बालक के माता पिता को यह ज्ञान होता कि हमारा बालक, इस खिलौने से अपनी आंख फोड़ लेगा तो माता पिता कभी उस के हाथ में खिलौना न देते। जे कर जान करके देवें तो वो माता पिता नहीं किन्तु उस बालक के परम शत्रु हैं। इसी तरें ईश्वर माता पिता तुल्य है अरु तुम, हम उसके बालक हैं। जे कर ईश्वर जानता था कि मैं ने इस को रचा—इसके तांई हाथ, पग, मन, इत्यादि सामग्री दीनी है, इस जीव ने इस सामग्री से बहुत पाप करके नरक जाना है तो फिर ईश्वर ने उस जीव को क्यों रचा ? जे कर कहोगे कि ईश्वर यह बात नहीं जानता था कि मेरी धर्म करने के लिये दी हुई सामग्री से पाप करके यह जीव नरक जावेगा, तो फिर ईश्वर तुमारे कहने ही से अज्ञानी असर्वज्ञ सिद्ध होता है। जे कर कहोगे कि ईश्वर जानता था कि यह जीव मेरी दी हुई सामग्री से पाप करके नरक में जायगा तो

फिर हमारा रचने वाला ईश्वर परम शत्रु हुआ कि नहीं ? बिना प्रयोजन रंक जीवों से सामग्री द्वारा पाप करा के क्यों उन को नरक में डाले ? सामग्री द्वारा प्रथम पाप कराना और पीछे नरकपात का दंड देना—इस तुमारे कहने मे ईश्वर से अधिक अन्यायी कोई नहीं, क्योंकि उस ने जीव को प्रथम तो रचा, फिर नरक में डाला। बस तुमने ईश्वर को ये ही—अन्यायी, असर्वज्ञ, निर्दयी, अज्ञानी, वृथा मेहनती रूप कलंक दीने, इस वास्ते निर्मल जीव ईश्वर ने नहीं रचे। ए प्रथम पक्षोत्तर।

अथ दूसरा पक्षोत्तर:—जेकर कहोगे कि ईश्वर ने पुण्य वाले ही जीव रचे हैं तो यह भी तुमारा कहना मिथ्या है। क्योंकि जब पुण्य वाले ही सर्व जीव थे तो गर्भ में ही अंधे, लंगड़े, लूले, बहिरे होना, भूण्डा रूप, नीच वा निर्धन के कुल में उत्पन्न होना, जाव जीव दुःखी रहना, खाने पीने को पूरा न मिलना, महा कष्टकारक मेहनत करके पेट भरना—यह पुण्य के उदय से नहीं हो सकते। अरु विना ही पुण्य के करे जीवों को ईश्वर ने पुण्य क्यों लगा दिया ? जे कर बिना ही करे जीवों को ईश्वर ने पुण्य लगा दिया तो फिर बिना ही धर्म करे जीवों को स्वर्ग तथा मोक्ष क्यों नहीं पहुंचा देता ? शास्त्रोपदेश कराय के, भूखों मराय के, तृष्णा छुडाय के, राग द्वेष मिटाय के, घर बार छुडाय के, साधु बनाय के, टुकड़े मंगाय के, दया, दम, दान, सत्यवचन, चोरी का त्याग, स्त्री

का त्याग, इत्यादिक अनेक साधन कराय के, पीछे स्वर्ग मोक्ष में पहुंचाना—यह संकट ईश्वर ने व्यर्थ खड़ा करके क्यों जीवों को दुःख दीना। इस बात से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि ईश्वर को कुछ भी समझ नहीं।

अथ तृतीय पक्षोत्तरः—जे कर कहोगे कि ईश्वर ने पाप संयुक्त ही जीव रचे हैं, तो फिर बिना ही जीवों के करे पाप लगा दिया। इस तरे जब ईश्वर ने ही हमारा सत्यानाश करा, तो हम किस आगे विनति करें कि बिना गुनाह हमको यह ईश्वर पाप लगाता है, तुम इस को मने करो। जो बिना ही करे पाप लगा देवे, ऐसे अन्यायी ईश्वर का तो कभी नाम ही न लेना चाहिये। तथा जे कर ईश्वर ने पाप संयुक्त ही सर्व जीव रचे हैं तो राजा, अमात्य—मंत्री, श्रेष्ठी, सेनापति, धनवानों के घर में उत्पन्न होना, नीरोगकाय, सुन्दर रूप, सुन्दर संहनन, घर में आदर, बाहिर यशोकीर्त्ति पंचेन्द्रिय विषय भोग, इत्यादिक सामग्री पाप से कदे भी संभव नहीं होती। इस वास्ते जीवों को केवल पापवान् ईश्वर ने नहीं रचा।

अथ चतुर्थ पक्षोत्तरः—जे कर कहोगे कि अर्द्धोऽर्द्ध पुण्य पाप वाले जीव ईश्वर ने रचे हैं तो यह पक्ष भी अच्छा नहीं, क्योंकि आधे सुखी, आधे दुःखी ऐसे भी सर्व जीव देखने में नहीं आते।

अथ पंचम पक्षोत्तरः—पांचवा पक्ष भी ठीक नहीं

क्योंकि सुख थोड़ा और दुःख बहुत ऐसे भी सर्व जीव देखने में नहीं आते, परन्तु सुख बहुत अरु दुःख अल्प, ऐसे बहुत जीव देखने में आते हैं।

अथ षष्ठ पक्षोत्तरः—छठा पक्ष भी समीचीन नहीं क्योंकि सुख बहुत अरु दुःख थोड़ा ऐसे भी सर्व जीव देखने में नहीं आते परन्तु दुःख बहुत अरु सुख अल्प, ऐसे बहुत जीव देखने में आते हैं। इन हेतुओं से ईश्वर जीवों को किसी व्यवस्था वाला नहीं रच सकता, तो फिर ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता क्योंकर सिद्ध हो सकता है। कभी नहीं हो सकता। तथा जब ईश्वर ने सृष्टि नहीं रची थी तब ईश्वर को क्या दुःख था? अरु जब सृष्टि रची तब क्या सुख हुआ?

पूर्वपक्षः—ईश्वर तो सदा ही परम सुखी है। क्या ईश्वर में कुछ न्यूनता है कि उस न्यूनता के पूर्ण करने को सृष्टि रचे, वो तो जगत में अपनी ईश्वरता प्रगट करने को सृष्टि रचता है।

उत्तरपक्षः—जब ईश्वर ने सृष्टि नहीं रची थी तब तो ईश्वर की ईश्वरता प्रगट नहीं थी, अरु जब सृष्टि रची तब ईश्वरता प्रगट भई, तो प्रथम जब ईश्वर की ईश्वरता प्रगट नहीं भई थी तब तो ईश्वर बड़ा उदास, असंपूर्णमनोरथ और ईश्वरता को प्रगट करने में विह्वल था, इस हेतु से अवश्य ईश्वर को दुःख होना चाहिये। फिर जब ईश्वर सृष्टि से पहिले ऐसा दुःखी था तो खाली क्यों बैठ रहा था? इस सृष्टि

से पहिले अपर सृष्टि रचके क्यों नहीं अपना दुःख दूर करा ?

पूर्वपक्षः—ईश्वर ने जो सृष्टि रची है सो जीवों को धर्म के द्वारा अनंत सुख हो इस परोपकार के वास्ते ईश्वर ने सृष्टि रची है।

उत्तरपक्षः—धर्म कराके जीवों को सुख देना यह तो तुमारे कहने से परोपकार हुआ परन्तु जो पाप करके नरक गये उनके उपरि क्या उपकार करा ? उनको दुःखी करने से क्या ईश्वर परोपकारी हो सकता है ?

पूर्वपक्षः—उनको नरक से निकाल के फिर स्वर्ग में स्थापन करेगा।

उत्तरपक्षः—तो फिर उसने प्रथम ही नरक में क्यों जाने दिये

पूर्वपक्षः—ईश्वर ही सब कुछ पुण्य पापादि कराता है, जीव के अधीन कुछ भी नहीं। ईश्वर जो चाहता है सो कराता है, जैसे काठ की पुतली को बाज़ीगर जैसे चाहता है, तैसे नचाता है. पुतली के कुछ अधीन नहीं।

उत्तरपक्षः—जब जीव के कुछ अधीन नहीं, तो जीव को अच्छे बुरे का फल भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि जो कोई सरदार किसी नौकर को कहे, कि तुम यह काम करो, फिर नौकर सरदार के कहने से वो काम करे, अरु वो काम अच्छा है वा बुरा है तो क्या फिर वो सरदार उस नौकर को कुछ दंड आदि दे सकता है ? कुछ भी नहीं दे सकता। ऐसे

ही ईश्वर की आज्ञा से जब जीव ने पुण्य वा पाप करे, तो फिर पुण्य पाप का फल जीव को नहीं होना चाहिये। जब पुण्य पाप जीव के करे न हुए तब स्वर्ग अरु नरक भी जीव को न होंगे, तब जीव को नरक, स्वर्ग, तिर्यग् अरु मनुष्य, ए चार गति भी न होंगी, जब चार गति न होवेंगी, तब संसार भी न होगा; जब संसार न होगा तब तो वेद, पुरान, कुरान, तौरेत, जबूर, इंजील प्रमुख शास्त्र भी न होंगे; जब शास्त्र न होंगे तब शास्त्र का उपदेशक भी न होगा; जब शास्त्र का उपदेशक भी नहीं तो ईश्वर भी नहीं; जब ईश्वर ही नहीं तो फिर सर्व शून्यता सिद्ध भई। तब बताओ कि ए कलंक क्योंकर मिटेगा ?

पूर्वपक्षः—यह जो जगत् है सो बाज़ीगर की बाज़ीवत् है, अरु ईश्वर इस का बाज़ीगर है। सो इस जगत् को रच कर ईश्वर इस खेल से खेलता—क्रीडा करता है, नरक, स्वर्ग, पुण्य और पाप कुछ नहीं।

उत्तरपक्षः—जब ईश्वर ने क्रीडा ही के वास्ते जगत् रचा, तो क्रीडा ही मात्र फल होना चाहिये, परन्तु इस जगत् में तो कुष्ठी, रोगी, शोकी, धनहीन, बलहीन, महादुःखी जीव महा-प्रलाप कर रहे हैं, जिनको देखने से दया के वश होकर हमारे रोंगटे—रोम खडे होते हैं। तो क्या फिर ईश्वर को इन दुःखी जीवों को देख कर दया नहीं आती ? जब ईश्वर को दया नहीं तो फिर क्या निर्दयी भी कभी ईश्वर हो सकता

है ? अरु जो क्रीडा करने वाला है, सो बालक की तरे रागी, द्वेषी, अज्ञ होता है। जब राग द्वेष है, तो उस में सर्व दूषण हैं। जब आप ही औगुणों से भरा है, तो वो ईश्वर काहे का ? वो तो संसारी जीव है। अरु जब राग द्वेष वाला होवेगा तब सर्वज्ञ कदापि न होवेगा; जब सर्वज्ञ नहीं तो उसको ईश्वर कौन बुद्धिमान् कह सकता है ?

पूर्वपक्षः—जीवों के करे हुए पुण्य के अनुसार ईश्वर दंड देता है। इस हेतु से ईश्वर को क्या दोष है ? जैसा जिसने किया, वैसा ही उस को फल दिया।

उत्तरपक्ष—इस तुमारे कहने से यह संसार अनादि सिद्ध हो गया, अरु ईश्वर कर्त्ता नहीं, ऐसा सिद्ध हुआ। वाह रे मित्र ! तैंने अपने हाथ से ही अपने पांव पर कुठाराघात किया; क्योंकि जो जीव अब हैं, अरु जो कुछ इन को यहां फल मिला है, सो पूर्व जन्म में करा हुआ ठहरा, अरु जो पूर्व जन्म था, उस में जो दुःख सुख जीव को मिला था, वो उस से पूर्व जन्म में करा था, इसी तरे पूर्व पूर्व जन्म में दुःख सुख उपजाने वाला कर्म करना अरु उत्तरोत्तर जन्म में सुख दुःख का भोगना इसी तरे संसार अनादि सिद्ध होता है। तो फिर अब सोचो कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर कैसे सिद्ध हुआ ?

पूर्वपक्षः—हम तो एक ही परम ब्रह्म पारमार्थिक सद्रूप मानते हैं।

उत्तरपक्षः—जेकर एक ही परम ब्रह्म सद्रूप है, तो फिर यह जो सरल, रसाल, प्रियाल, हिंताल, ताल,

तमाल, प्रवाल, प्रमुख पदार्थ अग्रगामि रूप करके प्रतीत होते हैं, वह क्योंकर सत् स्वरूप नहीं हैं ?

पूर्वपक्षः—ए पूर्वोक्त जो पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे सर्व मिथ्या हैं तथाच अनुमान–*प्रपंच मिथ्या है, प्रतीत होने से जो ऐसा है सो ऐसा है, यथा सीप में चांदी का प्रतीत होना, तैसा ही यह प्रपंच है। इस अनुमान से प्रपंच मिथ्या रूप है, अरु एक ब्रह्म ही पारमार्थिक सद्रूप है।

उत्तरपक्षः—हे पूर्वपक्षी ! इस अनुमान के कहने से तूं तीक्ष्ण बुद्धिमान् नहीं है। सोई बात कहते हैं। यह जो प्रपंच तुमने मिथ्यारूप माना है सो मिथ्या तीन तरे का होता है। एक तो अत्यंत असत् रूप, अरु दूसरा, है तो कुछ और, परन्तु प्रतीति और तरे होवे, अरु तीसरा अनिर्वाच्य, इन तीनों में से कौनसे मिथ्यारूप प्रपंच को माना है ?

पूर्वपक्षः—इन तीनों पक्षों में से प्रथम दो पक्ष तो मेरे स्वीकार ही नहीं। इस कारण से मैं तो तीसरा अनिर्वाच्य पक्ष मानता हूं। सो यह प्रपंच अनिर्वाच्य मिथ्यारूप है।

अद्वैतवाद का खण्डन

उत्तरपक्षः—प्रथम तो तुम यह कहो कि अनिर्वाच्य क्या वस्तु है—बतावता तुम अनिर्वाच्य किस वस्तु को कहते हो ? क्या वस्तु को कहने वाला शब्द नहीं है ? अथवा शब्द का निमित्त

* प्रपंचो मिथ्या, प्रतीयमानत्वात्, यदेवं तदेवं यथा शुक्तिशकले कलधौतम्, तथा चायम्, तस्मात्तथा। [स्या० रत्ना०, परि० १]

नहीं है ? प्रथम विकल्प तो कल्पना ही करने योग्य नहीं है, क्यों कि यह सरल है, यह रसाल है, ऐसा शब्द तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। अथ दूसरा पक्ष है, तो उस में भी शब्द का निमित्त ज्ञान नहीं है ? अथवा पदार्थ नहीं है ? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं, क्योंकि सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान तो प्राणी प्राणी के प्रति प्रतीत है। सर्व जीव देखने वाले जानते हैं कि, सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान हमको है। अथ दूसरा पक्ष कहो तो, पदार्थ भावरूप नहीं हैं ? कि अभावरूप नहीं है ? जेकर कहोगे कि पदार्थ भावरूप नहीं, अरु प्रतीत होता है, तो तुम को *असत्ख्याति माननी पड़ी, परन्तु अद्वैत वादियों के मत में असत्ख्याति माननी महा दूषण है। अथ दूसरा पक्ष, कि पदार्थ अभाव रूप नहीं है तो भाव रूप सिद्ध भया, तब तो सत्ख्याति माननी पड़ी। तथा जब अद्वैत मत अङ्गीकार किया, अरु †सत्ख्याति मानी, तब तो सत्ख्याति के मानने से अद्वैत मत की जड़ को कुहाड़े से काट दिया—एतावता अद्वैत मत कदापि सिद्ध नहीं होगा।

पूर्वपक्षः—वस्तु भावरूप तथा अभावरूप ए दोनों ही प्रकार से नहीं।

---

* असत् पदार्थ का सत् रूप से भान होना।

† सत् पदार्थ का सत् रूप से भान होना। नोट—ख्यातिवाद के विशेष विवरण के लिये देखो परि० नं० २—क।

उत्तरपक्ष:— हम तुमको पूछते हैं कि भाव अरु अभाव इन दोनों का अर्थ जो लोक में प्रसिद्ध है वही तुमने माना है ? वा इस से विपरीत—और तरे का ? जेकर प्रथम पक्ष मानोगे तो जहां भाव का निषेध करोगे तहां अवश्यमेव अभाव कहना पड़ेगा, अरु जहां अभाव का निषेध करोगे, तहां अवश्यमेव भाव कहना पड़ेगा। क्योंकि जो परस्पर विरोधी हैं, तिन में से एक का निषेध करोगे तो दूसरे की विधि अवश्य कहनी पड़ेगी। तब अनिर्वाच्यता तो जड़ मूल से नष्ट हो गई। अथ दूसरा पक्ष अंगीकार करो तब भी हमारी कुछ हानि नहीं, क्योंकि अलौकिक, एतावता तुमारे मनःकल्पित शब्द अरु शब्द का निमित्त जो नष्ट होजावेगा, तो लौकिक शब्द अरु लौकिक शब्द का निमित्त कदापि नष्ट नहीं होगा, तो फिर अनिर्वाच्य प्रपंच किस तरे सिद्ध होगा ? जब अनिर्वाच्य सिद्ध न हुआ, तो प्रपंच मिथ्या कैसे सिद्ध होगा ? तब एक ही अद्वैत ब्रह्म है यह भी सिद्ध न हुआ।

पूर्वपक्ष:—हम तो जो प्रतीत न होवे, उसको अनिर्वाच्य कहते हैं।

उत्तरपक्ष:—इस तुमारे कहने में तो बहुत विरोध आवे है। जे कर प्रपंच प्रतीत नहीं होता तो तुमने अपने प्रथम अनुमान में प्रपंच को धर्मीपने और *प्रतीयमानत्व को हेतुपने क्योंकर ग्रहण किया ? जे कर कहोगे कि इस

* प्रतीति का विषय होना।

तरे ग्रहण करने में क्या दूषण है ? तो फिर तुम ने यह जो ऊपर प्रतिज्ञा करी थी, कि हम तो जो प्रतीत नहीं होवे, उस को अनिर्वाच्य कहते हैं, यह मिथ्या ठहरेगी और फिर प्रपंच भी अनिर्वाच्य सिद्ध नहीं होगा ? जब प्रपंच अनिर्वाच्य नहीं, तब या तो वो भाव रूप सिद्ध होगा, या अभावरूप सिद्ध होगा। इन दोनों ही पक्षों में एक रूप प्रपंच को मानने से पूर्वोक्त असत्ख्याति तथा सत्ख्याति रूप दोनों दूषण फिर तुमारे गले में रस्सो डालते हैं, अब भाग कर कहां जावोगे ? अच्छा हम फिर तुम को पूछते हैं कि यह जो तुम इस प्रपंच को अनिर्वाच्य मानते हो, सो प्रत्यक्ष प्रमाण से मानते हो ? वा अनुमान प्रमाण से मानते हो ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो इस प्रपंच को सत् स्वरूप ही सिद्ध करता है, जैसा जैसा पदार्थ है, तैसा तैसा ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, अरु प्रपंच जो है सो परस्पर-आपस में न्यारी न्यारी वस्तु, सो अपने अपने स्वरूप में भाव रूप है, अरु दूसरे पदार्थ के स्वरूप की अपेक्षा से अभाव रूप है। इस इतरेतर विविक्त वस्तुओं का समुदाय ही प्रपंच माना है। तो फिर प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रपंच को अनिर्वाच्य कैसे सिद्ध कर सकता है ?

पूर्वपक्षः—पूर्वोक्त जो हमारा पक्ष है, तिस को प्रत्यक्ष, *प्रतिक्षेप नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष तो विधायक ही है, जेकर प्रत्यक्ष इतर वस्तु में इतर वस्तु के स्वरूप का

*—खंडित।

निषेध करे, तो हमारे पक्ष को वह बाधक ठहरे, परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण तो ऐसा है नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण तो इतर वस्तु में इतर वस्तु के स्वरूप का निषेध करने में *कुण्ठित है।

उत्तरपक्षः—यह भी तुमारा कहना असत्य है। अन्य वस्तु के स्वरूप का निषेध किये बिना वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कदापि बोध न होगा, क्योंकि जब पीतादिक वर्णों करी रहित, ऐसा बोध होगा, तब ही नील रूप का बोध होगा। तथा जब प्रत्यक्ष प्रमाण करी यथार्थ वस्तु स्वरूप ग्रहण किया जायगा, तब तो अवश्य अपर वस्तु के स्वरूप का निषेध भी तहां जाना जायगा। जेकर अन्य वस्तु के निषेध को अन्य वस्तु में प्रत्यक्ष नहीं जानेगा तो तिस वस्तु के विधि स्वरूप को भी प्रत्यक्ष न जान सकेगा। केवल जो वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करना है, सोइ अन्य वस्तु के स्वरूप का निषेध करना है। जब प्रत्यक्ष प्रमाण, विधि अरु निषेध दोनों ही को ग्रहण करता है, तब तो प्रपंच मिथ्या रूप कदापि सिद्ध न होगा। जब प्रपंच मिथ्यारूप प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध न भया, तब तो परम ब्रह्म रूप एक ही अद्वैत तत्त्व कैसे सिद्ध होगा? तथा जो तुम प्रत्यक्ष को नियम करके विधायक ही मानोगे, तब तो विद्यावत् अविद्या की भी विधि तुम को माननी पडेगी। सो यह ब्रह्म अविद्यारहित जब प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण किया, तब तो अविद्या का निषेध भी प्रत्यक्ष से ग्रहण होगा। फिर जो तुमारा यह कहना है कि प्रत्यक्ष

* असमर्थ।

जो है, सो विधायक ही है, निषेधक नहीं, ऐसे वचन कहने वाले को क्यों न उन्मत्त कहना चाहिये ?

अब जो आगे अनुमान कहेंगे, तिस करके भी तुमारे पूर्वोक्त अनुमान का पक्ष बाधित है। सो अनुमान ऐसे है—प्रपंच मिथ्या नहीं है, असत् से विलक्षण होने से, जो असत् से विलक्षण है, सो ऐसा है अर्थात् मिथ्या नहीं है, यथा आत्मा। तैसा ही यह प्रपंच है, अतः प्रपञ्च मिथ्या नहीं है। तथा प्रतीयमानत्व जो तुमारा हेतु है, सो ब्रह्मरूप आत्मा के साथ व्यभिचारी है, जैसे ब्रह्मात्मा प्रतीयमान तो है, परन्तु मिथ्यारूप नहीं है। जेकर कहोगे कि ब्रह्मात्मा अप्रतीयमान है तो वचनगोचर न होगा, जब वचनगोचर नहीं, तब तो तुमको गूंगे बनना ठीक है, क्योंकि ब्रह्म के बिना अपर तो कुछ है नहीं, अरु जो ब्रह्मात्मा है, सो प्रतीयमान नहीं; तो फिर तुमको हम गूंगे के बिना और क्या कहें ? प्रथम अनुमान में जो तुमने सीप का दृष्टांत दिया था, सो साध्यविकल है, क्योंकि जो सीप है सो भी प्रपंच के अंतर्गत है, अरु तुम तो प्रपंच को मिथ्यारूप सिद्ध करा चाहते हो, सो यह कभी नहीं हो सकता कि जो साध्य होवे सोइ दृष्टांत में कहा जावे। जब सीप का भी अभी तक सत् असत् पना सिद्ध नहीं, तो उसको दृष्टांत में काहे को लाना ? तथा हम तुमको यह पूछते हैं कि जो प्रथम अनुमान तुमने प्रपंच के मिथ्या साधने को कीना था सो अनुमान इस प्रपंच से भिन्न है वा अभिन्न

है ? जे कर कहोगे भिन्न है, तो फिर सत्य है, वा असत्य है ? जे कर कहोगे सत्य है, तो फिर तिस अनुमान की तरें प्रपंच भी सत्य ही क्यों नहीं। जे कर कहोगे असत्य स्वरूप है, तो फिर क्या शून्य है ? वा अन्यथाख्यात है ? वा अनिर्वचनीय है ? प्रथम के दोनों पक्ष तो कदापि साध्य के साधक नहीं हैं, मनुष्य के शृङ्ग की तरें, तथा सीप में रूपे की तरें । अरु तीसरा जो अनिर्वचनीय पक्ष है तिसका तो संभव ही है नहीं; तब यह अपने साध्य को कैसे साधेगा ?

पूर्वपक्षः—हमारा जो अनुमान है, सो व्यवहार सत्य है। इस कारण से असत्य नहीं। फिर अपने साध्य को वह क्यों कर नहीं साध सकता ? अपितु साध सकता है।

उत्तरपक्षः—हम तुम से पूछते हैं कि जो यह व्यवहार सत्य है, तिस का क्या स्वरूप है ? 'व्यवहरतीति व्यवहारः'—ऐसे जो व्युत्पत्ति करिये तब तो ज्ञान का ही नाम व्यवहार ठहरता है अरु ज्ञान मे जो सत्य है, सो परमार्थिक ही है। इस पक्ष में सत्ख्याति रूप प्रपंच सिद्ध हुआ । जब प्रपंच सत् सिद्ध हुआ, तब तो एक ही परम ब्रह्म सद्रूप अद्वैत तत्त्व किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता। जेकर कहोगे कि व्यवहार नाम शब्द का है, उस करके जो सत्य हो वह व्यवहार सत्य है। तो फिर हम पूछते हैं, जो व्यवहार नाम शब्द का है, तो वह शब्द स्वरूप से सत्य है ? वा असत्य है ? जे कर कहोगे कि शब्द सत्स्वरूप है तो शब्द की तरे प्रपंच भी सत्

स्वरूप ही है। जे कर कहोगे कि असत् स्वरूप है, तो फिर ब्रह्मादि शब्द से कहे हुए पदार्थ कैसे सत् स्वरूप हो सकेंगे? क्योंकि जो आप ही असत् स्वरूप है, सो पर की व्यवस्था करने वा कहने का हेतु कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षः-जैसे खोटा रुपया सत्य रुपये के क्रय विक्रयादिक व्यवहार का जनक होने से सत्य रुपया माना जाता है, तैसे ही हमारा अनुमान यद्यपि असत् स्वरूप है तो भी जगत् में सत् व्यवहार करके प्रवृत्त होने से व्यवहार सत् है। इस वास्ते अपने साध्य का साधक है।

उत्तरपक्षः—हे भव्य! इस तुमारे कहने से तो तुमारा अनुमान पारमार्थिक असत् स्वरूप ठहरता है, फिर तो जो दूषण असत् पक्ष में दीने हैं, सो सर्व ही इहां पड़ेंगे। जे कर कहोगे कि हम प्रपंच से अनुमान को अभिन्न मानते हैं, तब तो प्रपंच की तरें अनुमान भी मिथ्या रूप ही ठहरा, फिर वह अपने साध्य को कैसे साध सकेगा? इस पूर्वोक्त विचार से प्रपंच मिथ्या रूप नहीं, किन्तु आत्मा की तरें सत्स्वरूप है, तो फिर एक ही ब्रह्म अद्वैत तत्त्व है, यह तुमारा कहना क्योंकर सत्य हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षः—हमारी *उपनिषदों में तथा शंकर स्वामी के

---

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति। [तै० उ०, ३—१]

जिस से विश्व के सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से

शिष्य आनंदगिरि ने, शंकरदिग्विजय के तीसरे प्रकरण में लिखा है कि—*"परमात्मा जगदुपादानकारणमिति"—परमात्मा जो है, सोई इस सर्व जगत् का कारण है। कारण भी कैसा? उपादान रूप है। उपादान कारण उसको कहते हैं कि जो कारण होवे सोई कार्यरूप हो जावे। इस कहने से यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ जगत् में है, सो सब कुछ परमात्मा ही आप बन गया। तब तो जगत् परमात्मा रूप ही है। फिर तुम सृष्टि कर्त्ता ईश्वर क्यों नहीं मानते?

उत्तरपक्ष:—हे ब्रह्मोपादानवादी! तुम अपने कहने को कभी सोच विचार कर भी कहते हो, वा नहीं? इस तुमारे कहने से तो पूर्ण नास्तिकपना तुमारे मत में सिद्ध होता है। यथा—जब सब जगत् परमात्मा रूप ही है, तब तो न कोई पापी है, न धर्मी है, न कोई ज्ञानी है, न कोई अज्ञानी है, न तो नरक है, न स्वर्ग है, साधु भी नहीं, अरु चोर भी नहीं, सत् शास्त्र भी नहीं, अरु मिथ्या शास्त्र भी नहीं। तथा जैसा गोमांसभक्षी, तैसा ही अन्नभक्षी है; जैसा स्वभार्या से काम भोग सेवन किया तैसा ही माता, बहिन, बेटी से किया;

जीवित हैं और जिस में लीन होते हैं, वह ब्रह्म है, उसी को जानना चाहिये।

* समग्र पाठ इस प्रकार है:—

यः सर्वज्ञः स सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तप इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धः परमात्मा जगदुपादानकारणम्। [पृ० १४]

जैसा चाण्डाल, तैसा ब्राह्मण; जैसा गधा, तैसा सन्यासी। क्योंकि जब सर्व वस्तु का कारण—उपादान ईश्वर परमात्मा हो ठहरा, तब तो सर्व जगत् एकरस–एक स्वरूप है; दूसरा तो कोई है नहीं।

पूर्वपक्षः—हम एक ब्रह्म मानते हैं, अरु एक माया मानते हैं, सो तुम ने जो ऊपर बहुत से आल जंजाल लिखे हैं, सो तो सर्व मायाजन्य हैं अरु ब्रह्म तो सच्चिदानंद शुद्ध स्वरूप एक ही है।

उत्तरपक्षः—हे अद्वैतवादी ! यह जो तुमने पक्ष माना है सो बहुत असमीचीन है। यथा—माया जो है तिस का ब्रह्म से भेद है, वा अभेद है ? जे कर भेद है तो जड है, वा चेतन है ? जे कर जड है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? जेकर कहोगे कि नित्य है, तो यह मान्यता अद्वैत मत के मूल को ही दाह करती है, क्योंकि जब ब्रह्म से भेद रूप हुई, अरु जड रूप भई, अरु नित्य हुई, फिर तो तुमने अद्वैत पंथ-मत आप ही अपने कहने से सिद्ध कर लिया। अरु अद्वैत पंथ जड मूल से कट गया। जे कर कहोगे कि अनित्य है, तो द्वैतता कभी दूर नहीं होगी। क्योंकि जो नाश होने वाला है, सो कार्य रूप है, अरु जो कार्य है सो कारण जन्य है। तो फिर उस माया का उपादान कारण कौन है ? सो कहना चाहिये। जेकर कहोगे कि अपर माया, तब तो अनवस्था दूषण है, अरु अद्वैत तीनों कालों में कदापि सिद्ध नहीं

होगा। जेकर ब्रह्म ही को उपादान कारण मानोगे, तब तो ब्रह्म ही आप सब कुछ बन गया, तब फिर पूर्वोक्त ही दूषण आया। जेकर माया को चेतन मानोगे, तो भी यही पूर्वोक्त दूषण होगा। जेकर कहोगे कि माया का ब्रह्म से अभेद है तब तो ब्रह्म ही कहना चाहिये, माया नहीं कहनी चाहिये।

पूर्वपक्षः—हम तो माया को अनिर्वचनीय मानते हैं।

उत्तरपक्षः—इस अनिर्वचनीय पक्ष को ऊपर जैसे खण्डन कर आये हैं, तैसे इहां भी जान लेना। तथा अनिर्वचनीय जो शब्द है तिस में निस् जो उपसर्ग है, तिसका अर्थ तो निषेध रूप किया है (कलापक व्याकरण में)। शेष जो शब्द है, सो या तो भाव का वाचक है या अभाव का वाचक है। जब भाव को निषेध करोगे, तब तो अभाव आ जावेगा, अरु जेकर अभाव को निषेधोगे, तब भाव आ जावेगा। ए भावाभाव दोनों को वर्ज के तीसरा वस्तु का रूप ही कोई नहीं है। इस वास्ते अनिर्वचनीय जो शब्द है, सो दंभी पुरुषों द्वारा छलरूप रचा हुआ प्रतीत होता है। तथापि इस उक्त कथन से ही द्वैत सिद्ध होता है, अद्वैत नहीं।

पूर्वपक्षः—यह जो अद्वैत मत है, इस के मुख्य आचार्य शंकर स्वामी हैं जिनों ने सर्वमतों को खण्डन करके अद्वैत मत सिद्ध किया है। शंकर स्वामी साक्षात् शिव का अवतार, सर्वज्ञ, ब्रह्मज्ञानी, शीलवान्, और सर्वसामर्थ्ययुक्त थे फिर उनों के अद्वैत मत को खण्डन करने वाला कौन है?

उत्तरपक्षः—हे वल्लभ मित्र ! तुमारी समझ मूजब तो जरूर जैसे तुम कहते हो, तैसे ही है; परन्तु शंकर स्वामी के शिष्य आनंदगिरि ने शंकरदिग्विजय के अठावनवें प्रकरण में जो शंकर स्वामो का वृत्तांत लिखा है, उसके पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि शंकरस्वामी सर्वज्ञ नहीं थे प्रत्युत कामी, अज्ञानी अरु असमर्थ थे तथा तिस से ऐसा भी प्रतीत होता है कि वेदांतियों का अद्वैतब्रह्मज्ञान जब ताईं यह स्थूल देह रहेगी, तब ताईं रहेगा, परन्तु इस शरीर के छूटने पीछे किसी वेदांती को ब्रह्मज्ञान नहीं रहेगा।

पूर्वपक्षः—वो कौनसा शंकरस्वामी का वृत्तांत है जिस से तुमारी पूर्वोक्त बातें सिद्ध होती हैं ?

उत्तरपक्षः—जो तुमको वृत्तांत सुनना है, तो हमारे क्या *ढील है। हम इसी जगे लिख देते हैं:-

श्री शंकराचार्य और सरसवाणी

जब शंकरस्वामी ने मंडनमिश्र को जीता, तब मंडनमिश्र ने यतिव्रत ले लिया, अरु मंडनमिश्र की भार्या जिसका नाम "सरसवाणी" था, सो सरसवाणी अपने पति को यतिव्रत लिया देख कर आप ब्रह्मलोक को चली। सरसवाणी को जाती देखकर शंकरस्वामी ने वनदुर्गामंत्र के द्वारा दिग्बंधन किया। तिसके पीछे शंकर-स्वामीने—हे सरसवाणि ! तूं ब्रह्म शक्ति है, ब्रह्म के अंशभूत मंडनमिश्रकी तूं भार्या है, उपाधि करके सर्वको फलित है;

* देरी।

तिस कारण से मेरे साथ *प्रसंग कर के तुमको जाना योग्य है-ऐसे कहा । तब सरसवाणी ने शंकरस्वामी के प्रति कहा कि पति के संन्यासग्रहण से प्रथम ही वैधव्य के भय से मैंने पृथिवीको त्यागा है, तिस कारण से फिर मैं पृथिवी का स्पर्श न करूंगी । हे यति ! तुम तो पृथिवी में स्थित हो । तब तुमारे साथ प्रसंग करने के वास्ते एक विषय—स्थानमें कैसे स्थिति होवे ? तिसपर शंकरस्वामी कहते भये कि—हे माता ! तो भी भूमि के ऊपर ६ हाथ प्रमाण ऊंची आकाश में तुम रहो और मेरे साथ सर्व वचनप्रपंच का संचार करके, पीछे से जाना । शंकरस्वामी के इस प्रकार कहने से आकाश प्रदेश में ठहरी हुई सरसवाणी ने आदर युक्त होकर शंकरस्वामी के साथ सर्व शास्त्रों—वेद, पुराण, इतिहास आदि के विषे समय प्रसंग करके, पीछे शंकरस्वामीको पराजित करनेके वास्ते जिस में दुःख से प्रवेश हो, ऐसा जो कामशास्त्र, तिस विषे नायिका अरु नायक—इन के भेदविस्तार को शंकरस्वामी से पूछा । तब तो शंकरस्वामी इस विषय को जानते नहीं थे, तातें उत्तर न दे सके, किन्तु मौन-चुप हो गये । तिस पीछे सरसवाणी ने शंकरस्वामी से कहा कि तुमारे जानने में यह शास्त्र नहीं आया, तिस शास्त्र को मैंही जानती हूं । यह सुन, काल—समय के जानकार शंकरस्वामी

* वार्तालाप ।

सरसवाणी के प्रति कहने लगे कि *हे माता ! तुम ६ महीने तक इहां ही रहो, पीछे मैं सर्व रहस्यमय अर्थों का निश्चय करके तेरे पूछे का उत्तर करूँगा। ऐसे कह कर आग्रह पूर्वक सरसवाणी को तहां ही आकाशमंडल में स्थापन करके सर्व शिष्यों को यथास्थान भेज कर उन में से हस्तामलक, पद्मपाद, विधिवित और आनंदगिरि, इन चार प्रधान शिष्यों को साथ लेकर, तिस नगर से पश्चिमदिशा की ओर अमृतपुर नाम के नगर में पहुंचे। उस नगर का राजा मर गया था, उस का शरीर तिस अवसर में चिता में जलाने के वास्ते रक्खा था। उस शरीर को देख कर शंकर स्वामी ने अपना शरीर उस नगर के प्रांत में एक पर्वत की गुफा में स्थापन कर दिया, और शिष्यों को कह दिया कि तुमने इस शरीर की रक्षा करनी। अरु आप परकायप्रवेशविद्या करके, † लिंगशरीर संयुक्त अभिमान सहित उस

* मातस्त्वत्रैव षण्मासं तिष्ठ पश्चात्कथासु च।
सति ! सर्वं विभेदासु करोम्यर्थविनिर्णयम् ॥

[शं० वि०, प्र० ५८]

† स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर है जिस की सर्वत्र अव्याहत गति है, अर्थात् उसके प्रवेश को कहीं पर भी रुकावट नहीं है और वह मोक्ष पर्यन्त आत्मा के साथ रहता है। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार इन—अठारह तत्वों से यह निर्मित है। जैन सिद्धान्त में इस के स्थानापन्न कार्मण शरीर है।

राजा के शरीर में ब्रह्मरंध्र के द्वारा प्रवेश कर गये । तब तो राजा जी उठा और वहां पर आये हुए नगर निवासियों को बड़ा आनन्द और आश्चर्य हुआ, तथा राजा के शरीर को शीतादिक उपचार से स्वस्थ कर के बड़े उत्सव से नगर में ले आये और राजा मरा नहीं था—यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध कर दी। तब लोगों ने फिर से बडे आडम्बर पूर्वक राजा-शंकरस्वामी को राजसिंहासन पर बिठलाया। पश्चात् राज-सिंहासन से उठकर राजा—शंकरस्वामी प्रथम बडी राणी के घर में गये। तहां जाकर उस राणी से काम क्रीडा करने लगे * तब तो शंकरस्वामी की कुशलता से जिस के आलिंगन करने से उत्पन्न हुआ जो सुख संभोग, ता करिके शङ्करस्वामी ने उस राणी के मुख के साथ तो अपना मुख जोड़ा, और अपनी छाती उस राणी के दोनों कुचों—स्तनों के ऊपर रक्खी। तैसे ही उस राणी की नाभि से अपनी नाभि जोड़ी और

* तदालिङ्गनसञ्जातसुखभुग्यतिकौशलात् ।
मुखं मुखेन संयोज्य वक्षो वक्षोजयोस्तथा ॥
नाभ्या नाभिञ्च संकोच्य संकोच्य पदा पदम् ।
एवमेकाङ्गवत् कृत्वा गाढालिङ्गनतत्परः ॥
कक्षास्थानेषु हस्ताभ्यां स्पृशन् प्रौढ इवाबभौ ।
तदालापविशेषज्ञा ज्येष्ठपत्नी कथादिवित् ॥
देहमात्रं हि भर्तुः स्यात् न जीवोऽयं हि सर्ववित् ।
[शं० वि०, प्र० ५८]

अपने पगों करके राणी के पग संकोचे एतावता जंघों में जंघा फंसाइ अर्थात् एक शरीरवत् हो गये। दोनों जने बहुत गाढ आलिंगन करने में तत्पर हुये। और राणीके कक्षा स्थानों विषे हाथों करी स्पर्श करते हुये शङ्करस्वामी बहुत सुख में मग्न हुये। तब राणी, उनकी आलाप चतुराई को देख कर चित्त में विचार करने लगी, कि देह मात्र से तो यह मेरा भर्त्ता है, परंतु इस का जीव मेरा भर्त्ता नहीं, ए तो कोई सर्वज्ञ है। ऐसा विचार करके राणी ने अपने नौकरों को चारों दिशा में भेजा, अरु कह दिया कि जो पर्वतों में वा गुफाओं में बारह योजनों के बीच में जितने शरीर जीव रहित होवें सो सब शरीर चिता में रख कर जला देवो। शंकरस्वामी तो विषय में अत्यन्त मूर्छित हो गये। अर्थात् अपने पूर्व चरित्र का उन्हें कोई पता नहीं रहा। तब राणी के नौकरों ने चार शिष्यों के द्वारा सुरक्षित देख कर शंकरस्वामी के शरीर को उठाकर चिता में रख दिया और उस को दाह करने लगे। तब शंकरस्वामी के चारों शिष्य, उस नगर में गये, जहां कि शङ्करस्वामी थे। वहां शङ्करस्वामी को काम लोलुपी देख कर शङ्कर राजा के आगे नाटक करने लगे एतावता शङ्करस्वामी को परोक्तियों करके प्रतिबोध करने लगे। सो लिखते हैं:—

१. *यत्सत्यमुख्यशब्दार्थानुकूलं, तत्त्वमसि २ राजन् !

* १—जो सत्य और मुख्य शब्दार्थ वृत्ति के अनुकूल है, हे राजन् ! वह तू है, २।

२. नह्येतत्त्वं विदितं नृषु भावं, तत्त्वमसि २ राजन् !
३. विश्वोत्पत्त्यादिविधिहेतुभूतं, तत्त्वमसि २ राजन् !
४. सर्वं चिदात्मकं सर्वमद्वैतं, तत्त्वमसि २ राजन् !
५. परतार्किकैरीश्वरसर्वहेतु—स्तत्त्वमसि २ राजन् !
६. यद्वेदांतादिभिर्ब्रह्म सर्वस्थं, तत्त्वमसि २ राजन् !
७. यज्जैमिनिनोक्तमखिलंकर्म, तत्त्वमसि २ राजन् !
८. यत्पाणिनिः प्राह शब्दस्वरूपं, तत्त्वमसि २ राजन् !
९. यत् सांख्यानां मतहेतुभूतं, तत्त्वमसि २ राजन् !
१०. अष्टांगयोगेन अनंतरूपं, तत्त्वमसि २ राजन् !
११. सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, तत्त्वमसि २ राजन् !
१२. नह्येतद् दृश्यप्रपंचं, तत्त्वमसि २ राजन् !
१३. यद् ब्रह्मणो ब्रह्मविष्णवीश्वरा ह्यभवन्, तत्त्वमसि २ राजन् !

२—जो भाव मनुष्यों में विदित नहीं, वह तू है, २।

३—विश्व की उत्पत्ति आदि का हेतुभूत जो तत्त्व है, वह तू है, २।

४—चैतन्यस्वरूप और अद्वैतस्वरूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

५—अन्य तार्किकों के द्वारा कल्पित सर्व का हेतु जो ईश्वर, हे राजन् ! वह तू है, २।

६—वेदान्त प्रतिपाद्य, सब में रहने वाला जो ब्रह्म, हे राजन् ! वह तू है, २।

१४. त्वद्रूपमेवमस्माभि र्विदितं राजन् ! तव पूर्वय-
त्याश्रमस्थम् ॥ [शं० वि०, प्र० ५९]

इन परोक्तियों करके राजा को प्रतिबोध हुआ। तब सब के सन्मुख शंकर स्वामी का जीव तिस राजा की देह से निकल कर जब उस पर्वत की कंदरा में पहुंचा तब उसने अपने शरीर को वहां न देख कर चिता में देखा। अरु देखते ही कपाल मध्य में से होकर उसमें प्रवेश किया, परन्तु शरीर के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, इससे निकलना दुष्कर होगया। फिर वहां पर शङ्कर स्वामी ने लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करी। तब लक्ष्मी नृसिंह ने शङ्कर स्वामी को जीता अग्नि में से बाहिर निकाला। इत्यादि।

७—जैमिनि ऋषि ने जिस समस्त कर्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है, हे राजन् ! वह तू है, २।

८—पाणिनि ऋषि ने जिस शब्दस्वरूप तत्त्व का कथन किया है, वह तू है, २।

९—जो सांख्यों का अभिमत तत्त्व है, वह तू है, २।

१०—अष्टाङ्गयोग के द्वारा जानने योग्य अनन्तस्वरूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

११—हे राजन् ! सत्यज्ञान और अनन्तस्वरूप जो ब्रह्म है, वह तू है, २।

१२—इस दृश्य प्रपंच से भिन्न जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१३—ब्रह्म का ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१४—हे राजन् ! आप के पूर्वाश्रम के स्वरूप को हमने जान लिया है।

हे भव्य! तू अब स्वयं विचार कर देख कि जो वार्त्ता मैंने पूर्व में तुझको कही थी सो सब सत्य है या नहीं? १. जब सरसवाणी के प्रश्न का उत्तर नहीं आया, तब तो शङ्कर स्वामी को सर्वज्ञ, कौन निष्पक्षी बुद्धिमान् मान सकता है? कोई भी नहीं मानेगा। २. जब राजा की राणी से विषय सेवन करा, तब तो उनके कामी होने में कोई शंका भी नहीं रहती है। ३. जब शिष्यों ने आकर प्रतिबोध करा, तब उन को पता लगा, तब तो अज्ञानी अवश्य हो चुके। ४. जब चिता में से न निकल सके, तब लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करी और नृसिंह ने आय करके जलती अग्नि में से उन को निकाला, इस से तो शङ्कर स्वामी अवश्य असमर्थ सिद्ध हो गये। ५. तथा जब शंकर स्वामी ने फिर आकर सरसवाणी के प्रश्नों का उत्तर दिया, तब सरसवाणी ने कहा–हे स्वामी! तूं * सर्वज्ञ है। क्या मृतक के शरीर में प्रवेश करके उस की राणी के साथ विषय सेवन करके और राणी के पास से कछुक काम शास्त्र की बातें सीख कर प्रश्नों का उत्तर देने वाला सर्वज्ञ हो सकता है? सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता, परन्तु इस से गधे खुरकनी तो अवश्य हो गई। सरसवाणी को उसने–शङ्कर ने सर्वज्ञ कह दिया, अरु शङ्कर को सरसवाणी ने सर्वज्ञ कह दिया। वाह क्या ही सर्वज्ञों की जोड़ी मिली

---

* सर्वज्ञा सरसवाणी, सर्वज्ञस्त्वमिति स्वामिनं प्रस्तुतवत्यासीत्।
[शं०, वि० प्र०, ६०]

है। सरस्वाणी तो ब्रह्म की शक्ति हो कर फिर स्त्री बन कर मंडनमिश्र से विषय सेवन करती रही अरु सर्वज्ञ भी बन बैठी। अरु शंकर स्वामी परस्त्री से विषय सेवन करके उस से कछुक काम शास्त्र सीख कर सर्वज्ञ बन बैठे, क्या यह गधे खुरकनी न हुई तो और क्या हुआ? तथा उक्त वृत्तान्त से यह भी मालूम पड़ता है कि जब शङ्कर स्वामी, अपना स्थूल शरीर छोड़ कर राजा के शरीर में गये, तब सब ब्रह्मविद्या भूल गये। जेकर न भूले होते तो उन के शिष्य काहे को "तत्त्वमसि" का उपदेश करते? और भी सुनिये। जब शंकर स्वामी स्थूल शरीर के बदल जाने पर ब्रह्मविद्या को भूल गये, तब तो ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध न तो लिंग शरीर के साथ रहा, न आत्मा के साथ, किन्तु स्थूल शरीर ही के साथ सम्बन्ध रहा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब वेदांती मर जाते हैं, तब उन का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि उक्त कथनानुसार ज्ञान का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर ही के साथ रहा आत्मा के साथ नहीं। अरु जो तुमने कहा था कि शंकरस्वामी के कथन किये अद्वैत मत को कौन खण्डन कर सकता है? सो हे भव्य! जब शंकर स्वामी का चरित्र ही असमंजस है, तो फिर उन के कहे हुए मत को किस प्रकार युक्तियुक्त समझा जा सकता है?

पूर्वपक्षः—"पुरुष एवेदं" इत्यादि श्रुतियों से अद्वैत ही सिद्ध होता है।

उत्तरपक्षः—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जो पुरुष मात्र रूप अद्वैततत्त्व होवे तब तो यह जो दिखलाई देता है—कोई सुखी, कोई दुःखी, ए सब परमार्थ से असत् हो जावेंगे। जब ऐसे होगा तब तो—"प्रमाणतोऽधिगम्य संसारनैर्गुण्यं तद्विमुखया प्रज्ञया तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरित्यादि"—संसार का निर्गुणपना प्रमाण से जान कर उस से विमुख बुद्धि हो करके, तिस संसार के उच्छेद के तांई प्रवृत्ति करे, यह जो कहना है, सो आकाश के फूल की सुगन्धि का वर्णन करने सरीखा हो जावेगा। जब कि अद्वैत रूप ही तत्त्व है, तब नरकादि भवभ्रमण रूप संसार कहां रहा? जिस को कि निर्गुण जान कर उच्छेद करने की प्रवृत्ति का उपदेश है।

पूर्वपक्षः—तत्त्वतः पुरुष अद्वैत मात्र ही है। अरु यह संसार जो सदा सर्व जीवों को प्रतिभासित हो रहा है, सो चित्राम की स्त्री के अङ्गोपांग जैसे ऊंचे नीचे प्रतीत होते हैं, तैसे प्रतीत होता है। अर्थात् सब चित्राम की स्त्री के अङ्गोपांगों की ऊंचनीचता की तरे भ्रांतिरूप है वा भ्रांतिजन्य है।

उत्तरपक्षः—यह जो तुमारा कहना है सो असत् है, इस बात में कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है। जेकर अद्वैत सिद्ध करने के वास्ते कोई पृथग्भूत प्रमाण मानोगे, तब तो द्वैतापत्ति होगी, क्योंकि प्रमाण के बिना किसी का भी मत नहीं सिद्ध होता। जेकर प्रमाण के बिना ही सिद्ध मानोगे तब तो सर्व वादी अपने अपने अभिमत को सिद्ध कर लेवेंगे।

तथा भ्रांति भी प्रमाणभूत अद्वैत से भिन्न ही माननी चाहिये, अन्यथा प्रमाण भूत अद्वैत अप्रमाण ही हो जावेगा। क्योंकि भ्रांति जब अद्वैत रूप हुई तब तो पुरुष का ही रूप हुई, फिर तो पुरुष भी भ्रान्तिवाला ही सिद्ध होगा। तब तो तत्त्व व्यवस्था कुछ भी सिद्ध न होगी। जेकर भ्रांति को भिन्न मानोगे, तब तो द्वैतापत्ति होवेगी, इस से अद्वैत मत की हानि हो जावेगी। जेकर स्तंभ का कुम्भादिकों से भेद मानना-इसी को भ्रांति कहोगे, तब तो निश्चय कर के सत्स्वरूप कुम्भादिक किसी जगे तो ज़रूर होंगे। क्योंकि अभ्रांति के बिना कदापि भ्रांति देखने में नहीं आती, जैसे पूर्व में जिस ने सच्चा सर्प नहीं देखा, तिस को रज्जु में सर्प की भ्रांति कदापि नहीं होती। यथा—

नादृष्टपूर्वसर्प्पस्य, रज्ज्वां सर्प्पमतिः क्वचित्।
ततः पूर्वानुसारित्वाद्भ्रांतिरभ्रांतिपूर्विका ॥

इस कहने से भी अद्वैततत्त्व का खंडन होगया। तथा अद्वैत रूप तत्त्व अवश्य करके दूसरे पुरुष को निवेदन करना होगा, अपने आप को नहीं। अपने में तो व्यामोह है नहीं। जे कर कहने वाले में व्यामोह होवे तब तो अद्वैत की प्रतिपत्ति कभी भी नहीं होवेगी।

पूर्वपक्षः—जब आत्मा को व्यामोह है, तब ही तो अद्वैत तत्त्व का उपदेश किया जाता है।

उत्तरपक्षः—जब आत्मा का व्यामोह दूर होगा तब तो आत्मा अवश्य अवस्थान्तर को प्राप्त होगा, जब अवस्था बदलेगी, तब तो अवश्य द्वैतापत्ति हो जावेगी। तथा जब अद्वैत तत्त्व का उपदेशक पुरुष पर को उपदेश करेगा। तब तो पर को अवश्य मानेगा। फिर भी अद्वैत तत्त्व का पर को निवेदन करना अरु अद्वैत तत्त्व मानना, यह तो ऐसे हुआ कि, जैसे कोई यह कहे कि मेरा पिता कुमार ब्रह्मचारी है। तात्पर्य यह कि जेकर अपने को अरु पर को माना जावे, तब तो द्वैतापत्ति अवश्य होगी। इस कारण से जो अद्वैतवाद का मानना है, सो सर्व प्रकार से युक्ति-विकल है।

* पूर्वपक्षः—परमब्रह्म रूप का सिद्ध होना ही सकल

* इस पूर्व पक्ष का अभिप्राय यह है, कि वेदांत सिद्धान्त में एक अद्वितीय ब्रह्म ही वास्तविक सत् पदार्थ माना गया है। उसके अतिरिक्त विश्व में किसी भी पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता नहीं। दूसरे शब्दों में कहे तो यह सारा ही विश्व–प्रपंच उसी में अध्यस्त है या उसी का विवर्त (पर्याय) है। वास्तव में तो अद्वैत ब्रह्म ही परमार्थ सत् और प्रमाण का विषय है। अतः जितना भी भेदज्ञान है वह आलम्बनशून्य अथच कल्पित है। वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी माना है। अर्थात् केवल सत्ता मात्र को ग्रहण करने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ब्रह्म के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। परन्तु यह प्रत्यक्ष सम्बन्धी विचार युक्तिविधुर होने से जैनों को उपादेय नहीं है। इस लिये अनुमान के द्वारा अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि का प्रयत्न किया गया है।

भेदज्ञान प्रत्ययों के निरालंबन पने की सिद्धि है।

उत्तरपक्ष:—ए कथन भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि परम ब्रह्म ही प्रथम सिद्ध नहीं है। जेकर कहो कि वो स्वतः सिद्ध है, तो यह कथन भी प्रामाणिक नहीं है क्योंकि जो स्वतः सिद्ध-प्रत्यक्ष से सिद्ध होवे तो फिर उस के विषे किसी का विवाद ही न रहे। इस से वो स्वतः सिद्ध तो है नहीं। तथा जेकर उस को परतः सिद्ध मानो तो उसकी परतः सिद्धि, क्या अनुमान से है, वा आगम से है ?

पूर्वपक्ष:—उस की सिद्धि अनुमान और आगम दोनों से हो सकती है। उस में से अनुमान यह है:—विवादरूप जो पदार्थ है सो प्रतिभासांतःप्रविष्ट-ब्रह्मभास के अन्तर है, प्रतिभासमान होने से, जो जो प्रतिभासमान है, सो सो *प्रतिभासांतःप्रविष्ट ही देखा है, जैसे प्रतिभास का स्वरूप प्रतिभासमान है। विवाद रूप समस्त सचेतन, अचेतन घट पटादि पदार्थ प्रतिभासमान हैं, तिस कारण से प्रतिभासान्तः-प्रविष्ट हैं, इस अनुमान से अद्वैतरूप परमब्रह्म की सिद्धि हो जाती है‡।

* प्रतिभास के अन्तर्गत। प्रतिभास—प्रकाशस्वरूप ब्रह्म।

‡ ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः।

[स्या० मं० श्लो० १३.]

उत्तरपक्ष:—यह अनुमान तुमारा सम्यक् नहीं है, क्योंकि इसी अनुमान में धर्मी, हेतु, और दृष्टांत, ये तीनों जुदे २ नहीं रहे किन्तु इन तीनों के प्रतिभासांतःप्रविष्ट होने से, ये साध्यरूपही हुये। तब तो धर्मी, हेतु, दृष्टांत- इन तीनोंके न होनेसे अर्थात् एक रूप होनेसे अनुमान ही नहीं बन सकता। जेकर कहोगे कि, धर्मी, हेतु, और दृष्टांत, ए तीनों प्रतिभांस्मातःप्रविष्ट नहीं हैं। तबतो प्रतिभासमान हेतु इन्हीं तीनोंके साथ व्यभिचारी हो जायगा। जेकर कहोगे अनादि अविद्या रूप वासना के बल से हेतु दृष्टांत प्रतिभास के तरे बाहिर की पदार्थ का निश्चय करते हैं [जैसे प्रतिपाद्य, प्रतिपादक, सभा, सभापतिजन को तरे] तिस कारणसे अनुमान हो सकता है। अरु जब सकल अनादि अविद्याका विलास दूर हो जावेगा, तब प्रतिभासांतः प्रविष्ट ही प्रतिभास होगा। विवाद भी न रहेगा। प्रतिपाद्य प्रतिपादक, साध्य साधक भाव भी नहीं रहेगा। तब तो अनुमान करनेका भी कुछ फल नहीं, क्योंकि देशकाल—परिच्छेद शून्य, सर्वत्र अनुस्यूत सकल अवस्था में सर्वत्र विद्यमान, प्रतिभास स्वरूप परम ब्रह्म अनुमान का प्रयोग करना कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता।

तथा—यह जो अनादि अविद्या है सो प्रतिभासान्तः- प्रविष्ट है अथवा प्रतिभासके बाहिर है? जेकर प्रतिभासांतः- प्रविष्ट है, तब तो विद्याही हो गई तो फिर वह असत्रूप

अविद्या हेतु, और दृष्टांत आदिका भेद कैसे दिखा सकेगो ? जेकर कहोगे प्रतिभास के बाहिर है, तब तो हम पूछेंगे कि वो अविद्या, प्रतिभासमान है ? वा अप्रतिभासमान ? जेकर कहोगे प्रतिभासमान है, तो तिसहीके साथ प्रतिभासमान हेतु व्यभिचारी है । तथा प्रतिभासके बाहिर होनेसे जेकर तुमारे मनमें ऐसा होवे कि अविद्या जो है, सो न तो प्रतिभासमान है, न अप्रतिभासमान; तथा न प्रतिभास के बाहिर, न प्रतिभासके अन्दर प्रविष्ट है; न एक है, न अनेक है; न नित्य है, न अनित्य है; न व्यभिचारिणी है, न अव्यभिचारिणी; सर्वथा विचार के योग्य नहीं—सकल विचारांतर अतिक्रांत स्वरूप है । रूपांतर के अभाव से अविद्या जो है, सो "नीरूपता" लक्षण वाली है । परन्तु यह भी तुमारी बड़ी भारी अज्ञानता है । क्योंकि ऐसी नीरूप स्वभाव वाली को—यह अविद्या है, यह अप्रतिभासमान है, ऐसे कौन कथन करने को समर्थ है ? जेकर कहोगे यह प्रतिभासमान है, तो फिर यह अविद्या नीरूप क्योंकर सिद्ध होगी । जो वस्तु, जिस रूप करके प्रतिभासमान है, सो ही तिस का स्वरूप है । तथा अविद्या जो है सो विचार गोचर है, वा विचार के अगोचर है ? जेकर कहोगे कि विचार गोचर है, तब तो नीरूप नहीं । जेकर विचार गोचर नहीं, तब तो तिसके मानने वाला महा मूर्ख है । तथा जब विद्या अविद्या दोनों ही प्रमाणसिद्ध हैं; तो फिर एक ही

परम ब्रह्म है, यह अनुमान से कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? इस कहने करके जो उपनिषद् में एक ब्रह्मके कहने वाली "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति का निराकरण होगया। क्योंकि इस श्रुतिवचन को परमात्मा से भिन्न पदार्थ मानने से द्वैतापत्ति हो जावेगी। जेकर कहोगे कि अनादि अविद्यासे ऐसा प्रतीत होता है तब तो पूर्वोक्त दूषणोंका प्रसंग होगा। तिस वास्ते अद्वैत की सिद्धि वंध्याके पुत्र की शोभावत् है। इस कारण से अद्वैतमत युक्तिविकल है। तब जगत् से प्रथम एकही ईश्वर था, उसी ने यह जगत् रचा है, ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध हुआ। यह ईश्वर सम्बन्धी प्रथम पक्ष समाप्त हुआ।

सापेक्ष ईश्वर-कर्तृत्व का खण्डन

अब ईश्वर सम्बन्धी दूसरे पक्ष का विचार किया जाता है। इस पक्ष में एक ईश्वर अरु दूसरा सामग्री, ए दो पदार्थ अनादि हैं। तिन दोनों में से १. पृथिवी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, इन चारों के परमाणु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिशा, ८. आत्मा, ९. मन, ए नव वस्तु सामग्री है तथा ये नित्य और अनादि हैं—किसीके बनाए हुए नहीं। सो ईश्वर इस पूर्वोक्त सामग्री से सृष्टि को रचता है। अब इस मत के सिद्धान्त का कुछ विस्तार से निरूपण करके उसकी परीक्षा करते हैं।

* कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः,
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडंबनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥
[अन्य० व्य०, श्लो० ६]

यह जो जगत् है, सो प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके लक्ष्यमाण—दिखाई देता है, इस चराचर रूप जगत् का कोई एक, जिस का स्वरूप कह नहीं सकते ऐसा पुरुषविशेष रचने वाला है । ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानने वाले वादी ऐसे अनुमान करते हैं—पृथिवी, पर्वत, वृक्षादिक सर्व बुद्धि वाले कर्त्ता के करे हुए हैं, कार्य होने से, जो जो कार्य है, सो सो सर्व बुद्धि वाले का करा हुआ है, जैसे घट, तैसे ही यह जगत् है, तिस कारण से यह जगत् बुद्धि वाले का रचा हुआ है । जो बुद्धिवाला है; सोही भगवान् ईश्वर है । यहां ऐसा मत कहना, कि यह तुमारा कार्यत्व हेतु असिद्ध है [अर्थात् पृथ्वी पर्वतादिक में कार्यत्व सिद्ध नहीं है]। पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिक अपने अपने कारण समूह करके उत्पन्न होते हैं, इस वास्ते कार्य रूप हैं । तथा अवयवी हैं,

ईश्वर साधक अनुमान

* हे नाथ ! जिन के आप शासक नहीं है, उन की दुराग्रह से परिपूर्ण यह कल्पनाएं हैं कि जगत का कोई कर्त्ता है और वह एक, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र तथा नित्य है ।

इस करके कार्य रूप हैं। यह सर्व वादियों को सम्मत है। तथा ऐसे भी न कहना कि यह तुमारा हेतु अनैकांतिक तथा विरुद्ध है। *क्योंकि हमारा हेतु विपक्ष से अत्यंत हटा हुआ है। तथा ऐसे भी मत कहना कि यह तुमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान और आगम करके अबाधित धर्म धर्मी के अनन्तर कहने से [तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से अबाधित धर्म और धर्मी के सिद्ध हो जाने पर ही इस का कथन किया है। इस लिये यह कार्यत्व हेतु बाधित नहीं है]। तथा यह भी मत कहना कि तुमारा हेतु ‡ प्रकरण सम है, क्योंकि अनुमान से जो साध्य है, तिस के

* क्योंकि जो हेतु पक्ष को छोड़ कर विपक्ष में भी चला जावे, वह अनैकान्तिक अथवा व्यभिचारी होता है। परन्तु यहां पर तो कार्यत्व हेतु अपने पक्षभूत पृथिवी आदि को छोड़ कर विपक्षभूत आकाशादि में नहीं जाता, इस लिये अनैकांतिक नहीं है। तथा विरुद्ध भी नहीं, क्योंकि जो हेतु अपने साध्य के विरोधी का नियत सहचारी हो, उसे विरुद्ध हेतु कहते हैं, जैसे शब्द नित्य है, कार्य होने से। इस अनुमान में नित्य के विरोधी अनित्य के साथ कार्यत्व हेतु का नियम से सम्बन्ध है, इस लिये कार्यत्व हेतु विरुद्ध है। परन्तु हमारा यह कार्यत्व हेतु तो अपने साध्य बुद्धिमत्कर्तृकत्व के साथ ही नियम रूप से रहता है। उस के विरोधी के साथ उस का कोई सम्बन्ध नहीं है, इस लिये यह हेतु विरुद्ध नहीं है।

‡ इस कथन का अभिप्राय यह है कि—जिस अनुमान में साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा प्रतिपक्षी हेतु विद्यमान हो उसे प्रकरण-

शत्रु भूत दूसरे साध्य को साधने वाले अनुमान के अभाव से।

तथा जेकर कहो कि ईश्वर, पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिकों का कर्त्ता नहीं है, अशरीरी होने से, मुक्त आत्मा की तरे। यह तुमारे अनुमान का वैरी अनुमान है, जो कि ईश्वर को जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होने देता। सो यह तुमारा कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि तुम ने तो ईश्वर को शरीर रहित सिद्ध करके जगत् का अकर्त्ता सिद्ध किया, परन्तु हमने तो ईश्वर शरीर वाला माना है इस कारण से, तुमारा अनुमान *असत्य

सम या सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। जैसे, "ह्रदो वह्निमान् धूमात्",–ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्"-तालाब अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है। तालाब वह्नि वाला नहीं क्योंकि जल वाला है। यहां पर धूम का जल प्रतिपक्षी है। परन्तु प्रकृत में साध्य के अभाव—अकर्तृकत्व को सिद्ध करने वाले कार्यत्व हेतु का विरोधी कोई दूसरा हेतु नहीं है इस लिये यह कार्यत्व हेतु प्रकरणसम भी नहीं है।

* इस का तात्पर्य यह है कि—शरीर रहित होने से ईश्वर, जगत का रचयिता नहीं हो सकता, मुक्त आत्मा की तरह। इस विरोधी अनुमान के द्वारा कार्यत्व हेतुका बाध होने से वह प्रकरणसम हेत्वाभास से दूषित हो जाता है, यह वादीकी शंका है। परन्तु यह शंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता—इस वाक्य में धर्मी–पक्ष रूप से ग्रहण किये गए ईश्वर को हम अशरीरी-शरीर रहित नहीं मानते, 'अतः वादी का दिया हुआ 'शरीर रहित' हेतु पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्ध है। और हमारा कार्यत्व हेतु अनेकान्त, विरोध और असिद्धि प्रभृति दोषों से अलिप्त अर्थात् निर्दोष है।

है। अरु हमारा जो हेतु है, सो निरवद्य है।

तथा ईश्वर जो है सो एक-अद्वितीय है, क्योंकि जो बहुत से ईश्वर मानें, तब तो कार्य करने में ईश्वरों की न्यारी न्यारी बुद्धि होगी। और कार्य भी इनका न्यारा २ होगा; क्योंकि इनको मने करने वाला तो और कोई नहीं है। फिर एक रूप कार्य कैसे उत्पन्न होगा? कोई ईश्वर तो अपनी इच्छा से चार पग वाला मनुष्य रच देवेगा, अरु दूसरा ईश्वर छः पग वाला रच देवेगा, तथा तीसरा दो पग वाला, अरु चौथा आठ पग वाला रच देवेगा। इसी तरे सर्व वस्तु को विलक्षण विलक्षण रच देवेंगे, तब तो सर्व जगत् *असमंजस रूप हो जावेगा। परन्तु सो है नहीं। इस हेतु से ईश्वर एक ही होना चाहिये। तथा वो ईश्वर सर्वगत–सर्वव्यापी है। जेकर ईश्वर सर्व व्यापक न होवे, तब तो तीन भुवन में एक साथ जो उत्पन्न होने वाले कार्य हैं, वो सर्व एक काल में कभी उत्पन्न न होंगे। जैसे, कुम्भारादिक जहां पर होवेंगे, तहां पर ही कुम्भादि को बना सकेंगे, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार ईश्वर भी यदि सर्व व्यापी न माना जावे तो वो भी किसी एक प्रदेश में ही कार्य कर सकेगा, सर्वत्र कभी नहीं। अतः ईश्वर सर्व व्यापी होना चाहिये। अथवा वो ईश्वर †'सर्वगः'—सर्वज्ञ है।

* समानता और क्रमबद्ध रचना का अभाव।

† अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः—सर्वज्ञः "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः" इति वचनात् [स्या० मं०, श्लो० ६] अर्थात् जो सब कुछ जाने उसे सर्वज्ञ कहते हैं।

जेकर वह सर्वज्ञ न होवेगा तब तो सर्व कार्यों के उपादान कारण को कैसे जानेगा ? जब कार्यों के उपादान कारण को नहीं जानेगा, तब तो कारण के अनुरूप इस विचित्र जगत् की रचना कैसे कर सकेगा ? तथा 'स्ववश':—ईश्वर जो है, सो स्वतंत्र है, किसी दूसरे के अधीन नहीं। ईश्वर अपनी इच्छा से सर्व जीवों को सुख दुःख का फल देता है। यथा—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
अज्ञो जंतुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः ॥

अर्थः—ईश्वर ही की प्रेरणा से यह जगत्वासी जीव स्वर्ग तथा नरक में जाता है, क्योंकि ईश्वर के बिना यह अज्ञ जीव अपने आप सुख दुःख का फल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है। जेकर ईश्वर को भी परतंत्र—पराधीन मानिये, तब तो मुख्य कर्त्ता ईश्वर कभी नहीं रहेगा। * अपर को अपर के अधीन मानने से अनवस्था दूषण लगेगा। इस हेतु से ईश्वर अपने ही वश अर्थात् स्वतंत्र है, किन्तु पराधीन नहीं। तथा, 'नित्य':—सो ईश्वर नित्य है। जेकर ईश्वर अनित्य होवे तो तिस के उत्पन्न करने वाला भी कोई और चाहिये, सो तो है नहीं, इस हेतु से ईश्वर नित्य ही है। पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त ईश्वर इस जगत् का कर्त्ता है। इस

* एक ईश्वर को दूसरे ईश्वर के अधीन और दूसरे को तीसरे के अधीन मानने से।

पूर्वपक्षमें ईश्वर को कर्त्ता मानने वालों का मत विस्तार से दिखा दिया। अब उत्तर पक्ष में इस की परीक्षा की जाती है।

उत्तरपक्षः—हे वादी! जो तुमारा यह कहना है कि पृथ्वी, पर्वत और वृक्षादिक, बुद्धि वाले कर्त्ता के रचे हुए हैं, सो अयुक्त है। क्योंकि इस तुमारे अनुमान में व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता। *सर्वत्र प्रमाण करके व्याप्ति के सिद्ध होने पर ही हेतु अपने साध्य का गमक होता है। इस कहने में सर्व वादियों की सम्मति है।

उक्त अनुमान का खण्डन

‡प्रथम तुम यह कहो कि जिस ईश्वर ने इस जगत् को रचा है, वो ईश्वर शरीर वाला है? वा शरीर से रहित है? जेकर कहोगे कि शरीर वाला है, तो उस का हमारे सरीखा दृश्य, दिखलाई देने वाला शरीर है, अथवा पिशाच आदिकों की तरे अदृश्य—न दिखलाई देने वाला शरीर है? जे कर प्रथम पक्ष मानोगे तब तो प्रत्यक्ष ही बाधक है। जिस ईश्वर

*—"साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत्"
[स्या० मं०, श्लो० ६]

‡—हेतु और साध्य के साहचर्य नियम को अथवा उन के अविनाभाव—नियत सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। "जहां २ धूम है वहां २ अग्नि है", यह उस का उदाहरणस्थल है। परन्तु प्रकृत अनुमान में कार्यत्व हेतु की सशरीरकर्तृकत्व साध्य के साथ यह उक्त व्याप्ति नहीं बन सकती इसी बात का अब उल्लेख करते हैं।

के बिना ही अब भी उत्पन्न होते हुए तृण, वृक्ष, इन्द्रधनुष, अरु बादल प्रमुख कार्य देखने में आते हैं। [अर्थात् इन उक्त तृण अंकुरादि की उत्पत्ति में किसी दृश्य शरीर वाले ईश्वर का हाथ दिखाई नहीं देता] इस वास्ते जैसे 'शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात्' इस में प्रमेयत्व हेतु साधारण अनैकांतिक है, तैसे ही यह कार्यत्व हेतु भी * साधारण अनैकांतिक है।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे अर्थात् ईश्वर का शरीर तो है पर दिखाई नहीं देता। तब जो ईश्वर का शरीर दिखलाई नहीं देता, सो क्या ईश्वर के माहात्म्य करके दिखलाई नहीं देता? अथवा हमारे बुरे अदृष्ट का प्रभाव है? एतावता हमारे खोटे कर्म के प्रभाव से नहीं दिखलाई देता? जेकर प्रथम पक्ष ग्रहण करो कि ईश्वर के माहात्म्य से ईश्वर का शरीर नहीं दीखता। तो इस पक्ष में कोई

* जो हेतु विपक्ष में भी पाया जावे अर्थात् जहां पर साध्य न रहता हो वहां भी रह जावे, वह हेतु साधारण अनैकान्तिक या व्यभिचारी कहलाता है। जैसे-शब्द अनित्य है, प्रमेय-ज्ञान का विषय होने से-इस अनुमान में प्रमेय होना रूप हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि यह विपक्षभूत आकाश आदि नित्य पदार्थों में भी रहता है। इसी प्रकार कार्यत्व हेतु भी व्यभिचारी है। क्योंकि यह हेतु उन पदार्थों तृण, अंकुर आदि में भी रह जाता है जिन को ईश्वर के शरीर ने नहीं बनाया है। अतः इस हेतु से ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रमाण ही नहीं है, जिस से ईश्वर का माहात्म्य सिद्ध होवे। अरु इस तुमारे कहने में इतरेतराश्रय दूषण भी है यथा— जब माहात्म्यविशेष सिद्ध हो जावे, तब अवश्य शरीर वाला सिद्ध होवे; जब अदृश्य शरीर वाला सिद्ध होवे, तब माहात्म्यविशेष सिद्ध होवे। जेकर दूसरा पक्ष—पिशाचादिकों की तरे अदृश्य शरीर ईश्वर का है, ऐसे मानोगे, तब तो संशय की ही निवृत्ति नहीं होगी। जैसे—क्या ईश्वर है नहीं, जिस करके उसका शरीर नहीं दीख पडता; वन्ध्या पुत्र के शरीर की तरे, किंवा हमारे पूर्व पापों के प्रभाव से ईश्वर का शरीर नहीं दीखता; यह संशय कभी दूर नहीं होवेगा। जेकर कहोगे कि हमारा ईश्वर शरीर रहित है, तब तो दृष्टांत अरु दार्ष्टांतिक यह दोनों विषम हो जावेंगे और हेतु विरुद्ध हो जावेगा। क्योंकि घटादिक कार्यों के कर्त्ता कुंभारादिक तो शरीर वाले ही दीख पडते हैं। परन्तु ईश्वर को जब शरीर रहित मानोगे तब तो ईश्वर कुछ भी कार्य करने को समर्थ नहीं होवेगा, आकाश की तरें। अर्थात् जैसे शरीर रहित व्यापक और अक्रिय होने से आकाश कोई कार्य-प्रयत्नविशेष नहीं कर सकता। उसी प्रकार शरीर रहित ईश्वर भी किसी कार्य के करने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार शरीर सहित तथा शरीर रहित ईश्वर के साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। तथा यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है, क्योंकि साध्य के

धर्मी का एक देश, वृक्ष, बिजली, बादल, इंद्रधनुषादिकों का अब भी कोई बुद्धिमान् कर्त्ता नहीं दीख पड़ता है, इस वास्ते प्रत्यक्ष करके बाधित होने के पीछे तुम ने अपना हेतु कहा है, इस वास्ते तुमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट है। अतः इस कार्यत्व हेतु से बुद्धिमान् ईश्वर जगत् का कर्त्ता कभी सिद्ध नहीं होता।

तथा दूसरी तरें जगत् कर्त्ता के खण्डन का स्वरूप लिखते हैं। जो कोई ईश्वरवादी यह कहते हैं, कि सब जगत् ईश्वर का रचा हुआ है, यह उनका कहना समीचीन नहीं है। काहेतें, कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिवादीः—ईश्वर को जगत् का कर्त्ता सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण है। तथाहि–जो ठहर ठहर करके अभिमत फल के संपादन करने में प्रवृत्त होवे, तिसका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् ज़रूर होना चाहिये। जैसे बसोला, आरी प्रमुख शस्त्र, काष्ठ के दो टुकड़े करने में प्रवर्त्तते हैं। और तिन का अधिष्ठाता बढ़ई है; तैसे ही ठहर ठहर कर सब, जगत् को सुख दुःखादिक जो फल मिलते हैं, तिनका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् ज़रूर होना चाहिये। तुम ने ऐसे न कहना कि बसोला, आरी प्रमुख काष्ठ के दो टुकड़े करने में आप ही प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि वो तो अचेतन हैं, आप ही कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे? जेकर कहो कि

बसोला आरी प्रमुख स्वभाव से प्रवृत्त होते हैं। तब तो तिन को सदा ही प्रवृत्त होना चाहिये, बीच में कभी ठहरना न चाहिये, परन्तु ऐसे है नहीं। इस पूर्वोक्त हेतु से तो ठहर ठहर कर अपने अपने फल के साधने वाले जो जीव हैं, तिनका अधिष्ठाता ईश्वर ही सिद्ध हो सकता है। तथा दूसरा अनुमान जो परिमंडलादिक, वृत्त, त्र्यंश, चतुरंश संस्थान वाले ग्राम, नगरादिक हैं; वे सब ज्ञानवान् के रचे हुये हैं, जैसे घटादिक पदार्थ। तैसे ही पूर्वोक्त संस्थान संयुक्त पृथिवी, पर्वत प्रमुख हैं। इस अनुमान से भी जगत् का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है।

सिद्धान्ती:—जिस अनुमान से तुम ने जगत् का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध करा है, सो तुमारा अनुमान अयुक्त है। क्योंकि यह तुमारा पूर्वोक्त अनुमान हमारे मत में जैसे आगे सिद्ध है, तैसे ही सिद्ध करता है; इस वास्ते तुमारे अनुमान में सिद्धसाधन दूषण आता है। यथा—इस सम्पूर्ण जगत् में जो विचित्रता है, सो सर्व कर्म के फल से है, ऐसे हम मानते हैं। क्योंकि भारतवर्ष में तथा अनेक देशों में, अनेक टापुओं में, हेमवंत आदिक अनेक पर्वतों में अनेक प्रकारके जो मनुष्यादि प्राणी वास करते हैं, अरु उनकी अनेक सुख दुःखादिक रूप अनेक तरें की अवस्था बन रही है, तिन सब अवस्थाओं का कारण कर्म ही है, दूसरा कोई नहीं। अरु देखने में भी कर्म ही कारण हो सकते हैं।

क्योंकि जब कोई पुण्यवान् राजा राज करता है, तो उसके राज में सुकाल, निरुपद्रव आदि के कारण जो सुख होता है; सो उस राजा के शुभ कर्म का प्रभाव है। इस कारण से जो* ठहर ठहर जीवों को फल देते हैं, सो कर्म हैं। कर्म जो हैं सो जीवों के आश्रय हैं, अरु जीव जो हैं सो चेतन होने से बुद्धि वाले हैं। तब तो बुद्धि वाले के अधीन हो कर कर्म ठहर ठहर कर फल देते हैं। इस कारण से सिद्ध-साधन दूषण है। जेकर कहोगे कि पूर्वोक्त अनुमान से हम तो विशिष्ट बुद्धि वाला एक ईश्वर ही सिद्ध करते हैं; सामान्य बुद्धि वाले जीवों को सिद्ध नहीं करते। तब तो तुमारा दृष्टांत साध्यविकल है। क्योंकि वसोला, आरी प्रमुख में ईश्वर से अधिष्ठित व्यापार की उपलब्धि नहीं होती, किंतु बढ़ई और कुंभकारादिकों का व्यापार तहां तहां ही †अन्वय-व्यतिरेक करके उपलब्ध होता है।

प्रतिवादी:—वर्धकि-बढ़ई आदि भी ईश्वर ही की प्रेरणा से तिस तिस काम में प्रवृत्त होते हैं, इस वास्ते हमारा दृष्टांत साध्यविकल नहीं है।

* समयानुसार, यथा समय।

† 'अन्वय'—जिस के होने पर जो होवे, जैसे धूम के होने पर अग्नि का होना। 'व्यतिरेक'—जिस के अभाव में जो न होवे, जैसे वह्नि के अभाव में धूम का न होना। इन दोनों नियमों से व्याप्ति का निर्णय होता है।

सिद्धान्तीः—तब तो ईश्वर भी किसी दूसरे ईश्वर की प्रेरणा ही से प्रवृत्त होवेगा और वो दूसरा किसी तीसरे ईश्वर की प्रेरणा से प्रवृत्त होगा, तब तो अनवस्था दूषण हो जायगा।

प्रतिवादीः—बढ़ई प्रमुख सर्व जीव तो अज्ञानी हैं, इस वास्ते ईश्वर की प्रेरणा ही से अपने अपने काम में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु ईश्वर तो सर्व पदार्थों का ज्ञाता है, उस को किसी दूसरे प्रेरक की ज़रूरत नहीं। इस वास्ते अनवस्था दूषण नहीं है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि इस तुमारे कहने में इतरेतराश्रयरूप दूषण आता है—प्रथम ईश्वर सर्व पदार्थ के यथावस्थित स्वरूप का ज्ञाता सिद्ध हो जावे, तब "अन्य की प्रेरणा के बिना ईश्वर आप ही प्रवृत्त होता है"—ऐसा सिद्ध होवे, और जब अन्य की प्रेरणा के बिना ईश्वर आप ही प्रवृत्त होता है—ऐसे सिद्ध हो जावे तब तो ईश्वर सर्व पदार्थ के यथावस्थित स्वरूप का जानने वाला सर्वज्ञ सिद्ध होवे। जब तक दोनों में से एक की सिद्धि न हो जावे, तब तक दूसरे की सिद्धि कभी न होगी। तथा हे ईश्वरवादी! हम तुम को पूछते हैं कि जेकर ईश्वर सर्वज्ञ अरु वीतराग है, तो काहे को और जीवों को असत् व्यवहार में प्रवर्त्तावे है? क्योंकि जो विवेकी होते हैं वे मध्यस्थ ही होते हैं। तथा

सब जीवों को सत् व्यवहार ही में प्रवृत्त करते हैं, असत् व्यवहार में नहीं। परन्तु ईश्वर तो असत् व्यवहारों में भी जीवों को प्रवृत्त करता है, इस वास्ते आप का ईश्वर सर्वज्ञ और वीतराग नहीं हो सकता।

प्रतिवादीः—ईश्वर तो सर्व जीवों को शुभ कर्म करने में ही प्रवृत्त करता है, इस वास्ते वह सर्वज्ञ और वीतराग ही है। तथा जो जीव अधर्म करने वाले हैं, उन को असत् व्यवहार में प्रवृत्त कर, पीछे नरकपात आदि फल देता है। जिस से कि फिर वो जीव इस नरकपात आदि दुःख से डरता हुआ पाप न करे। इस वास्ते उचित फल देने से ईश्वर विवेकवान् अरु वीतराग तथा सर्वज्ञ है। उस में कोई भी दूषण नहीं है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना विचार युक्त नहीं है। क्योंकि प्रथम जीव को पाप करने में भी तो ईश्वर ही प्रवृत्त करता है। ईश्वर के बिना दूसरा तो कोई प्रेरक है नहीं। अरु जीव आप तो कुछ कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अज्ञानी है। तो फिर प्रथम पाप करने में जीवों को प्रवृत्त करना, पीछे उन को नरक में डाल कर, उस पाप का फल भुगताना, तदनन्तर उन को धर्म में प्रवृत्त करना—क्या यही ईश्वर की ईश्वरता अरु विचारपूर्वक काम करना है?

प्रतिवादीः—ईश्वर तो जीवों को भले बुरे काम में

प्रवृत्त नहीं करता, किंतु यह जीव आप ही प्रवृत्त होते हैं। जीव जैसा जैसा कर्म करते हैं, उस कर्म के अनुसार ईश्वर भी तैसा तैसा फल उन जीवों को देता है। जैसे राजा चोरी आदि करने पर दण्ड देता है; परन्तु वह चोर को ऐसे नहीं कहता, कि तूं चोरी कर; किंतु चोरी करने की मनाई तो अवश्य करता है। फिर जेकर चोर चोरी करेगा, तब तो राजा उस को अवश्य दण्ड देवेगा; क्योंकि यह उस का कर्तव्य है। तैसे ही ईश्वर पाप तो नहीं कराता, परंतु पाप करने वालों को दण्ड अवश्य देता है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना अयुक्त है। क्योंकि जो राजा है, सो चोरों को निषेध करने में सर्व प्रकार से समर्थ नहीं है। कैसा ही उग्र—कठोर शासन वाला राजा क्यों न होवे और मन वचन काया करके कितना भी चोरी आदिक पाप कर्म को मने कराना चाहे; फिर भी लोक चोरी आदिक पाप कर्म को सर्वथा नहीं छोड़ते। परन्तु ईश्वर को तो तुम सर्व शक्तिमान् मानते हो, तो फिर वो सर्व जीवों को पाप करने में प्रवृत्त होते हुओं को क्यों नहीं मने करता ? जेकर मने नहीं करता, तब तो ईश्वर ही सर्व जीवों से पाप कराता है, यही सिद्ध हुआ। जेकर कहोगे कि पाप में प्रवृत्त होते जीवों को ईश्वर मने करने में समर्थ नहीं है, तो फिर ऊंचे शब्द से ऐसे कभी न कहना कि सब कुछ ईश्वर ने ही करा है, और ईश्वर सर्व

शक्तिमान् हैं । तथा जेकर कहो कि जीव पाप भी आप ही करता है, अरु धर्म भी आप ही करता है । तो फिर फल भी वह आप ही भोग लेवेगा, इस के वास्ते ईश्वर कर्त्ता की कल्पना करना व्यर्थ है ।

प्रतिवादीः—धर्म अधर्म तो जीव आप ही करते हैं, परन्तु उन का फलप्रदान तो ईश्वर ही करता है । क्योंकि जीव जो हैं, सो अपने करे हुए धर्म अधर्म का फल आप भोगने को समर्थ नहीं हैं । जैसे चोर, चोरी तो आप ही करता है, परन्तु उस चोरी का फल जो बन्दीखाना—जेल खाना है । उस में वोह आप हो नहीं चला जाता, किन्तु कोई दूसरा उसे बन्दीखाने में डालने वाला चाहिये ।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जब जीव धर्म, अधर्म करने में समर्थ है, तो फिर फल भोगने में समर्थ क्यों नहीं ? इस संसार में जीव जैसे जैसे पाप, वा धर्म करता है, तैसे तैसे पाप और धर्म के फल भोगने में वह निमित्त भी बन जाता है । जैसे चोर चोरी करता है, तिस का फल-दण्ड राजा देता है । कुष्ठ हो जाता है, शरीर में कीड़े पड़ जाते हैं, अग्नि में जल मरता है, पाणी में डूब मरता है, खड्ग से कट जाता है, तोप बंदूक की गोला गोली से मर जाता है, हाट, हवेली, और मट्टी के नीचे दब कर अनेक तरें के सङ्कट भोग कर मर जाता है, निर्धन हो जाता है, इत्यादि असंख्य निमित्तों से अपने करे कर्म के

फल को यह जीव भोगता है। इहां बिना इन उक्त निमित्तों के, दूसरा कोई ईश्वर फल दाता नहीं दीखता। ऐसे ही नरक स्वर्गादि परलोक में भी शुभाशुभ कर्म का फल भोगने के असंख्य निमित्त हैं। जेकर कहो कि परस्त्री गमन करने से जो पाप होगा, उस पाप का फल भोगने में क्या निमित्त मिलेगा, जिस के जोग से फल भोगना होगा? यह बात तो मैं [ग्रन्थकार] नहीं जानता, कि इस पुण्य या पाप का फल, इस अमुक निमित्त के मिलने से होगा। क्योंकि मेरे को इतना ज्ञान नहीं कि ठीक ठीक-पूरा पूरा निमित्त बता सकूं? परन्तु इतना कह सकता हूं कि जो जो जीव पुण्य या पाप करते हैं, उन के फल भोगने में कोई न कोई निमित्त जरूर होगा। तथा यह जीव अमुक कर्म का इस तरें से फल भोगेगा, उस को यह निमित्त मिलेगा, अमुक देश में, अमुक काल में मिलेगा, इत्यादि सब कुछ प्रत्यक्षपने—प्रत्यक्ष रूप से तो अर्हंत-भगवंत-परमेश्वर सर्वज्ञ के ज्ञान में ही भासमान होता है। परन्तु निमित्त के बिना कोई भी फल नहीं भोग सकता। इस वास्ते कर्म फल दाता ईश्वर है, यह कल्पना व्यर्थ है। क्या यह भी कोई बुद्धिमानों का कहना है, कि रोटी पका तो सकता है, परन्तु आप खा नहीं सकता। तथा ईश्वर को फलदाता कल्पना करने से एक और भी कलंक तुम उस पर लगाते हो। कल्पना करो किसी एक पुरुष को किसी दूसरे पुरुष ने खड्ग-तलवार आदि शस्त्र से मार दिया

तब मरने वाले ने जो सङ्कट पाया, सो किस के योग से ? किसकी प्रेरणा से ? जे कर कहोगे कि ईश्वरने उस शस्त्र वाले को प्रेरा, तब उस ने उस को मारा, तो फिर उस मारने वाले को फांसी क्यों मिलती है ? क्या ईश्वर का यही न्याय है ? जो कि प्रथम तो पुरुष के हाथ से उस को स्वयं मरवा डालना, अरु पीछे उस मारने वाले को फांसी देना, इस तुमारी समझ ने ईश्वर को बड़ा अन्यायी सिद्ध कर दिया है। जेकर कहो कि ईश्वर की प्रेरणा के बिना ही उस पुरुष ने दूसरे पुरुष को मारा, अरु दुःख दिया है; तब तो निमित्त ही से सुख दुःख का भोगना सिद्ध हो गया। फिर भी ईश्वर को ही फलदाता कलपना करना, क्या यह अल्प बुद्धि वालों का काम नहीं है ? तथा हे ईश्वरवादी ! हम तुम को एक और बात पूछते हैं, कि जो धर्म का फल—स्वर्ग-लोक में उन्मत्त देवांगनाओं के सुकुमार शरीर का स्पर्श करना है, सो तो जीवों को सुख का कारण है। इस वास्ते ईश्वर ने यह फल उन जीवों को दिया। परन्तु घोर नरक के कुण्ड में पड़ना, नाना प्रकार के दुःख-संकट, त्रास, कुम्भी-पाक, चर्मउत्कर्त्तन, अग्नि में जलना, इत्यादि महा दुःख रूप जो अधर्म का फल है, वो उन जीवों को ईश्वर क्यों देता है ?

प्रतिवादीः—जीव ने पाप कर्म करे थे, उन का फल उस जीव को ज़रूर देना चाहिये, इस वास्ते ईश्वर फल देता है।

सिद्धान्तीः—इस तुमारे कहने से तो ईश्वर व्यर्थ ही

जीवों को पीडा देना है, क्योंकि जब ईश्वर पाप करने वाले जीव को पाप का फल न देगा, तब तो वह जीव कर्म का फल भोग नहीं सकेगा, फिर आगे को न तो शरीर ही धारेगा अरु न नवीन पाप ही करेगा। फिर पता नहीं कि बैठे बिठाये ईश्वर को क्या गुदगुदी उठती है, जो कि उन जीवों को नरक में डाल देता है? परन्तु जो मध्यस्थ भाव वाला अरु परम दयालु होता है, वो किसी जीव को कभी निरर्थक पीडा नहीं देता।

प्रतिवादीः—ईश्वर अपनी क्रीडा के वास्ते किसी को नरक में डालता है, किसी को तिर्यंच योनिमें उत्पन्न करता है, किसी को मनुष्य जन्म में, और किसी को स्वर्ग में उत्पन्न करता है। जब वो जीव नाचते कूदते, रोते, पीटते, और विलाप करते हैं, तब ईश्वर अपनी रची हुई सृष्टि रूप बाज़ी का तमाशा देखता है; इस वास्ते जगत् रचता है।

सिद्धान्तीः—जब ऐसे है, तब तो ईश्वर* प्रेक्षावान् नहीं है, क्योंकि उस की तो क्रीडा है, परन्तु विचारे रंक जीव तड़फ तड़फ के महाकरुणास्पद हो कर मर रहे हैं। तो फिर ईश्वर को दयालु मानना बड़ी भारी अज्ञानता है। क्योंकि जो महा पुरुष दयालु और सर्वज्ञ होते हैं, वे कदापि किसी जीव को दुःख देकर क्रीडा नहीं करते। तो फिर ईश्वर होकर वह क्रीडार्थी कैसे हो सकता है? तथा

* विचार शील, बुद्धिमान्।

क्रीडा जो है, सो सरागी को होती है, अरु ईश्वर तो वीत-राग है, तो फिर ईश्वर का क्रीडारस में मग्न होना कैसे संभवे ?

प्रतिवादीः—हमारा ईश्वर जो है सो रागी द्वेषी है, इस कारण से उसमें क्रीडा करने का संभव हो सकता है।

सिद्धान्तीः—तब तो तुम ने अपना मुख धोने के बदले उलटा काला कर लिया। क्योंकि जो राग अरु द्वेष वाला होगा, वह हमारे सरीखा रागी ही होगा; किन्तु वीतराग नहीं होगा। तब तो वीतराग न होने से वोह ईश्वर तथा सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता। तो फिर उस को सृष्टि के रचने वाला क्यों कर माना जावे ?

प्रतिवादीः—हम तो ईश्वर को राग द्वेष संयुक्त और सर्वज्ञ मानते हैं, इस वास्ते सर्व जगत् का कर्त्ता है।

सिद्धान्तीः—इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। जिस से कि ईश्वर रागी, द्वेषी, अरु सर्वज्ञ सिद्ध होवे।

प्रतिवादीः—ईश्वर का स्वभाव ही ऐसा है, कि रागी द्वेषी भी होना, अरु सर्वज्ञ भी रहना। स्वभाव में कोई तर्क नहीं हो सकती। जैसे कोई प्रश्न करे कि अग्नि दाहक है, तद्वत् आकाश दाहक क्यों नहीं ? तो इसका यही उत्तर दिया जायगा कि अग्नि में दाह का स्वभाव है, आकाश में नहीं। इसी प्रकार ईश्वर भी स्वभाव से ही रागी, द्वेषी अरु सर्वज्ञ है।

सिद्धान्तीः—ऐसे तो कोई भी वादी कह सकता है कि यह जो हमारे सन्मुख गधा खड़ा है, सो सर्व जगत् का रचने वाला है। जेकर कोई वादी पूछे कि किस हेतु से यह गर्दभ जगत् का रचने वाला है ? तब तिस को भी ऐसा ही उत्तर दिया जायगा कि इस गर्दभ का स्वभाव ही ऐसा है, कि जगत् को रच के, राग द्वेष वाला सर्वज्ञ हो कर. फिर गर्दभ ही बन जाता है। इसी तरे महिष आदिक सर्व जीव जगत् के कर्त्ता सिद्ध किये जा सकते हैं। ईश्वर क्या हुआ भानमती का एक तमाशा हुआ। जो कुछ अपने मन में आया सो, बना लिया। यह तो ईश्वर को बड़ा भारी कलंक लगाना है। इस वास्ते ईश्वर जो है सो सर्वज्ञ और वीतराग है। वो क्रीडा के निमित्त इस जगत् को रचने वाला नहीं है। तथा हे ईश्वरवादी! तेरे कहने के अनुसार जब ईश्वर ने ही सब कुछ रचा है, तब तो तीन सौ त्रेसठ पाखण्डमत के सर्व शास्त्र भी ईश्वर ही ने रचे होंगे। अरु ये सर्व शास्त्र आपस में विरुद्ध हैं। तब तो अवश्य कितनेक शास्त्र सत्य अरु कितनेक असत्य होंगे। तो फिर झूठ अरु सत्य दोनों का उपदेशक भी ईश्वर ही ठहरा। अरु सर्व मत वालों को आपस में लड़ाने वाला भी उसी को मानना चाहिये। हजारों लाखों मनुष्य इन मतों के झगड़ों में मर जाते हैं। ईश्वर ने शास्त्र क्या रचे ? जगत् में एक बड़ा भारी उपद्रव मचा दिया। ऐसे झूठे सच्चे

शास्त्र रचने वाले को तो ईश्वर कहने के बदले महा धूर्त्त कहना चाहिये। जेकर कहोगे कि ईश्वर ने तो सच्चे शास्त्र ही रचे हैं, झूठे नहीं रचे; झूठे तो जीवों ने आप ही बना लिये हैं। तब तो ईश्वर ने जगत् भी नहीं रचा होगा, जगत् भी जीवों ने ही रचा होगा; क्योंकि ईश्वर किसी प्रमाण से सब वस्तु का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता।

तथा तुम ने जो पूर्व में दूसरा अनुमान करा था, कि जो जो आकार वाली वस्तु है, सो सर्व बुद्धि वाले की ही रची हुई है। जैसे पुराने कूवें को देखने से उसके बनाने वाले का निश्चय होता है। यद्यपि कारीगर तहां नहीं भी उपलब्ध होता, तो भी उसका कर्त्ता कोई कारीगर ही अनुमान से सिद्ध होगा, जैसे नवे कूवें का कर्त्ता अमुक कारीगर उपलब्ध होता है। सो यह भी तुमारा कहना समीचीन नहीं; क्योंकि बादल, सर्प की बांबी प्रमुख संस्थान वालों में आकारवत्त्व हेतु तो है, परंतु बुद्धि वाला कर्त्ता वहां पर कोई नहीं है। जेकर कहोगे कि बादल, इन्द्रधनुष, सर्प को बांबी प्रमुख संस्थान वाले किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं हैं। तब तो पृथिवी, पर्वत आदि भी किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं मानने चाहिये।

इन पूर्वोक्त प्रमाणों से किसी तरें भी ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता। अब जो पुरुष ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं, उन से हम यह कहते हैं कि

जब तक हमारी इन युक्तियों का उत्तर सर्वथा न दिया जावे, तब तक ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानना चाहिये। यदि कोई ईश्वर वादी हमारी इन युक्तियों का पूरा उत्तर दे देवेगा, तब तो हम भी ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मान लेवेंगे, अन्यथा कभी नहीं माना जायगा।

प्रतिवादीः—ईश्वर जगत् का कर्त्ता तो सिद्ध नहीं होता, परन्तु एक ईश्वर है यह तो सिद्ध होता है?

सिद्धान्तीः—ईश्वर एक ही है, यह बात सिद्ध करने वाला भी कोई प्रमाण नहीं है।

प्रतिवादीः—ईश्वर के एक सिद्ध होने में यह प्रमाण है।

एकत्व का प्रतिवाद

जहां बहुते एकठे होकर एक काम को करने लगते हैं, वह अन्य अन्य मति वाले होने से एक कार्य भी नहीं कर सकते, ऐसे ही जब ईश्वर अनेक होंगे, तब तो सृष्टि प्रमुख एक ही कार्य के करने में न्यारी न्यारी मति होने से कार्य में *असमंजस उत्पन्न होवेगा। इस वास्ते ईश्वर एकही होना चाहिये।

सिद्धान्तीः—इस तुमारे प्रमाण से तो ईश्वर एक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि वोह किसी वस्तु का कर्त्ता सिद्ध नहीं हुआ। तथा एक मधुछत्ते के बनाने में सर्व मक्षिकाओं का तो एक †मना हो जाता है, परन्तु निर्विकार, निरुपाधिक, ज्योतिःस्वरूप ईश्वरों का एक मना नहीं हो सकता, यह बडे आश्चर्य

* अव्यवस्था † मति, विचार।

की बात है ? क्या तुमने ईश्वरों को कीड़ों से भी बुद्धिहीन, अभिमानी, अरु अज्ञानी बना दिया, जो कि उन सब का एक मता नहीं हो सकता ?

प्रतिवादीः—मक्षिका जो बहुत एकठी हो कर एक मधु-छत्ता आदिक कार्य बनाती हैं। तहां भी एक ईश्वर ही के व्यापार से एक मधुछत्ता बनता है।

सिद्धान्तीः—तब तो घड़ा बनाना, चोरी करना, परस्त्री गमन करना, इत्यादिक सब काम ईश्वर के ही व्यापार से करे सिद्ध होंगे। अरु सर्व जीव अकर्त्ता सिद्ध हो जावेंगे। फिर पुण्य पाप का फल किस को होगा ? अरु नरक स्वर्ग में जीव क्यों भेजे जायेंगे ?

प्रतिवादीः—कुम्भारादिक चोरादिक सर्व जीव, स्वतंत्रता से अपना अपना कार्य करते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

सिद्धान्तीः—क्या मक्षिकाओं ही ने तुमारा कुछ अपराध करा है, जो उन को स्वतंत्र नहीं कहते हो ? तथा इस तुमारे एक ईश्वर मानने से तो ऐसा भी प्रतीत होता है; कि जेकर अनेक ईश्वर मानें जावेंगे तो, कदाचित् एक सृष्टि रचने में उनका विवाद हो जावे, तो उस विवाद को दूर कौन करेगा ? क्योंकि सरपंच तो कोई है नहीं। तथा एक ईश्वर को देख के दूसरा ईश्वर ईर्ष्या करेगा, कि यह मेरे तुल्य क्यों है ? इत्यादिक अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जावेंगे। इस वास्ते ईश्वर एक ही मानना चाहिये, यह तुमारी समझ भी अज्ञान रूप

घुणा से खाई हुई है। क्योंकि जब ईश्वर सर्वज्ञ है तब तो सर्वज्ञ के ज्ञान में एक ही सरीखा भान होना चाहिये, तो फिर विवाद क्यों कर होगा ? तथा ईश्वर तो राग, द्वेष, ईर्ष्या, अभिमानादि सर्व दूषणों से रहित है, तब तो दूसरे ईश्वर को देख कर ईर्ष्या अभिमान क्योंकर करेंगे ? जेकर ईश्वर हो कर भी आपस में विवाद,-झगडे, ईर्ष्या, अभिमान करेंगे, तो तिन पामरों को ईश्वर ही कैसे माना जायगा ? जब कि जगत् का कर्त्ता ही ईश्वर सिद्ध नहीं होता, तब ईश्वरों का आपस में विवाद-झगड़ा ही काहे को होगा ? इस वास्ते ईश्वर अनंते मानने में कुछ भी दूषण नहीं।

सर्वव्यापकता का प्रतिवाद

तथा ईश्वर सर्वव्यापक है—यह भी जो मानते हैं, सो भी प्रामाणिक नहीं है; क्योंकि जो वादी ईश्वर को सर्व व्यापक मानते हैं; क्या वो उस को शरीर करके व्यापक मानते हैं ? वा ज्ञान स्वरूप करके व्यापक मानते हैं ? जे कर शरीर करके ईश्वर को व्यापक मानेंगे, तब तो ईश्वर का शरीर ही सब जगा समा जायगा, दूसरे पदार्थों के रहने वास्ते कोई भी अवकाश न मिलेगा । इस वास्ते ईश्वर देह करके तो सर्वत्र व्यापक नहीं है।

प्रश्नः—क्या ईश्वर के भी शरीर है, जो तुम ऐसे विकल्प करते हो ?

उत्तरः—हे भव्य ! ऐसे भी इस जगत् में मत हैं, जो ईश्वर को देह धारी मानते हैं।

प्रश्नः—वो कौन से मत हैं, जिनों ने शरीरधारी ईश्वर माना है ?

उत्तरः—तौरेत नामा ग्रन्थ में ऐसे लिखा है, कि ईश्वर ने इबराहीम के यहां रोटो खाई, तथा याकूब के साथ कुस्ती करी। इस लिखने से प्रतीत होता है कि ईश्वर देहधारी है। तथा शंकरदिग्विजय के दूसरे प्रकरण में शंकर स्वामी का शिष्य आनंदगिरि लिखता है कि जब नारद जी ने देखा, कि इस लोक में बहुत कपोलकल्पित मत उत्पन्न हो गये हैं, अरु सनातन धर्म लुप्त हो गया है; तब तो नारद जी शीघ्र ही ब्रह्मा जी के पास पहुंचे, अरु जाकर कहने लगे कि हे पिता जी! तुमारा मत तो प्रायः नहीं रहा; अरु लोगों ने अनेक मत बना लिये हैं। सो इस बातका कुछ उपाय करना चाहिये। तब तो ब्रह्मा जी बहुत काल तांई चिन्तन करके पुत्र, मित्र, भक्त जनों को साथ लेकर अपने लोक से चल कर शिव लोक में पहुंचे। आगे क्या देखते हैं कि जैसे मध्याह्न में कोटि सूर्यों के समान तेज वाला तथा कोटि चन्द्रमा के समान शीतल, और पांच जिस के मुख हैं, चन्द्रमा जिस के मुकुट में है, बिजलीवत् पिंगल जटा का धारक, और पार्वती जिस के वाम अङ्ग में है, ऐसा सर्व का ईश्वर महादेव विराजमान है। ब्रह्मा जी नमस्कार करके उस की स्तुति करने लगे, यथा—हे महादेव, सर्वज्ञ, सर्वलोकेश, सर्वसाक्षी, सर्वमय, सर्वकारण, इत्यादि। इस लिखने से प्रगट प्रतीत होता है कि ईश्वर

देहधारी है। जेकर देहधारी ईश्वर न होवे, तो फिर पांच मुख कैसे होवें ? इस प्रमाण से ईश्वर शरीर रहित सिद्ध नहीं होता। अब जेकर शरीर धारी ईश्वर व्यापक होवे तब तो इस लोक में अकेला ईश्वर ही व्यापक हो कर रहेगा। दूसरे पदार्थों को रहने के वास्ते कोई दूसरा ही लोक चाहिये। जेकर कहोगे कि ज्ञान स्वरूप करके ईश्वर सर्व व्यापक है, तब तो सिद्धसाधन ही है। क्योंकि हम भी तो ज्ञानस्वरूप करके भगवान् को सर्वव्यापी मानते हैं। अरु ऐसा मानने में तुमारे वेद से विरोध होवे है। क्योंकि वेदों में शरीर करके सर्व व्यापक कहा है। यथा—

* विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पादित्यादि। [ऋग्० ८-३-१६-३]

इस श्रुति से सिद्ध है, कि ईश्वर शरीर करके सर्व व्यापक है। फिर तो पूर्वोक्त ही दूषण आवेगा। इस वास्ते ईश्वर व्यापक नहीं।

सर्वज्ञता का प्रतिवाद

तथा तुम कहते हो कि ईश्वर सर्वज्ञ है; परन्तु तुमारा ईश्वर सर्वज्ञ भी नहीं। क्यों कि हम जो सृष्टि कर्त्ता ईश्वर का खण्डन करने वाले हैं, सो उस से विपरीत चलते हैं, फिर हम को उस ने क्यों रचा ? जेकर कहोगे कि जन्मां-

* वह-ब्रह्म सब का चक्षु है, सब का मुख है, सब का बाहु और सब का पैर है

मंतरों में उपार्जित जो जो तुमारे शुभाशुभ कर्म हैं, तिनों के अनुसार तुम को ईश्वर फल देता है, तो फिर तुमारे कहने ही से ईश्वर के स्वतंत्रपने को जलांजलि दी गई। क्योंकि जब हमारे कर्मों के बिना ईश्वर फल नहीं दे सकता, तब तो ईश्वर के कुछ अधीन नहीं है। जैसे हमारे कर्म होंगे, तैसा हम को फल मिलेगा। जेकर कहो कि ईश्वर जो इच्छे, सो करे, तब तो कौन जानता है कि ईश्वर क्या करेगा? क्या धर्मियों को नरक में और पापियों को स्वर्ग में भेजेगा? जेकर कहो कि परमेश्वर न्यायी है। जो जैसा करेगा, उस को वैसा ही वोह फल देता है। तो फिर वोही परतंत्रता रूप दूषण ईश्वर में आ लगेगा।

नित्यता का प्रतिवाद

तथा—ईश्वर नित्य है, यह कहना भी अपने घर ही में सुन्दर लगता है। क्योंकि नित्य तो उस वस्तु को कहते हैं, जो तीनों कालों में एक रूप रहे, अब ईश्वर नित्य है, तो क्या उस में जगत् को बनाने वाला स्वभाव है वा नहीं? जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव है, तब तो ईश्वर निरंतर जगत् को रचा ही करेगा, कदापि रचनें से बन्द न होगा, क्योंकि ईश्वर में जगत् के रचने का स्वभाव नित्य है। जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव नहीं है, तब तो ईश्वर जगत् को कदापि न रच सकेगा। क्योंकि जगत् रचने का स्वभाव ईश्वर में है ही नहीं।

तथा जेकर ईश्वर में एकान्त नित्य जगत् रचने का स्वभाव है, तब तो प्रलय कभी भी नहीं होगी; क्योंकि ईश्वर में प्रलय करने का स्वभाव नहीं है। जेकर कहोगे कि ईश्वर में रचने की अरु प्रलय करने की दोनों ही शक्तियां नित्य विद्यमान हैं, तब तो न जगत् रचा जायगा अरु न प्रलय ही होगी, क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियां एक जगे एक काल में कदापि नहीं रह सकतीं। जिस काल में रचने वाली शक्ति रचेगी, तिसी काल में प्रलय करने वाली शक्ति प्रलय करेगी, अरु जिस काल में प्रलय करने वाली शक्ति प्रलय करेगी, तिसी काल में रचने वाली शक्ति रचना करेगी। इस प्रकार जब शक्तियों का परस्पर विरोध होगा, तब न जगत् रचा जावेगा, न प्रलय किया जावेगा। फिर तो हमारा ही मत सिद्ध होगा, अर्थात् न किसी ने यह जगत् रचा है, अरु न इस की कदे प्रलय होती है। तातें यह जगत अनादि, अनंत रूपपने सिद्ध हो गया। जेकर कहो कि ईश्वर में दोनों ही शक्तियां नहीं हैं, तो फिर जगत् की रचना और प्रलय कैसे ? तब भी वो अनादि, अनंत ही सिद्ध हुआ। जेकर कहोगे कि ईश्वर जब चाहता है, तब रचने की इच्छा कर लेता है, अरु जब प्रलय करता है, तब प्रलय की इच्छा कर लेता है, इस में क्या दूषण है ? ऐसा कहने से तो ईश्वरकी शक्तियां अनित्य होजावेंगी। भले अनित्य हो जावें, इसमें हमारी क्या हानि है ? जेकर ईश्वर की शक्तियों

को अनित्य कहोगे तब तो ईश्वर भी अनित्य हो जावेगा, क्योंकि ईश्वर का अपनी शक्तियों से अभेद है। जेकर कहोगे कि शक्तियां ईश्वर से भेदरूप हैं, तब भी शक्तियों के नित्य होने से जगत् की रचना और प्रलय नहीं बनेगी। तथा ईश्वर भी अकिंचित्कर सिद्ध हो जावेगा। क्योंकि जब ईश्वर सर्व शक्तियों से रहित है तब तो वह कुछ भी करने को समर्थ नहीं है, फिर जगत् रचने में क्यों कर समर्थ हो सकेगा? तथा शक्तियों का उपादान कारण कौन होवेगा? इस से तो ईश्वर की ईश्वरता का ही अभाव हो जावेगा। क्योंकि जब ईश्वर में कोई शक्ति ही नहीं, तब ईश्वर काहे का? वो तो आकाश के फूल के समान असत् हो जाता है, तो फिर इस जगत् का कर्त्ता किस को मानोगे?

अब आगे *खण्डज्ञानियों का ईश्वरवाद लिखते हैं:—

खण्डज्ञानियों से ईश्वर चर्चा

प्रतिवादीः—जगत् में जितने पदार्थ हैं, उनके विलक्षण विलक्षण संजोग, आकृति, तथा गुण और स्वभाव दीख पड़ते हैं। जेकर इनका तथा इन के नियमों का कर्त्ता कोई न होगा, तो ये नियम कभी न बनेंगे; क्योंकि जड पदार्थों में तो मिलने वा जुड़े होने की यथावत् सामर्थ्य

* यह पंजाबी भाषा का शब्द है। इस का अर्थ अर्द्धविदग्ध-इधर उधर की दो चार बातें सुन सुना कर अपने आप को पंडित मानने वाला होता है।

नहीं; इस हेतु से ईश्वर जगत्कर्त्ता अवश्य होना चाहिये।

सिद्धान्तीः—जगत्कर्त्ता ईश्वर का खंडन तो हम प्रथम ही कर चुके हैं, फिर आप जगत् का कर्त्ता क्योंकर मानते हैं? अरु जो तुम ने लिखा है कि जगत् के पदार्थों में न्यारे न्यारे स्वभाव दीख पड़ते हैं; इससे ईश्वर की सिद्धि होती है। परन्तु इस कहने से ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व पदार्थों में अनंत शक्तियां हैं। सो अपनी अपनी शक्तियों से सर्व पदार्थ अपने अपने कार्य को करते हैं। इन के मिलने में एक तो काल, दूसरा पदार्थ का स्वभाव, तीसरी नियति, चौथा जीवों का कर्म, पांचवां उन का पुरुषार्थ—उद्यम, ये पांच निमित्त हैं। इन पूर्वोक्त पांचों निमित्तों के बिना और कोई भी निमित्त नहीं है। इन पांचों का स्वरूप आगे चल कर लिखेंगे।

तथा प्रत्यक्ष में भी इन पांचों के निमित्त से ही सब कुछ उत्पन्न होता है, जैसे बीजांकुर। जब बीज बोया जाता है, तब काल—समय भी अनुकूल होना चाहिये, अरु बीज, जल, पृथिवी, इत्यादिकों का स्वभाव भी अवश्य होना चाहिये। तथा नियति [जो जो पदार्थों का स्वभाव है, तिन पदार्थों का तथा तथा जो परिणमन होना है, तिस का नाम नियति है] कारण है। तथा अष्टविध कर्म भी कारण हैं, तथा पुरुषार्थ—जीवों का उद्यम भी कारण है। ए पांचों वस्तु अनादि हैं, किसी ने भी इन को रचा नहीं

है, क्योंकि जो जो वस्तु का स्वभाव है, सो सो सर्व अनादि काल से है । जेकर वस्तु में अपना अपना स्वभाव न होवेगा, तब तो कोई भी वस्तु सद्रूप न रहेगी; किंतु सर्व वस्तु शशशृंगवत् असत् हो जायगी। अरु जो पृथिवी, आकाश, सूर्य, चंद्रमा, आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं; सो इसी तरें अनादि रूप से सिद्ध हैं। अरु पृथवी पर जो जो रचना दीखती है, सो सब प्रवाह से ऐसे ही चली आती है; अरु जो जो जगत्के नियम हैं, वे सर्व इन उक्त पांचों निमित्तों के बिना नहीं हो सकते । इस वास्ते सर्व पदार्थ अपने अपने नियम में हैं। जेकर तुम द्रव्य की शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो हमारी कुछ हानि नहीं; क्यों कि हम द्रव्य की अनादि शक्ति का ही नाम ईश्वर रख लेवेंगे। अरु यदि तुम द्रव्य की अनादि शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो तुमारा हमारा विवाद ही दूर हो जावेगा। तथा तुम ने जो यह कहा है कि जड में यथावत् मिलने की शक्ति नहीं है, सो तुमारा यह कहना भी मिथ्या है; क्यों कि जगत् में अनेक तरें के जड पदार्थ अपने आप ही इन पूर्वोक्त पांच निमित्तों से आपस में मिल जाते हैं । जैसे सूर्य की किरणें जब बादलों में पड़ती हैं, तब इन्द्रधनुष बन जाता है। तथा संध्या, पांच वर्ण के बादलों की बनी हुई घटा, चन्द्रमा और सूर्य के गिरद कुण्डल, आकाश में पवनों के मिलने से जल, और अग्नि आदि पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। तथा

पूर्वोक्त पांचों निमित्तों से वर्षा के द्वारा अनेक प्रकार के घास तृणादि, अनेक प्रकार की वनस्पति, तथा अनेक प्रकार के कीट पतंग प्रमुख जीव उत्पन्न हो जाते हैं । परन्तु पांचों निमित्तों के विना किसी वस्तु को बनाता हुआ अन्य कोई ईश्वर नहीं दिखाई देता; ज़रा पक्षपात छोड़ और विचार कर के देखो कि, ईश्वर जगत् का कर्त्ता किस तरें से हो सकता है ? क्योंकि पृथ्वी, आकाश, चन्द्र, सूर्य, इत्यादिक तो द्रव्यार्थिक नय के मत से अनादि हैं, फिर इन के वास्ते पूछना कि यह किस ने बनाये हैं ? कितने आश्चर्य की बात है ? और यदि ऐसा ही है, तो फिर हम पूछते हैं, कि ईश्वर किस ने बनाया ? जेकर कहो कि ईश्वर तो किसी ने नहीं बनाया, वो तो अनादि से ही बना बनाया है । तो फिर पृथ्वी प्रमुख कितनेक पदार्थ भी अनादि से ही बने बनाये हैं, ऐसे मानने में क्यों लज्जा करते हो ?

प्रतिवादीः—जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, उनके मत में यह दोष आवेंगे । जेकर यह पृथिवी स्वभाव से ही होती, तो इस का कर्त्ता और नियंता कोई न होता, तथा पृथिवी से भिन्न दस कोस पर अन्तरिक्ष में दूसरी पृथिवी भी आप से आप बन जाती, परन्तु आज तक नहीं बनी । इस से जाना जाता है, कि ईश्वर ही पृथिवी आदि का कर्त्ता है ।

सिद्धान्तीः—तुम को कुछ विचार है, वा नहीं ? जे कर

है, तो पूर्वोक्त तुमारा कहना अयुक्त है; क्योंकि हम तो यह कहते हैं, कि पृथिवी आदिक अनादि हैं—किसी ने बनाये नहीं और तुम कहते हो कि आकाश में दस कोस के अन्तर में दूसरी पृथिवी क्यों नहीं बन जाती ? अब तुम ही विचारो कि तुमारा यह प्रश्न मूर्खताई का है, वा बुद्धिमानी का ? तथा इस प्रश्न के उत्तर में जो कोई तुम से पूछे, कि ईश्वर यदि स्वभाव से बना होवे, तो ईश्वर से अलग दूसरा ईश्वर क्यों नहीं उत्पन्न होता ? जे कर कहो कि ईश्वर तो अनादि है, वो क्योंकर नया दूसरा ईश्वर बन जावे ? तो इस तरह हम भी कह सकते हैं कि पृथिवी अनादि है, नवीन नहीं बनती । तो फिर दस कोस के अन्तरे आकाश में क्योंकर बन जावे ?

प्रतिवादीः—जे कर आप से आप ही वस्तु बननी होवे, तो सर्व परमाणु एकठे क्यों नहीं मिल जाते ? अथवा एक एक होकर बिखर क्यों नहीं जाते ?

सिद्धान्तीः—ये जड परमाणु हमारी ही आज्ञा में नहीं चलते, जिस से कि हमारे कहे से एकठे होकर एक रूप हो जावें, अथवा एक एक होकर बिखर जावें । किन्तु पूर्वोक्त पांच निमित्त जहां पर मिलने के होंगे, तहां मिल जावेंगे, और जहां पर बिखरने के होंगे तहां बिखर जावेंगे अर्थात् नहीं मिलेंगे ।

प्रतिवादीः—सर्व परमाणुओं के एकत्र मिलने के पांच निमित्त क्यों नहीं मिलते ?

सिद्धान्तीः—इस अनादि संसार की नियति रूप जो मर्यादा है, वो कदापि अन्यथा नहीं होनी, जे कर हो जावे, तो संसार में जितने जीव जन्म लेते हैं, सो सर्व, स्त्रियों वा पुरुषों के ही रूप से क्यों नहीं उत्पन्न होते ? जेकर कहोगे कि उनके जैसे जैसे कर्म थे, वैसा वैसा ही उन को फल मिला हैं, इस वास्ते एक स्त्री आदिक स्वरूप से उत्पन्न नहीं होते ? तब हम पूछते हैं, कि सर्व जीवों ने स्त्री होने के वा पुरुष होने के न्यारे न्यारे कर्म क्यों करे ? एक ही सरीखे कर्म क्यों नहीं करे ? जेकर कहो कि संसार में यही सनातन रीति है, कि सर्व जीव एक सरीखे कर्म कदापि नहीं करते। तबतो परमाणुओं में भी यही सनातन स्वभाव है, कि सब एकठे नहीं होते, तथा एक एक होकर बिखर भी नहीं जाते। तथा यह तुमारा ईश्वर जो जगत् को रचता है, सो तुमारे कहने के अनुसार आगे अनन्त बार सृष्टियों को रच चुका है, अरु एक एक जीव को अशुभ कर्मों का फल भी अनंत बार दे चुका है, तो भी वो जीव आज ताई पाप करते ही चले जाते हैं, तो फिर दण्ड देने से ईश्वर को क्या लाभ हुआ ? जो कि अनंत काल से इसी विडम्बना में फंसा चला आ रहा है ? तथा तुम यह तो बताओ कि ईश्वर को सृष्टि रचने से क्या प्रयोजन था ?

प्रतिवादीः—ईश्वर को सृष्टि नहीं रचने का क्या प्रयोजन था ?

सिद्धान्तीः—वाह रे बछड़े के बाबा ! यह तूने अच्छा

उत्तर दिया। क्या तुमारे इस उत्तर को सुन कर विद्वान् लोग तुमारा उपहास न करेंगे? ईश्वर जे कर सृष्टि को रचे, तो उस की ईश्वरता ही नष्ट हो जावे, यह वृत्तांत ऊपर अच्छी तरह से लिख आये हैं।

प्रतिवादी:—ईश्वर को जो सर्व शक्तियां हैं, सो सर्व अपना अपना कार्य करती हैं, जैसे आंख देखने का काम करती है, कान सुनने का काम करते हैं, तैसे ही जो ईश्वर में रचनाशक्ति है, सो रचने से ही सफल होती है, इस वास्ते जगत् रचता है।

सिद्धांती—जब तुमने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना तब तो ईश्वर को सर्व शक्तियां सफल होनी चाहिये, यथा ईश्वर—१. एक सुन्दर पुरुष का रूप रच कर सर्व जगत् की सुन्दर सुन्दर स्त्रियों से भोग करे, २. चोर बन कर चोरी करे, ३. विश्वास घातीपना करे, ४. जीव-हत्या करे, ५. झूठ बोले, ६. अन्याय करे, ७. अवतार लेकर गोपियों से कल्लोल करे, ८. कुब्जा से भोग करे, ९. दूसरे की मांग को भगा कर ले जावे, १०. सिर पर जटा रक्खे ११. तीन आंख बनावे, १२. बैल के ऊपर चढ़े, १३. तन में विभूति लगावे, १४. स्त्री को वामांग में रक्खे, १५. किसी मुनि के आगे नंगा हो कर नाचे, १६. किसी को वर देवे, १७. किसी को शाप देवे, इसी तरें १८. चार मुख बना के एक स्त्री रक्खे, १९. अपनी पुत्री से भोग करे, २०. संग्राम करे, २१. स्त्री को कोई चोर चुरा ले जावे, तो पीछे उस स्त्री के

वास्ते रोता फिरे, २२. एक अपना भाई बनावे, उस को जब संग्राम में कोई शस्त्र लगे, तब भाई के दुःख से बहुत रोवे, २३. अपने आपको तो अज्ञानी समझे, २४. भाई की चिकित्सा के वास्ते वैद्य को बुलावे, २५. सब कुछ खावे, २६. सब कुछ पीवे, २७. नाचे, २८. कूदे, २९. रोवे, ३०. पीटे, पीछे से ३१. निर्मल, ३२. ज्योतिःस्वरूप, ३३. निरहंकार, ३४. सर्वव्यापक बन बैठे, इत्यादिक पूर्वोक्त शक्तियां ईश्वर में हैं वा नहीं ? जे कर हैं तो इतने पूर्वोक्त सब काम ईश्वर को करने पड़ेंगे। जेकर न करेगा, तब तो ईश्वर की सर्व शक्तियां सफल नहीं होवेंगी । और ईश्वर महा दुःखी हो जावेगा। क्योंकि जिस ने नेत्र तो पाये हैं, अरु देखना उस को मिले नहीं, तो वो कितना दुःखी होता है, यह सब कोई जानता है। जेकर कहोगे कि पूर्वोक्त अयोग्य शक्तियां ईश्वर में नहीं हैं, तब तो सर्व शक्तिमान् ईश्वर है, ऐसे कदापि न कहना चाहिये। जेकर कहो कि योग्य शक्तियों की अपेक्षा से हम सर्व शक्तिमान् मानते हैं, तब तो जगत् रचने वाली शक्ति को भी अयोग्य ही मानो। यह भी परमात्मा में नहीं है। इस शक्ति की अयोग्यता के विषय ऊपर लिख आये हैं, तथा हे भव्य ! जब ईश्वर ने प्रथम ही सृष्टि रची थी, तब स्त्री पुरुषादि तो थे नहीं, तब माता पिता के बिना ये मनुष्य क्यों कर उत्पन्न हुये होंगे ?

प्रतिवादीः—जब ईश्वर ने सृष्टि रची थी, तब ही बहुत से पुरुष, अरु स्त्री, बिना ही माता पिता के रच दिये गये

थे। उनके आगे फिर गर्भ से उत्पन्न होने लगे।

सिद्धान्तीः—यह अप्रामाणिक कहना कोई भी विद्वान् नहीं मानेगा, क्योंकि माता पिता के बिना कभी पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकता। जे कर ईश्वर ने प्रथम माता पिता के बिना ही पुरुष स्त्री उत्पन्न कर दिये थे, तो अब भी घड़े घड़ाये, बने बनाये, स्त्री पुरुष क्यों नहीं भेज देता? गर्भ धारण कराना, स्त्री पुरुष का मैथुन कराना, गर्भवास का दुःख भोगाना, योनि यन्त्र द्वारा खैंच के निकालना, इत्यादि संकट वह काहे को देता है? अनन्त वार ईश्वर ने सृष्टि रची, अरु अनंतवार प्रलय करी, तब तो ईश्वर थका नहीं, तो क्या मनुष्यों ही के बनाने से उस को थकेवां चढ़ गया? जो कि अब वो घड़े घड़ाये, बने बनाये, नहीं भेज सकता? यह कभी नहीं हो सकता, कि माता पिता के बिना पुत्र उत्पन्न हो जावे। इस हेतु से भी जगत् का प्रवाह अनादि काल से इसी तरें तारतम्य रूप से चला आता सिद्ध होता है।

प्रतिवादीः—जे कर ईश्वर सर्व वस्तु का कर्त्ता न होवे, अरु जीव ही कर्त्ता होवे, तब तो जीव आपही शरीर धारण कर लेवेगा, अरु शरीर को कदे भी नहीं छोड़ेगा, अरु अपने आप को जो अच्छा लगेगा सो करेगा। फिर तो कभी मरेगा नहीं।

सिद्धान्तीः—जो तुमने कहा है, सो सर्व कर्मों के वश है, जीव के अधीन नहीं। जे कर कहो कि कर्म भी तो जीव

ने ही करे थे, तब जीव ने क्यों अशुभ कर्म करे? क्योंकि कोई भी अपना बुरा करने में नहीं है। इस का उत्तर तो ऊपर दे दिया गया है, परंतु तुमारी समझ थोड़ी है, इस वास्ते नहीं समझे। जीवों की शुभ अशुभ जो जो अवस्था है, सो सर्व कर्मों का फल है। तथा जीव जो है, सो कर्म करने में तो प्रायः स्वतन्त्र ही है, परन्तु फल भोगने में स्ववश नहीं। क्योंकि जैसे कोई जीव धनुष से तीर चलाने में तो स्वतंत्र है, परन्तु उस चले हुए तीर को पकड़ने में समर्थ नहीं। तथा कोई जीव विष के खाने में तो स्ववश है, परंतु उस विष के वेग को रोकने में वह समर्थ नहीं। ऐसे ही जीव कर्म तो स्वतंत्रता से प्रायः करता है, परंतु फल भोगने में जीव परवश है। जैसे वर्तमान समय में रेल और तार को जीवों ने ही बनाया है, तथा वो ही उस को चलाते हैं। परंतु उस चलती हुई रेल तथा तार के वेग को [जितना चिर उस कल-यंत्र की प्रेरणा शक्ति नहीं हटती, उतना चिर] कोई जीव नहीं रोक सकता। ऐसे ही कर्मफल के वेग को रोकने में जीव भी समर्थ नहीं है। तथा जीव को भवांतर में कौन ले जाता है? तथा जीव के शरीर की रचना कौन करता है? आंखों के नाना प्रकार के रंग बरंग पड़दे तथा हाड़, चाम, लोहु, वीर्य, इत्यादि की रचना कौन करता है? इसका पूर्ण स्वरूप, जहां पर कर्म की १४८ प्रकृतियों का स्वरूप लिखेंगे, तहां से जान लेना। इस वास्ते जगत्

का कर्त्ता ईश्वर किसी तरे भी सिद्ध नहीं होता। विशेष करके जगत्कर्त्ता ईश्वर का खंडन देखना होवे, तो सम्मतितर्क, द्वादशसारनयचक्र स्याद्वादरत्नाकर, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय—स्याद्वादकल्पलता, स्याद्वादमंजरी, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका, सूत्रकृतांग, नंदीसिद्धांत, गंधहस्तीमहाभाष्य, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणमीमांसा, आप्तमीमांसा, प्रमेयकमलमार्तंड, न्यायावतार, धर्मसंग्रहणी, तत्त्वार्थभाष्य टीका, षड्दर्शनसमुच्चय, इत्यादि जैनमत के ग्रन्थ देख लेने इस वास्ते जो कामी, क्रोधी, छली, धूर्त, परस्त्री, स्वस्त्री का गमन करने वाला, नाचने वाला, गाने बजाने वाला, रोने पीटने वाला, भस्म लगाने वाला, माला जपने वाला, संग्राम करने वाला, तथा डमरु आदिक बाजे बजाने वाला, वर वा शाप के देने वाला, बिना प्रयोजन अनेक प्रकार के क्लेशों में फंसने वाला, इत्यादिक जो अठारह दूषणों सहित है, सो कुदेव है। उस को ईश्वर मानना, सोई मिथ्यात्व है। इन कुदेवों को मानने वाले कि पत्थर की नावों पर बैठे हुए हैं। यह लिखने का प्रयोजन मात्र इतना ही है, कि कुदेव को कदे भी अर्हंत भगवंत परमेश्वर करके नहीं मानना।

इति श्रीतपागच्छीयमुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि
आनन्दविजय-आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे
द्वितीयः परिच्छेदः संपूर्णः

तृतीय परिच्छेद

अब तीसरे परिच्छेद में गुरुतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—

महाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोप–देशका गुरवो मताः ॥

[यो० शा०, प्र० २ श्लो. ८]

सुगुरु का स्वरूप

अर्थः—अहिंसादि पांच महाव्रत का धारणे–पालने वाला होवे, अरु जब आपदा आ पड़े, तब धीरता–साहसिकपना रक्खे–अपने जो व्रत हैं, तिनको दूषण लगा के कलंकित न करे, तथा बेतालीस दूषण रहित भिक्षावृत्ति–माधुकरीवृत्ति करी, अपने चारित्रधर्म तथा शरीर के निर्वाह वास्ते भोजन करे, भोजन भी पूरा पेट भर कर न करे, भोजन के वास्ते अन्न, पान रात्रि को न रक्खे, तथा धर्म साधन के उपकरणों को वर्ज के और कुछ भी संग्रह न करे, तथा धन, धान्य, सुवर्ण, रूपा, मणि, मोती, प्रवालादि कोई परिग्रह पास में न रक्खे। तथा राग, द्वेष के परिणाम से रहित, मध्यस्थ वृत्ति हो कर, सदा वर्त्ते, तथा धर्मोपदेशक—जीवों के उद्धार वास्ते सम्यग् ज्ञान–दर्शन–चारित्ररूप धर्म का परमेश्वर, अर्हंत, भगवंत ने स्याद्वाद–अनेकांतरूप से निरूपण किया है; उस धर्म का भव्य जीवों के तांई उपदेश करे, किन्तु ज्योतिष शास्त्र,

अष्ट प्रकार का निमित्त शास्त्र, तथा वैद्यक शास्त्र, धन उत्पन्न करने का शास्त्र, राज सेवा आदिक अनेक शास्त्र, जिन से कि धर्म को बाधा पहुंचे, तिन का उपदेशक न होवे। क्योंकि लौकिक जो शास्त्र हैं, सो तो बुद्धिमान् पुरुष वर्त्तमान में भी बहुत सीखते हैं। तथा नवीन नवीन अनेक सांसारिक विद्या के पुस्तक बनाते हुए चले जाते हैं। तथा अङ्गरेज़ों की बुद्धि को देख कर बहुत से इस देश के लोक भी सांसारिक विद्या में निपुण होते चले जाते हैं। इस वास्ते साधु को धर्मोपदेश ही करना चाहिये, क्योंकि धर्म ही जीवों को प्राप्त होना कठिन है। गुरु के ऐसे लक्षण जैन मत में हैं।

तथा प्रथम जो पांच महाव्रत साधु को धारणे कहे हैं, सो कौन से वे पांच महाव्रत हैं? सो कहते हैं:—

अहिंसासूनृतास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
पंचभिः पंचभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो०१६]

पंच महाव्रत का स्वरूप

अर्थः—१. अहिंसा–जीवदया, २. सूनृत–सत्य बोलना ३. अस्तेय–लेने योग्य वस्तु को बिना दिये न लेना, ४. ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्य का पालना, ५. अपरिग्रह–सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग, इन पांचों को महाव्रत कहते हैं। तथा इन पांच महाव्रतों में एक एक महाव्रत की पांच पांच भावना

हैं। यह पांच महाव्रत अरु पच्चीस भावना, इन का पालना मोक्ष के वास्ते है:—

अब इन पांचों महाव्रतों में से प्रथम महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं:—

न यत् प्रमादयोगेन, जीवितव्यपरोपणम् ।
त्रसानां स्थावराणां च, तदहिंसाव्रतं मतम् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २०]

अर्थः—त्रस-द्वींद्रियादिक जीव, अरु स्थावर-१. पृथ्वीकाया २. अप्काया, ३. अग्निकाया, ४. वायुकाया, ५. वनस्पतिकाया, इन सर्व पूर्वोक्त जीवों को प्रमाद वश हो कर मारे नहीं अर्थात् प्रमाद—राग, द्वेष, असावधानपना, अज्ञान, मन वचन काया का चंचलपना, धर्म के विषे अनादर, इत्यादि के वश हो कर जो जीवों के प्राणों का अतिपात-विनाश करना, उस के त्याग का नाम अहिंसा व्रत है।

अब दूसरे महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं:—

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २१]

अर्थः—जिस वचन के सुनने से दूसरा जीव हर्ष पावे, तिस वचन को प्रिय वचन कहिये, तथा जो वचन जीवों को

पथ्यकारी होवे-परिणाम में सुन्दर होवे-एतावता जिस वचन से जीव का आगे को बहुत सुधार होवे, तथा जो वचन सत्य होवे; ऐसा जो वचन बोलना, सो सूनृतव्रत कहिये। इस व्रत के विषे कछुक विशेष लिखते हैं। जो वचन व्यवहार में चाहे सत्य ही होवे, परन्तु जो अगले-दूसरे जीव को दुःखदायी होवे, ऐसा वचन न बोले; जैसे काणे को काणा कहना, चोर को चोर कहना, कुष्ठी को कुष्ठी कहना, इत्यादिक जो वचन दूसरे को दुःखदायी होवें, सो न बोले। तथा जो वचन जीवों को आगे अनर्थ का हेतु होवे, वसुराजावत्, सो भी न बोले। जेकर यह पूर्वोक्त दोनों वचन साधु बोले, तब तो उस के सूनृतव्रत में कलंक लग जावे, क्योंकि यह दोनों वचन झूठ ही में गिने हैं।

अब तीसरा महाव्रत लिखते हैं:—

अनादानमदत्तस्या-स्तेयव्रतमुदीरितम् ।
बाह्याः प्राणा नृणामर्थो, हरता तं हता हि ते ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २२]

अर्थ—अदत्त-मालिक के बिना दिये ले लेना, तिस का जो नियम अर्थात् त्याग है, सो अस्तेयव्रत कहिये, अचौर्यव्रत इसी का नामांतर है। वह अदत्तादान चार प्रकार का है—१. जो साधु के लेने योग्य—अचित्त (जीव-रहित) वस्तु अर्थात् आहार, तृण, काष्ठ, पाषाणादिक वस्तु

को स्वामी के बिना पूछे ले लेना, सो स्वामी अदत्त है। २. कोई पुरुष अपने भेड़, बकरी, गौ प्रमुख जीव को मूल्य लेकर किसी हिंसक प्राणी के पास बेच देवे अथवा बिना मूल्य ही दे देवे सो जीव अदत्त है। क्योंकि यद्यपि लेने वाले ने तो बदले की वस्तु देकर ही उस जीव को लिया है, परन्तु जीवने अपनी इच्छा से अपना शरीर नहीं दिया, इस वास्ते यह जीव अदत्त है। ३. जो जो वस्तु—आधाकर्मादिक आहार, अचित्त-जीव रहित भी है, अरु दीनी भी उस वस्तु के स्वामी ने है, परन्तु तीर्थंकर भगवंत ने निषेध करी है, फिर जो उस वस्तु को ले लेना, सो तीर्थंकर अदत्त। ४. वस्त्र आहारादिक वस्तु निर्दोष है, अरु उस वस्तु के स्वामी ने वो दीनी है, अरु तीर्थंकर भगवंत ने निषेध भी नहीं करी है, परन्तु गुरु की आज्ञा के बिना उस वस्तु को जो ले लेना, सो गुरु अदत्त। इस महाव्रत में ए चार प्रकार का अदत्त न लेना। जितने व्रत नियम हैं, वे सर्व अहिंसाव्रत की रक्षा वास्ते बाड़ के समान हैं। यह पूर्वोक्त तीसरे व्रत का जो पालन है, सो अहिंसाव्रत ही की रक्षा करना है। अरु जो तीसरा महाव्रत न पाले तो अहिंसा व्रत को दूषण लगे है। यही बात कहते हैं। "बाह्याः प्राणा नृणामर्थो"—यह अर्थ-लक्ष्मी जो है सो मनुष्यों के बाहिरले प्राण हैं। जब कोई किसी की चोरी करता है तो निश्चय कर के वो उस के प्राणों ही का नाश करता है। इसी हेतु से चोरी करना महा

पाप है। सर्व प्रकार की चोरी का जो त्याग करना है, इसी का नाम अदत्तादान त्यागरूप महाव्रत है।

अब चौथे महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं:—

दिव्यौदारिककामानां कृतानुमतिकारितैः ।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टदशधा मतम् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २३]

अर्थः—दिव्य-देवता के वैक्रिय शरीर सम्बन्धी जो काम भोग, अरु औदारिक-तिर्यंच और मनुष्य के शरीर संबन्धी जो कामभोग, एतावता वैक्रिय शरीर अरु औदारिक शरीर, ए दोनों के द्वारा विषय सेवन करना, और दूसरे से विषय सेवन करवाना, जो विषय सेवन करे उस को अच्छा जानना, ए छ भेद मन करके, छ वचन करके, अरु छ काया करके, एवं अठारह प्रकार का जो मैथुन, तिस के सेवन का जो त्याग करना, उस को ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं।

अब पांचवां महाव्रत लिखते हैं:—

सर्वभावेषु मूर्च्छाया-स्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।
यदि सत्स्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविप्लवः ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २४]

अर्थः—सर्व-सम्पूर्ण जो भाव-पदार्थ-द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप वस्तु, तिस विषे जो मूर्छा-ममत्व-मोह, तिसका जो त्याग, तिसका नाम अपरिग्रह व्रत कहिये। परन्तु जिस का

पदार्थों पर ममत्व है, उस के पास अपने शरीर के बिना दूसरी कोई भी वस्तु नहीं, तो भी तिस को निष्परिग्रही—परिग्रह-रहित नहीं कह सकते। किंतु जिस की मूर्च्छा—ममत्व सर्व वस्तु से हट जावे, उसी को निष्परिग्रह व्रत वाला कह सकते हैं। क्योंकि जिस के पास कोई वस्तु नहीं, अरु अनहोई वस्तु की जिस को चाहना लग रही है वो त्यागी नहीं। जेकर ज्ञान द्वारा मूर्छा के त्यागे बिना ही त्यागी हो जावे, तब तो कुत्ते अरु गधे को भी त्यागी होना चाहिये। अरु जो पुरुष ममत्व रहित है, सो निष्परिग्रही है, चाहे उस के पास धर्म साधन के कितनेक उपकरण भी हैं, तो भी मूर्च्छा के न होने से वो परिग्रह वाला नहीं।

अब प्रत्येक महाव्रत की जो पांच पांच भावना हैं, तिन का स्वरूप लिखते हैं:—

भावनाभिर्भावितानि, पंचभिः पंचभिः क्रमात्।
महाव्रतानि नो कस्य, साधयंत्यव्ययं पदम्॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २५]

पच्चीस भावनाएँ

अर्थः—यह जो पांच महाव्रतों की पच्चीस भावना हैं, सो यदि कोई इन भावना करके अपने अपने महाव्रत को रंजित—वासित करे, एतावता पांच पांच भावना पूर्वक अखंड महाव्रत पाले, तो ऐसा

कोई जीव नहीं है, जिस को ए महाव्रत मोक्षपद में न पहुंचा देवें।

अब प्रथम महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

मनोगुप्त्येषणादाने-र्याभिः समितिभिः सदा।
दृष्टान्नपानग्रहणे-नाहिंसां भावयेत्सुधीः ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २६]

अर्थः—१. मनोगुप्ति मन को पाप के काम में न प्रवर्त्तावे, किंतु पाप के काम से अपने मन को हटा लेवे। जेकर पाप के काम में मन को प्रवर्त्तावे, तो चाहे बाह्य वृत्ति करके हिंसा नहीं भी करता, तो भी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरे सातमी नरक में जाने योग्य कर्म उत्पन्न कर लेता है। इस वास्ते मुनि को मनोगुप्ति अवश्य रखनी चाहिये।

२. एषणासमिति—चार प्रकार की आहारादिक वस्तु आधाकर्मादिक बेतालीस दूषण से रहित लेवे। बेतालीस दूषण का पूरा स्वरूप देखना होवे, तो पिंडनिर्युक्ति शास्त्र ७००० श्लोक प्रमाण है, सो देख लेना। ३. आदाननिक्षेप—जो कुछ पात्र, दण्ड, फलक प्रमुख लेना पडे, तथा भूमिका के ऊपर रखना पडे, तब प्रथम नेत्रों से देख लेना, पीछे रजोहरण करके पूंज लेना, पीछे से लेना और यत्न से रखना। क्योंकि बिच्छु सर्पादिक अनेक ज़हरी जीव जेकर उस उपकरण के ऊपर बैठे होवें, तब तो काट खावें अरु दूसरा कोई बिचारा

अनाथ जीव बैठा होवे, तो हाथ के स्पर्श से मर जावे, तब तो जीव हत्या का पाप लगे; इस वास्ते जो काम करना, सो यत्न पूर्वक करना। ४. ईर्यासमिति–जब चलने का काम पडे, तब अपनी आंखों से चार हाथ प्रमाण धरती देख कर चले। जो कोई नीचा देख कर चलता है, उस को इस लोक में भी कितनेक गुण प्राप्त हो जाते हैं। प्रथम तो पग को ठोकर नहीं लगती; दूसरे जिस के परिग्रह का त्याग न होवे, उस को गिरा पड़ा पैसा, रूपक, आदि मिल जावे; तीसरे लोक में यह भला मनुष्य है, किसी की बहू बेटी को देखता नहीं, ऐसा प्रसिद्ध हो जाता है; चौथे जीव की रक्षा करने से धर्म की प्राप्ति होती है। ५. दृष्टान्नपानग्रहण–जो अन्न, पानी साधु लेवे, सो प्रकाश वाली जगा से लेवे, अन्धकार वाली जगा से न लेवे; क्यों कि अंधकार वाली जगा में एक तो जीव दीख नहीं पड़ता, और दूसरे सांप बिच्छु के काटने का डर रहता है। तथा गृहस्थ का कोई आभूषण प्रमुख जाता रहे तब उस के मन में शंका उत्पन्न हो जावे, कि क्या जाने अंधेरे में साधु ही ले गया होगा। तथा अंधेरे में, सुन्दर साधु को देख कर कदाचित् कोई उत्कट विकार वाली स्त्री लिपट जावे; अरु कदाचित् उस वक्त कोई दूसरा देखता होवे, तो धर्म की बड़ी निंदा होवे। तथा साधु का ही मन अन्धेरे में स्त्री को देख कर बिगड़ जावे, साधु स्त्री को पकड़ लेवे, स्त्री पुकार कर देवे, तब धर्म की बड़ी हानि होवे,

और साधुओं पर गृहस्थों को अप्रीति हो जावे । इस वास्ते अन्धेरे की जगा से साधु अन्नादिक न लेवे ।

अब दूसरे महाव्रत को पांच भावना लिखते हैं:—

हास्यलोभभयक्रोध–प्रत्याख्यानै र्निरंतरम् ।
आलोच्य भाषणेनापि, भावयेत्सूनृतं व्रतम् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २७]

अर्थः—१. हास्यप्रत्याख्यान–किसी की हांसी न करे–हांसी का त्याग करे, क्यों कि जो पुरुष किसी की हांसी करेगा, वो अवश्य झूठ बोलेगा । तथा पर की जो हांसी करनी है, सो किसी वक्त बडे अनर्थ का कारण हो जाती है । श्री हेमचन्द्र सूरिकृत रामायण में लिखा है, कि रावण की बहिन शूर्पणखा की श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण जी ने हांसी करी, तब शूर्पणखा ने क्रुद्ध हो कर अपने भाई रावण के पास जा कर सीता का वर्णन करा । फिर रावण सीता को हर कर ले गया; तब इन में बड़ा संग्राम हुआ, जिस की आज तांई लोक नकल बनाते हैं। विचार किया जावे तो इस सारी रामायण का निमित्त शूर्पणखा की हांसी है । २. लोभप्रत्याख्यान—लोभ का त्याग करना, क्योंकि जो लोभी होगा सो अवश्य अपने लोभ के वास्ते झूठ बोलेगा, यह बात सर्व लोगों में प्रसिद्ध ही है । ३. भयप्रत्याख्यान—भय न करना, क्योंकि भयवंत

पुरुष भी झूठ बोल देता है। ४. क्रोध प्रत्याख्यान—क्रोध का त्याग करना, क्योंकि जो पुरुष क्रोध के वश होगा, वो दूसरों के हुए अनहुए दूषण ज़रूर बोलेगा। ५. विचार पूर्वक भाषण [अनुवीचि भाषण]—प्रथम मन में विचार कर लेवे, अरु पीछे से बोले; क्यों कि जो विचार करे विना बोलेगा वो अवश्य झूठ बोलेगा।

अब तीसरे महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

आलोच्यावग्रहयाच्ञा—भीक्ष्णावग्रहयाचनम् ।
एतावन्मात्रमेवैत—दित्यवग्रहधारणम् ॥
समानधार्मिकेभ्यश्च, तथावग्रहयाचनम् ।
अनुज्ञापितपानान्ना—सनमस्तेयभावना ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २८,२९]

अर्थ:—१. जिस मकान में साधु ने ठहरना होवे, प्रथम उस मकान के स्वामी की आज्ञा लेनी अर्थात् घर का स्वामी यही है, ऐसा जान कर आज्ञा लेनी। जेकर स्वामी की आज्ञा के विना रहे, तो चोरी का दोष लगे अरु कदाचित् घर का स्वामी क्रोध करके साधु को वहां से निकाल देवे, तो साधु रात्रि में कहां जावे ? इत्यादि अनेक क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं, इस वास्ते मकान के स्वामी की आज्ञा लेकर उस के मकान में रहना। २. उपाश्रय के स्वामी की बार बार आज्ञा लेनी, क्योंकि कदाचित् कोई साधु रोगी

हो जावे, तब जंगल-पुरीष, मूत्र करने को जगा ज़रूर चाहिये। गृहस्वामी की आज्ञा के बिना, उस के मकान में मल मूत्र करे, तो चोरी लगे । उपाश्रय की भूमि की मर्यादा करना; जैसे कि इतनी जगा तक हमारे को तुमारी आज्ञा रही । जेकर मर्यादा न कर लेवे तो अधिक भूमि को काम में लाने से चोरी लगती है । ४. समान धर्मी से आज्ञा लेना-कोई समान धर्मी साधु किसी जगा में प्रथम उतर रहा है, पीछे दूसरा साधु जो उस मकान में उतरना चाहे, तो उस प्रथम साधु की आज्ञा लेवे, अरु उसकी आज्ञा के बिना न रहे। जेकर प्रथम साधु की आज्ञा न लेवे, तो स्वधर्मी अदत्त का दोष लागे । ५. गुरु की आज्ञा लेना-साधु अन्न, पान, वस्त्र, पात्र, और शिष्यादिक जो कुछ भी लेवे, सो सर्व गुरु की आज्ञा से लेवे। जेकर गुरु की आज्ञा के बिना भी कोई वस्तु ले लेवे तो उस को गुरु अदत्त का दोष लागे ।

अब चौथे महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

स्त्रीषंढपशुमद्वेश्मा-सनकुड्यांतरोज्झनात् ।
सरागस्त्रीकथात्यागात्, प्राग्रतस्मृतिवर्जनात् ॥
स्त्रीरम्यांगेक्षणस्वांग-संस्कारपरिवर्जनात् ।
प्रणीतात्यशनत्यागात्, ब्रह्मचर्यं च भावयेत् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० ३०, ३१]

अर्थः—१. जिस घर में अथवा भीत के अन्तरे—व्यवधान में देवी अथवा मनुष्य की स्त्री बसे—रहे, अथवा देवांगना वा सामान्य स्त्री की लेप, चित्राम प्रमुख की मूर्ति होवे, तथा षंढ—नपुंसक (तीसरे वेद वाला) जिस घर में रहता होवे; तथा पशु, गाय, महिषी, घोड़ी, बकरी, भेड़ प्रमुख तिर्यंच स्त्री जिस मकान में रहती होवे, तथा जिस मकान में काम सेवन करती स्त्री का शब्द तथा दूसरा कोई मोह उत्पन्न करने का शब्द, तथा आभूषणों का शब्द सुनाई देवे; ऐसे—पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त मकान में तथा एक भीत के अन्तरे में साधु न रहे । २. सराग—प्रेम सहित, स्त्री के साथ वार्त्तालाप न करे, अथवा सराग स्त्री के साथ वार्त्ता न करे, तथा स्त्री के देश, जाति, कुल, वेष, भाषा, स्नेह, शृंगार प्रमुख की कथा सर्वथा न करे। क्योंकि जो पुरुष सराग स्त्री के साथ स्नेह सहित कामशास्त्र संबन्धी कथा करेगा, सो अवश्य विकार भाव को प्राप्त होगा, इस वास्ते सराग स्त्री से कथा न करे । ३. दीक्षा लेने से पहिले गृहस्थावस्था में जो स्त्री के साथ काम क्रीडा, वदनचुम्बन, चौरासी कामासनों द्वारा विषय सेवन प्रमुख क्रीडा करी होवे, तिस का मन में कदे भी स्मरण न करना। क्योंकि पूर्व क्रीडास्मरणरूप इंधन से कामाग्नि फिर धुखने लग जाती है । ४. तथा स्त्री के मुख, नयन, स्तन, जघन, होठ प्रमुख अंगों को सराग दृष्टि से नहीं देखना, तथा अपूर्व

विस्मय रस के पूर में मग्न हो कर, आंख फाड़ कर देखना वर्जे; परन्तु जो राग रहित दृष्टि करी कदाचित् देखने में आ जावे तो दोष नहीं। तथा अपने शरीर का संस्कार करना–स्नान, विलेपन, धूप करना, नख, दांत, केश, आदि का सुधार करना, कंगी सुरमा से विभूषा करनी, इत्यादिक शरीर संस्कार न करे। क्योंकि स्त्री के रमणीक अंग देखने से जैसे दीप शिखा में पतंगिया जल जाता है, ऐसे कामी पुरुष भी कामाग्नि में जल जाता है। तथा शरीर जो है, सो सर्व अशुचिता का मूल है, इस का जो शृंगार करना है, सो अज्ञानता है। मलिन वस्तु की कोथली के ऊपर जे कर चन्दन घिस कर लगा दिया जाय, तो क्या वह कोथली चन्दन की हो जावेगी? यह शरीर अन्त में मशान की राख की एक मुट्ठी बन जायेगा; फिर किस वास्ते इस शरीर की शोभा करने में व्यर्थ काल खोवे है? ५. प्रणीत—स्निग्ध, मधुरादि रस युक्त पदार्थों का अधिक आहार करना, तथा रूखा भोजन भी खूब पेट भर कर करना, ए दोनों ही प्रकार के आहारका त्याग करे, क्योंकि जो पुरुष निरन्तर स्निग्ध, मधुर रस का आहार करेगा, उस के ज़रूर विकार उत्पन्न होगा; तब तो वेदोदय करी वो अवश्य कुशील सेवेगा। अरु रूक्ष भोजन भी प्रमाण से अधिक नहीं करना, क्यों कि अधिक रूक्ष भोजन करने से भी काम उत्पन्न होता है, तथा अधिक खाने से शरीर को पीडा भी उत्पन्न हो जाती है, विषूचिका

प्रमुख रोग हो जाते हैं, इस वास्ते प्रमाण से अधिक भोजन भी न करे। पूर्व पुरुषों ने खाने की मर्यादा ऐसे लिखी है—

* अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे।
वाउपविआरणट्ठा, छब्भायं उणयं कुज्जा ॥
[पिंडनि०, गा० ६५०]

अर्थः—उदर के छः भाग की कल्पना करे, तिन में से तीन भाग तो अन्न से भरने, अरु दो भाग पानी से तथा एक भाग खाली रखना जिस से सुखे सुखे श्वास निःश्वास आता रहे।

अब पांचवें महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

स्पर्शे रसे च गंधे च, रूपे शब्दे च हारिणि।
पंचस्वितीन्द्रियार्थेषु, गाढं गार्द्ध्यस्य वर्जनम् ॥
एतेष्वेवामनोज्ञेषु, सर्वथा द्वेषवर्जनम्।
आकिंचन्यव्रतस्यैवं, भावना पंच कीर्त्तिताः ॥
[यो० शा०, प्र० १ श्लो० ३२,३३]

अर्थः—मनोहर स्पर्शादिक पांच विषयों में जो अत्यंत गृद्धिपना, सो वर्जना, अरु अमनोज्ञ स्पर्शादिक पांच विषयों में द्वेष न करना। एवं पूर्वोक्त पांच महाव्रत, अरु पच्चीस

* अर्द्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य कुर्यात् द्रवस्य द्वौ भागौ।
वायुप्रविचारणार्थं षड्भागमूनकं कुर्यात् ॥

भावना जिस में होवें, तथा चरण सत्तरी अरु करण सत्तरी करके जो युक्त होवे, सो जैन मत में गुरु माना है।

अब चरण सत्तरी के सत्तर भेद लिखते हैं:—

वय समणधम्म संजम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तव कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५२]

अर्थः—व्रत—पांच प्रकार का, श्रमणधर्म—दश प्रकार का, संयम—सतरां प्रकार का, वैयावृत्य—दश प्रकार का, ब्रह्मचर्य गुप्ति—नव प्रकार की, ज्ञान, दर्शन, चरित्र, ए तीन प्रकार का, तप—बारां प्रकार का, निग्रह क्रोधादिक चार प्रकार का, ए सर्व सत्तर भेद हैं। तिन में से पांच प्रकार के व्रत का स्वरूप तो ऊपर भावना सहित लिख आये हैं।

अब श्रमण धर्म दस प्रकार का लिखते हैं:—

खंतीयं मद्दव अज्जव मुत्ती तवसंजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५४]

दस प्रकार का यतिधर्म

अर्थः—१. क्षांति—क्षमा करनी, चाहे सामर्थ्य होवे, चाहे असामर्थ्य होवे, परन्तु दूसरे के दुर्वचन को सह लेने का जो परिणाम-मनोवृत्ति है, तिस को क्षमा कहते हैं, अर्थात् सर्वथा क्रोध का त्याग क्षमा है। २. मृदु—कोमल अहंकार रहित, तिसका जो भाव वा कर्म, सो मार्दव—ऊंचा हो कर

भी अभिमान रहित होना। ३. ऋजु—कहिये मन, वचन, काया करी सरल, तिस का जो भाव वा कर्म, सो आर्जव—मन, वचन, काया की कुटिलता से रहित होना। ४. मुक्ति—बाहिर, अन्दर से तृष्णा का त्याग—लोभ का त्याग। ५. रसादिक धातु अथवा अष्ट प्रकार के कर्म जिस करके तपें, सो तप, वो अनशनादि भेद से बारां प्रकार का है *। ६. संयम—आश्रव की त्यागवृत्ति। ७. सत्य—मृषावाद विरति—झूठ का त्याग। ८. शौच—अपनी संयमवृत्ति में कोई कलंक न लगाना। ९. नहीं है किंचित् मात्र द्रव्य जिस के पास सो अकिंचन, तिस का भाव वा कर्म आकिंचन्य। १०. ब्रह्म—*नवगुप्ति युक्त ब्रह्मचर्य। ए दश प्रकार का यतिधर्म है। तथा मतांतर में दश प्रकार का यतिधर्म ऐसे भी कहते हैं:—

†खंती मुत्ती अज्जव मद्दव तह लाघवे तवे चेव।

---

* इस का उल्लेख मूल ग्रन्थ में ही आगे आ जायगा।

† उक्त गाथा प्र० सा० की ५५४ गाथा की वृत्ति में मिलती है। गाथा में आये हुए 'लाघव' तथा 'चियाग'—त्याग शब्द का अर्थ वृत्तिकार श्री सिद्धसेन सूरि ने इस प्रकार किया है:—

"लाघवं द्रव्यतोऽल्पोपधिता भावतो गौरवपरिहारः, त्यागः सर्वसङ्गानां विमोचनं संयतेभ्यो वस्त्रादिदानं वा"

अर्थात् बाह्य—वस्त्रादि और आभ्यन्तर—रागद्वेषादि उपाधि से रहित होना लाघव कहा जाता है। सर्व प्रकार की आसक्ति से मुक्त होना अथवा संयमशील व्यक्ति को वस्त्रादि देना त्याग माना जाता है।

संजम चियागऽकिंचण, बोधव्वे बंभचेरे य ॥

अब संयम के सतरां भेद लिखते हैं:—

पंचासवा विरमणं, पंचिंदियनिग्गहो कसायजओ ।
दण्डत्तयस्स विरई, सत्तरसहा संजमो होइ ।
पुढवि दग अगणि मारुय,वणस्सइ बि ति चउ पणिंदि अज्जीवा,
पेहुप्पेहपमज्जण, परिठवण मणो वई काए ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५५.५५६]

सतरह प्रकार का संयम

अर्थः—जिस करके कर्मों का उपार्जन किया जावे सो आश्रव—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पांचों कर्म बन्ध के हेतु हैं । इन का त्याग करना पंचाश्रवविरमण है । स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पांच इन्द्रियों के स्पर्श आदि जो विषय हैं, उन में आसक्त न होना—लम्पटता न करनी पंचेन्द्रियनिग्रह है । तथा क्रोध, मान, माया अरु लोभ, इन चारों को जीतना, इन चारों के उदय को निष्फल करना, अरु जो उदय में न आये तिस को उत्पन्न नहीं होने देना कषायजय है ।

आत्मा की चारित्र लक्ष्मी का अपहरण करने वाले दुष्ट—खोटे मन, वचन और काया का नाम *दण्ड है। सो इन तीनों

* दण्डयते—चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा दुष्प्रयुक्ता मनोवाक्काया इत्यादि । [प्र० सा० वृत्तिः]

की निवृत्ति अर्थात् इन की दुष्ट प्रवृत्ति का त्याग करना त्रिदण्डविरति है। ये सतारां भेद संयम के हैं। अब इस के प्रकारान्तर से सतारां भेद कहते हैं। पुढवि इत्यादि—१. पृथ्वी, २. उदक, ३. अग्नि, ४. पवन, ५. वनस्पति, ६. द्वीन्द्रिय, ७. त्रीन्द्रिय, ८. चतुरिन्द्रिय, ९. पञ्चेन्द्रिय, इन नव प्रकार के जीवों के, संरम्भ, समारंभ और आरम्भ के करने, कराने अरु अनुमोदने—करते हुए को भला जानने का मन, वचन अरु काया करी त्याग करना अर्थात् इन नव विकल्पों से पूर्वोक्त नव विध जीवों की हिंसा न करनी यह नव प्रकार का जीव संयम हुआ। प्राणी के प्राणों को विनाशने का सङ्कल्प करना संरंभ है, जीव के प्राणों को परिताप देना—पीड़ा देनी समारंभ है, तथा जीवों के प्राण का जो विध्वंस करना सो आरम्भ है *। तथा १०. अजीव संयम—जिस अजीव वस्तु के पास रखने से संयम कलंकित हो जावे, [जैसे मांस, मदिरा, सुवर्ण प्रमुख सर्व धातु, मोती आदिक सर्व रत्न, अंकुशादिक सर्व शस्त्र, इत्यादिक अजीव वस्तु के रखने से संयम में कलंक आवे] सो अजीव वस्तु पास न रखनी। परन्तु अजीव वस्तु रूप जो पुस्तक, तथा शरीरोपकरणादि हैं, सो तो प्रतिलेखना—प्रमार्जना पूर्वक यतना से इस काल में रखना; क्योंकि दुःषमादि काल दोष से बुद्धि,

* संकप्पो संरंभो परितावकरो भवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ सुद्धनयाणं तु सव्वे सिं॥ [प्रव० सा० वृत्तिः]

लम्बी आयु, श्रद्धा, संवेग, उद्यम, बल, ए सर्व हीन हो गये हैं, अरु विद्या कंठ रहती नहीं। ११. प्रेक्षासंयम–बीज, हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित स्थान को नेत्र से देख कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रिया करना। अथवा संयम से चलायमान होने वाले साधु को हित बुद्धि करके उपदेश करना। १२. उपेक्षासंयम–पाप के व्यापार में प्रवृत्त हुए गृहस्थ को ऐसे उपदेश न करना कि यह काम तुम ऐसे करो; तथा पार्श्वस्थादि को [जो साधु की समाचारी से भ्रष्ट हो गये हैं, अरु जान बूझ कर अनुचित काम कर रहे हैं तथा किसी के उपदेश को मानने वाले नहीं] उपदेश करने में उदासीनता रखना। १३. प्रमार्जना संयम—देखे हुये स्थान से भी यदि वस्त्र पात्रादिक लेने वा रखने पड़ें, तब भी प्रथम रजोहरणादिक से प्रमार्जन करके पीछे से लेना, रखना, सोना, बैठना करे। १४. परिष्ठापना संयम—भात पानी—खाने पीने की वस्तु, जिस में जीव पड़ गये हों तथा वस्त्र पात्र आदि, जो सर्वथा काम देने योग्य नहीं रहे, उनको जीवों से रहित शुद्ध भूमि में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्थापन करना। १५. मनःसंयम—मन में द्रोह, ईर्ष्या तथा अभिमान न करना, अरु धर्मध्यानादि में मन को प्रवृत्त करना। १६. वचन संयम—हिंसाकारी कठोर वचन को त्यागना, अरु शुभ वचन में प्रवृत्त होना। १७. काया संयम–गमनागमन करने में अरु अवश्य करने योग्य कामों

में काया को उपयोग पूर्वक प्रवृत्त करना। ए सतारां भेद संयम के हैं।

अब वैयावृत्य के दश भेद कहते हैं:—

आयरिय उवज्झाए, तवस्सि सेहे गिलाण साहुसुं।
समणोन्न संघ कुल गण, वेयावच्चं हवइ दसहा॥

[प्रव० सा०, गा० ५५७]

दस प्रकार का वैयावृत्य

अर्थः—१. ज्ञानादिक पांच आचार को जो पाले, सो आचार्य, अथवा सेवा के योग्य जो हो सो आचार्य, २. जिन के समीप आकर विनय पूर्वक शिष्य पढ़े सो उपाध्याय, ३. तप जो करे, सो तपस्वी, ४. जिस ने नवा ही साधुपना लिया है, सो शैक्ष, ५. ज्वरादि रोग वाला जो साधु सो ग्लान, ६. जो धर्म से गिरते को स्थिर करे, सो स्थविर साधु, ७. जिस साधु की अपने समान-एक सामाचारी होवे, सो समनोज्ञ, ८. साधु, साध्वी, श्रावक अरु श्राविका इन चारों का जो समुदाय, सो संघ, ९. बहुते सजातीय-एक सरीखे गच्छ का जो समूह, सो कुल-चन्द्रादिक, [एक आचार्य की वाचना वाले साधुओं का जो समूह, सो गच्छ] कुलों का जो समुदाय, सो गण-कोटिकादि। इन पूर्वोक्त आचार्यादिक दसों का अन्न, पानी, वस्त्र, पात्र, मकान, पीठ, फलक, संस्तारक प्रमुख धर्म साधनों करके जो साहा-

च्य–सहायता करना, शुश्रूषा करनी, उजाड़–जंगल में रोग होने से दवाई करनी, तथा नाना प्रकार के उपसर्गों में पालना करनी, इस का नाम वैयावृत्त्य है।

अब ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति कहते हैं:—

वसहि कहनिसिज्जिंदिय, कुड्डंतर पुव्वकीलिय पणीए।
अइमायाहार विभूसणाई नव बंभगुत्तीओ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५८]

ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति

अर्थः—वसहि–वसति—स्त्री, पशु, पंडक इनों करी युक्त जो वसति—स्थान होवे, तहां ब्रह्मचारी साधु न रहे। तिन में से प्रथम स्त्री जो है, सो दो तरह की है—एक देव स्त्री, दूसरी मनुष्य स्त्री, इन दोनों के भी दो भेद हैं—एक असल, और दूसरी नकल–पाषाण की मूर्त्ति वा चित्राम की मूर्त्ति, यह दोनों प्रकार की स्त्री जहां न होवे, तिस वसति में रहे; तथा पशु स्त्री–गौ, महिषी, घोड़ी, बकरी, भेड़ प्रमुख जिस वसति में नहीं हों, तहां रहे। तथा पंडक—नपुंसक, (तीसरे वेद वाला) महा मोह कर्मवाला, स्त्री अरु पुरुष–इन दोनों के साथ विषय सेवन करने वाला, जिस स्थान में रहता होवे, तहां ब्रह्मचारी न रहे। क्योंकि इन तीनों के निवासप्रदेश में रहने से इनकी कामवर्द्धक चेष्टाओं को देखते हुए ब्रह्मचारी साधु के मन में विकार उत्पन्न होने से, उस के ब्रह्म-

चर्य को बाधा पहुंचने की सम्भावना रहती है। जैसे बिल्ली के साथ एक जगा पर रहने से मूषक का अनिष्ट ही होता है, उसी प्रकार इन तीनों करी युक्त वसति में रहने से शीलवान् साधु को अवश्य उपद्रव होवे।

२. कह-कथा—ब्रह्मचारी साधु केवल स्त्रियों में-मात्र स्त्री समुदाय में धर्मका उपदेश न करे और अकेली स्त्री को न पढ़ावे। अथवा स्त्री की कथा न करे, अर्थात् "कर्णाटी सुरतोपचार-चतुरा, लाटी विदग्धा प्रिया" इत्यादि कथा न करे, क्योंकि यह कथा राग उत्पन्न करने का हेतु है। इस वास्ते स्त्रीके देश,जाति, कुल, वेष, भाषा, गति, विभ्रम, इङ्गित, हास्य, लीला, कटाक्ष, स्नेह, रति, कलह, शृङ्गार इत्यादिक जो विषयरस का पोषण करने वाली स्त्रीकथा है, सो कदे न करे। जे कर करेगा, तो मुनि का मन भी अवश्य विकार को प्राप्त हो जावे।

३. निसिज्ज-निषद्या-आसन—साधु स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे, तथा जिस जगे मे स्त्री उठी होवे, उस आसन वा स्थान पर दो घड़ी तक साधु न बैठे, क्यों कि उस जगे तत्काल बैठने से स्त्री की स्मृति होती है, और स्त्री के बैठने से मलिन हुए २ शय्या वा आसन के स्पर्श से विकार उत्पन्न हो जाता है।

४. इंदिय-इन्द्रिय—कामी जनों से वांछनीय जो स्त्रियों के अंगोपांग-नाक, स्तन, जघन प्रमुख हैं, उन को ब्रह्मचारी साधु अपूर्व रस में मग्न हो कर अरु नेत्र फाड़ कर न देखे।

कदाचित् दृष्टि पड़ जाय, तो मन में ऐसा चिन्तन न करे, कि लोचन बडे सुन्दर हैं ! नासिका बहुत सोधी है ! वांछनीय कुच हैं ! क्यों कि यदि स्त्री के पूर्वोक्त अङ्गोपांग का एकाग्र रस में मग्न होकर ब्रह्मचारी चिंतवन करे, तो अवश्य उस का मन मोह, तथा विकार को प्राप्त होवे।

५. कुडुंतर-कुड्यांतर—जहां भींत के, टट्टी के, कनात के, अन्तर—बीच में होने से मैथुन करते हुवे स्त्री पुरुष का शब्द सुनाई देवे, तहां ब्रह्मचारी—साधु न रहे।

६. पुव्वकीलिय-पूर्वक्रीडित—साधु ने पूर्व—गृहस्थ अवस्था में स्त्री के साथ जो विषय भोग क्रीडा करी होवे, तिस को स्मरण न करे; जेकर करे, तो कामाग्नि प्रज्वलित हो जाती है।

७. पणीय-प्रणीत—साधु अति चिकना मीठा दूध, दधि प्रमुख, अति धातुपुष्ट करने वाला आहार निरंतर न करे; जेकर करे, तो वीर्य की वृद्धि होने से अवश्य वेदोदय होगा, फिर वो ज़रूर विषय सेवेगा। क्यों कि यदि थोड़ी कोथली में बहुत रुपये भरेंगे तो वो ज़रूर फट जाएगी।

८. अइमायाहार-अतिमात्राहार—रूखी भिक्षा भी प्रमाण से अधिक न खावे, क्यों कि अधिक खाने से विकार हो जाता है, अरु शरीर की पीडा, विशूचिकादिक होने का भय रहता है।

९. विभूसणाइ-विभूषणादि—शरीर की विभूषा—स्नान,

विलेपन, धूप देना अरु नख, दांत, केश का सुन्दरता के वास्ते संस्कार करना, तथा शृङ्गार निमित्त तिलक लगाना, नेत्रों में सुरमा, कज्जल डालना तथा भावें से पग मांजने, साबु, तेल प्रमुख मसल कर गरम पाणी से, सुकोमलता के वास्ते वदन को धोना, इत्यादिक शरीर की विभूषा न करे। ए नव प्रकार की जो गुप्ति सो ब्रह्मव्रत की रक्षा रूप होने से नव बाड़ कही जाती हैं।

रत्न-त्रय

अब ज्ञानादि तीन कहते हैं। उसमें से पहला ज्ञान-यथार्थ वस्तु का जो बोधक सो ज्ञान, सो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय तथा क्षयोपशम के होने से उत्पन्न होना है। वो बोध अरु ति क जो द्वादशांग और द्वादशोपांग, तथा प्रकीर्णक उत्तराध्ययनादिक, सो सर्व ज्ञान है। तथा दूसरा दर्शन–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, इन जीवादिक नव तत्त्व का जो स्वरूप, तिस में श्रद्धा अर्थात् ए नव तत्त्व तथ्य हैं, मिथ्या नहीं, ऐसी तत्त्वरुचि, तिस का नाम दर्शन है। तथा तीसरा चारित्र–सर्व पाप के व्यापारों से ज्ञान अरु श्रद्धा पूर्वक जो निवृत्त होना, तिसका नाम चारित्र है। इस चारित्र के दो भेद हैं, एक देश विरति दूसरा सर्व विरति। उस में देश विरति चारित्र तो जहां गृहस्थ धर्म का स्वरूप लिखेंगे, तहां से जान लेना, अरु जो सर्वविरति चारित्र है, तिस का ही स्वरूप, इसी गुरुतत्त्व में लिखने लग रहे हैं।

अब बारां प्रकार का तप लिखते हैं:—

अणसणमूणोयरिया, वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गोविय, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५६०-५६१, दशवै० नि०, गा०, ४७-४८]

बारह प्रकार का तप

अर्थः—१. अन करना, २. थोड़ा खाना, ३. नाना प्रकार के अभिग्रह करने, ४. रस—दूध, दही, घृत, तैल, मीठा, पकान्न, का त्याग करना, ५. कायक्लेश—वीरासन, दण्डासन आदि के द्वारा अनेक तरे का कायक्लेश करना, ६. पांचो इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से रोकना, ए छः प्रकार का बाह्य तप है । १. प्रथम जो कुछ अयोग्य काम करा अरु पीछे से गुरु के आगे जैसा करा था, वैसे ही प्रगट-पने कहना, आगे को फिर वो पाप न करना, अरु प्रथम जो करा है, उस की निवृत्ति के वास्ते गुरु से यथा योग्य दण्ड लेना, इस का नाम प्रायश्चित्त है। २. अपने से गुणाधिक की विनय करनी । ३, वैयावृत्त्य—भक्ति करनी । ४. (१) आप पढ़ना अरु दूसरों को पढ़ाना, (२) उस में संशय उत्पन्न होवे, तो गुरु को पूछना, (३) अपने सीखे हुये को बार बार

याद् करना, (४) जो कुछ पढ़ा है, उस के तात्पर्य को एकाग्र-चित्त होकर चिंतन करना, [इनका नाम अनुप्रेक्षा है] (५) धर्म कथा करनी, ए पांच प्रकार का स्वाध्याय तप है। ५ (१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्र ध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान, इन चारों में से आर्त्तध्यान अरु रौद्रध्यान, ए दोनों त्यागने और धर्मध्यान अरु शुक्लध्यान, ए दोनों अंगीकार करने, ए ध्यान तप। ६. सर्व उपाधियों को त्याग देना व्युत्सर्ग तप है। ऐ छः प्रकार का अभ्यंतर तप है। ए सर्व मिल कर के बारां प्रकार का तप है।

क्रोधादि निग्रह—क्रोध, मान, माया, अरु लोभ, इन चार कषायों का निग्रह करना।

पांच व्रत, दश श्रमणधर्म, सतरां प्रकार का संयम, दश प्रकार का वैयावृत्त्य, नव प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्ति, तीन—ज्ञान दर्शन, चारित्र, बारां प्रकार का तप, अरु क्रोधादिक चार का निग्रह, ए सर्व मिल कर सत्तर भेद चारित्र के हैं, इस वास्ते इन को चरणसत्तरी कहते हैं।

अब करणसत्तरी के भेद लिखते हैं:—

*पिंडविसोही समिई, भावण पडिमाय इंदियनिरोहो।

* चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पांच प्रकार की समिति, बारह प्रकार की भावना, बारह प्रकार की प्रतिमा तथा पांच प्रकार का इन्द्रिय निरोध, पचीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन प्रकार की गुप्ति, चार प्रकार का अभिग्रह, ये सत्तर प्रकार की करण सत्तरी है॥

पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणंतु ॥

[ओ० नि० भा०, गा० ३, प्रव० सा०, गा० ५६३]

अर्थः—पिंडविशुद्धि—आहार, उपाश्रय, वस्त्र, पात्र, ए चार वस्तु को साधु ४२ दोष टाल कर ग्रहण करे, तिस का नाम पिंडविशुद्धि है । बैतालीस दूषण का जो पूरा स्वरूप देखना होवे, तो भद्रबाहुस्वामिकृत पिंडनिर्युक्ति की मलयगिरिसूरिकृत टीका सात हजार श्लोक प्रमाण है, सो देखनी, तथा जिनवल्लभसूरिकृत पिंडविशुद्धि ग्रन्थ और उस की जिनपतिसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीनेमिचन्द्रसूरिकृत प्रवचनसारोद्धार, तथा उस की श्री सिद्धसेनसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योग शास्त्र से जान लेना ।

पांच समिति

अब समिई—समिति पांच प्रकार की है, उसका स्वरूप लिखते हैं । प्रथम ईर्या समिति, सो चलने को ईर्या कहते हैं, अरु सम्यक्- आगम के अनुसार जो प्रवृत्ति-चेष्टा करनी, सो समिति कहिये । त्रस स्थावर जीवों को अभयदान के देने वाला जो मुनि है, तिस मुनि को जे कर किसी आवश्यक प्रयोजन के वास्ते चलना पड़े, तो किस रीति से चलना ? प्रथम तो प्रसिद्ध रस्ते से चलना । जो रस्ता सूर्य की किरणों

से प्रतप्त प्रासुक–होवे जीव रहित होवे, जिस में स्त्रीपुरुष का संघट्ट–संघर्ष न होवे, रस्तेमें जीवों की रक्षा निमित्त अथवा अपने शरीर की रक्षा निमित्त, पग के अंगूठे से लेकर चार हाथ प्रमाण भूमि को आगे से देख कर चलना, इस का नाम ईर्यासमिति है । इस रीति से जो साधु चले, तथा दूसरा कोई काम करे, तिस काम में कदाचित कोई जीव मर भी जावे, तो भी साधु को पाप नहीं लगता, क्योंकि उस का उपयोग बहुत शुभ है । तथा पापसहित भाषा–कठोर भाषा—जैसे कि तूं धूर्त है, कामी है, राक्षस है, ऐसे शब्दों को न कहे । जो शब्द जगत में निंदनीय होवे, सो न बोले, किन्तु पर को सुखदायी, बोलने में थोड़ा (मित) अरु बहुत प्रयोजनों को साधने वाला, संदेह रहित–ऐसा वचन बोले । ए दूसरी भाषा समिति है । तथा बैतालीस दूषण रहित आहारादिको जो ग्रहण करना, सो तीसरी एषणा समिति है । तथा आसन, संस्तारक, पीठ, पलक, वस्त्र, पात्र, दंडादिक नेत्रों से देख कर उपयोग पूर्वक लेना, अरु रखना, सो चौथी आदाननिक्षेप समिति है । तथा पुरीष,प्रश्रवण,थूक,नाक का श्लेष्म, शरीरमल, वस्त्र, अन्न, पानी, जो शरीर का अनुपकारी होवे, इन सब को जीव रहित भूमि में स्थापन करना, यह पांचमी परिष्ठापना समिति है ।

अब बारां भावना लिखते हैं:—

१. अनित्य भावना, २. अशरण भावना, ३. संसार भावना, ४.

एकत्व भावना, ५. अन्यत्व भावना, ६. अशुचित्व भावना, ७. आश्रवभावना, ८.संवरभावना, ९.निर्जराभावना, १०. लोकस्वभाव भावना, ११. बोधिदुर्लभ भावना, १२ धर्मभावना है। यह बारां भावना जिस तरे से रात दिनमें भावने योग्य हैं,तैसे अभ्यास करना। अब इन बारां भावनाओं का किंचित् स्वरूप लिखते हैं।

बारह भावनाएं

पहली-अनित्यभावना कहते हैं:—जिन का वज्र की तरें सार अरु कठिन शरीर था, वो भी अनित्य रूप राक्षस ने भक्षण कर लिये, तो फिर केले के गर्भ की तरें निःसार जीवों के जो शरीर हैं, सो इस अनित्य रूप राक्षस से कैसे बचेंगे? तथा लोग बिल्ली की तरें आनन्दित हो कर विषयसुख का दूध की तरें स्वाद लेते हैं, परन्तु लाठी की मार को नहीं देखते हैं, अर्थात् विषय सुख भोग कर आनन्द तो मानते हैं, परन्तु जन्मांतरमें प्राप्त होने वाले नरकपतन रूप संकट से नहीं डरते हैं। तथा जीवों का शरीर तो पानी के बुलबुले की तरे है,अरु जीवन जो है,सो ध्वजा की तरे चंचल है, तथा स्त्री, परिवार, आंख के झमकने की तरें चंचल हैं। अरु यौवन जो है, सो हाथी के कान की तरें चंचल है, तथा स्वामीपना जो है, सो स्वप्न श्रेणी की तरें है, अरु लक्ष्मी जो है सो चपला-विजली की तरें चंचल है। इसी तरें सर्व पदार्थों की अनित्यता को विचारते हुए यदि प्यारा पुत्रादिक भी मर जावे, तो भी अपने मन में सोच न करे। तथा जो मूर्ख जीव सर्व

भाव को नित्य माने है, वो तो अपनी जीर्ण पत्रों की झोंपड़ी के भंग होने से रात दिन रुदन करता है। तिस वास्ते तृष्णा का नाश करके ममत्व रहित शुद्ध बुद्धि वाला जीव अनित्य भावना को भावे ।

दूसरी अशरणभावना का स्वरूप कहते हैं:—पिता, माता, पुत्र, भार्या प्रमुख के देखते हुए आधि व्याधि की समूह रूप शृङ्खला में बन्धे हुए, तथा रुदन करते हुए जीव को, कर्म रूप योद्धा यम-काल के मुख में जो फेंक देते हैं, सो बड़ा दुःख है । जो लोक शरण रहित अनाथ हैं, वे क्या करेंगे ? तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं, नाना प्रकार के मंत्र यन्त्रों को क्रिया को जानते हैं, ज्योतिष विद्या को जानते हैं, तथा नाना प्रकार की औषधि, रसायन प्रमुख वैद्यक क्रियाओंमें कुशल हैं। इन सम्पूर्ण विद्वानों की उक्त क्रियायें काल के आगे कुछ भी करने को समर्थ नहीं हैं। तथा नाना प्रकार के शस्त्रों वाले, उत्कृष्ट योद्धाओं की सेना करके परिवेष्टित भी हैं, नाना प्रकार के मदभार हाथियों की बाड़ भी है, ऐसे इन्द्र, वासुदेव, चक्रवर्त्ती सरीखे बलवान् भी काल के वश में खेंचे हुए चले जाते हैं । बड़ा दुःख है, कि जो प्राणियों को कोई भी शरण नहीं। तथा जो मेरु को दण्ड अरु पृथ्वी को छत्र करने में समर्थ थे, अरु थोड़ा भी जिन को क्लेश नहीं था, ऐसे अनंतबली तीर्थंकर भी लोकों को काल से बचाने को समर्थ नहीं, तो फिर दूसरा कौन समर्थ है ?

अतः स्त्री, मित्र, पुत्रादिकों के स्नेहरूप भूत के दूर करने के वास्ते शुद्धमति जीव अशरण भावना को भावे ।

तीसरी संसार भावना कहते हैं:—बुद्धिमान् तथा बुद्धि रहित, सुखी, दुःखी रूपवान् तथा कुरूपवान, स्वामी तथा दास, प्यारा तथा वैरी, राजा तथा प्रजा, देवता, मनुष्य, तिर्यंक्, नारक, इत्यादिक अनेक प्रकार के कर्मों के वश से सांग धार कर, इस संसार रूप अखाड़े में यह जीव नाटक करता है। तथा अनेक प्रकार के पापों—महारंभ, मांसभक्षण, मदिरापानादिक करके महा अंधकार युक्त-जहां कुछ नहीं दीखता, ऐसी नरक भूमिका में जा पड़ता है। तिहां पर अङ्गच्छेदन, अग्नि में जलनादि क्लेश रूप महा दुःख जो जीव को होते हैं, उन दुःखों को केवली भी कथन नहीं कर सकता। यह प्रथम नरक गति कही। तथा छल, झूठादि कारणों से प्राणी तिर्यंच गति में सिंह, बाघ, हाथी, मृग, बैल, बकरे आदि के शरीर धारण करता है। अरु तिस तिर्यंच गति में क्षुधा, तृषा, वध, बन्धन, ताडन, रोग, हल प्रमुख में वहना-जुतना इत्यादिक जो दुःख जीव सदा सहता है, वो कौन कहने को समर्थ है? यह दूसरी तिर्यग्गति कही। तथा मनुष्यों में कितने हो खाद्य, अखाद्य में विवेक शून्य हैं, मनमें लज्जा नहीं रखते हैं, अरु गम्यागम्य का विचार नहीं करते हैं। जो अनार्य मनुष्य हैं, वो तो निरंतर जीवघात, मांसभक्षण, चोरी, परस्त्रीगमन प्रमुख कारणों करके बड़ा भारी

महा दुःखों का देने वाला पापकर्म उत्पन्न करते हैं, तथा आर्य देश में भी क्षत्रिय, ब्राह्मण प्रमुख जो हैं, वे भी अज्ञानता, दरिद्रता, कष्ट, दौर्भाग्य, रोगादिक करके पीडित हैं। दूसरों का काम करना, मानभङ्ग, अपमान आदि अनेक दुःख निरंतर भोग रहे हैं। तथा गर्भवास का दुःख इस जीव को सब से अधिक भयंकर है। किसी पुरुष के एक २ रोम में, एक ही समय एक २ सूई मारी जावे, उस से जो कष्ट होता है, उस से आठ गुना कष्ट माता के गर्भमें स्थित जीव को होता है। इस दुःखसे अनन्त गुना दुःख जन्म समयमें होता है। तथा बाल अवस्था में मूत्र, पुरीष, धूलि में लोटना, अज्ञानता, जगत् की निंदा, यौवन में धन अर्जन करना, इष्ट वस्तु का वियोग, अनिष्ट वस्तु का संयोग, अरु वृद्ध अवस्था में शरीर का कांपना, नेत्रों का बलहीन हो जाना, श्वास, खांसी आदि रोगों करके महा दुःखी होना इत्यादिक ऐसी कोई भी दशा नहीं, कि जिस में प्राणी सुख पावे। यह मनुष्य गति कही। तथा सम्यग् दर्शनादिक के पालने से जो जीव देवता होता है, सो भी शोक, विषाद, मत्सर, भय, थोड़ी ऋद्धि, ईर्ष्या, काम मद आदि करके पीडित हो कर, अपना आयु दीन मन होकर पूर्ण करता है। यह देव गति कही। इस तरे से मोक्षाभिलाषी पुरुष तीसरी संसार भावना भावे।

चौथी एकत्व भावना कहते हैं:—अकेला ही जीव उत्पन्न होता है, अरु अकेला ही मृत होता है, अकेला ही कर्म करता

है, अरु अकेला ही फल भोगता है। तथा इस जीव ने बहुत कष्ट करके जो धन *उपार्ज्या है, सो धन तो स्त्री, मित्र, पुत्र, भाई प्रमुख खा जावेंगे, अरु जो पाप कर्म उपार्ज्या है, उस का फल तो करने वाला जीव अकेला ही नरक, तिर्यंच गति में जा कर भोगता है। देखो यह कैसा आश्चर्य है! तथा यह जीव जिस देह के वास्ते रात दिन फिरता है, अरु दीनपना अवलम्बन करता है, धर्म से भ्रष्ट होता है, अपने हित को ठगाता है, न्याय से दूर होता है; सो देह इस आत्मा के साथ एक पग तक भी परभव में न चलेगी। तो फिर यह देह क्या करेगी? क्या साहाय्य देगी? अरु स्वजन जो हैं, सो अपने २ स्वार्थ में तत्पर हैं, वास्तव में तेरा कोई भी नहीं है। इस वास्ते हे बुद्धिमान्! तू अपने हित के वास्ते धर्म करने में प्रयत्न कर। इस तरे से जीव चौथी एकत्व भावना भावे।

पांचमी अन्यत्व भावना कहते हैं:—जीव इस देह को छोड़ कर परलोक को जाता है, इस वास्ते इस शरीर से जीव भिन्न है, तो फिर इस शरीर पर नाना प्रकार का सुगन्धित लेप करना व्यर्थ है। तथा इस शरीर को कोई दंडादि करके मारे तो साधु को समता रस पीना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये। जो पुरुष अन्यत्वभावना से भावित है, तिस को शरीर, धन, पुत्रादिक के वियोग होने से भी शोक नहीं होता।

* एकत्रित किया है।

इस तरे से जीव पांचमी भावना भावे।

छठी अशुचि भावना लिखते हैं:—जैसे लूण की खान में जो पदार्थ पड़ता है, वो सर्व लूण हो जाता है, वैसे ही इस काया में जो कुछ आहार पड़ता है, सो सर्व मल रूप होजाता है, ऐसी यह काया अशुचि है। तथा इस काया की उत्पत्ति भी अशुचि पदार्थ से ही है। रुधिर अरु शुक्र इन दोनों के मिलने से गर्भ उत्पन्न होता है। वह जरा करके वेष्टित होता है। जो कुछ माता खाती है, उसी के रस से वो गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है। अस्थि मज्जा आदि धातुओं करी पूर्ण है। ऐसी देह को कौन बुद्धिमान् शुचि मानता है? तथा जो सुस्वादु, शुभ गंध वाले मोदक, दही, दूध, इक्षु-रस, शालि, ओदन, द्राक्षा, पापड़, अमृती, घेवर, आम्र प्रमुख पदार्थ खाये जाते हैं, सो तत्काल मलरूप हो जाते हैं। ऐसी अशुचि काया को महा मोहांध पुरुष ही शुचि माने हैं। तथा पानी के एक सौ घड़ों से स्नान करके सुगन्धित पुष्प, कस्तूरी प्रमुख द्रव्यों से बाहिर की त्वचा को कितनेक काल तक मुग्ध जीव शुचि अरु सुगन्धित कर लेते हैं, परन्तु मध्य भाग में रहा हुआ विष्टे का कोठा कैसे शुचि होवे? तथा चन्दन, कस्तूरी, कपूर, अगरु, कुंकुम प्रमुख सुगन्धित द्रव्यों का शरीर के साथ जब सम्बन्ध होता है, तब ए पूर्वोक्त सर्व वस्तु क्षण मात्र में दुर्गन्ध रूप हो जाती हैं। फिर इस काया को कौन बुद्धिमान् शुचि मान सकता है? ऐसे शरीर की अशुचि

रूपता का विचार करके बुद्धिमान् पुरुष, इस शरीर का ममत्व न करे। इस तरे से जीव छठी भावना भावे।

सातमी आश्रव भावना कहते हैं:—मन, वचन, और काया के योग करके शुभाशुभ कर्म, जो जीव ग्रहण करते हैं, तिस का नाम आश्रव है। जिनेश्वर देव कहते हैं कि *सर्व जीवों विषे मैत्री भावना, गुणाधिक जीव में प्रमोद भावना, अविनीत शिष्यादिक में मध्यस्थ भावना, दुःखी जीवों में कारुण्य भावना, इन चारों भावनाओं करके जिस पुरुष का अन्तःकरण निरन्तर वासित होवे, वो पुण्यवान् जीव बेतालीस प्रकार का पुण्य उपार्जन करता है। तथा रौद्रध्यान, आर्त्तध्यान, †पांच प्रकार का मिथ्यात्व, ‡सोलां प्रकार का कषाय, पांच प्रकार का विषय, इनों करके जिनों का मन वासित है, वे जीव, ब्यासी प्रकार का अशुभ कर्म उपार्जन

* सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!

[सामायिकपाठ, श्लो० १]

† आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक, अनाभोगिक—ये मिथ्यात्व के पांच भेद हैं।

[विशेष के लिये देखो गुणस्थान क्रमारोह, प्रथम गुणस्थान।]

‡ क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों में से प्रत्येक के क्रमशः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, ये चार चार भेद होने से सोलह प्रकार का कषाय हो जाता है।

करते हैं। तथा सर्वज्ञ अर्हत भगवन्त, गुरु,सिद्धान्त-द्वादशांग, चार प्रकार का संघ, इन सर्व का जो गुणानुवाद-गुणों कीर्तन करते हैं, अरु सत्य, हितकारी वचन बोलते हैं, वे जीव शुभ कर्म का उपार्जन करते हैं। तथा श्रीसंघ, गुरु सर्वज्ञ, धर्म अरु धर्मी इन सब का जो अवर्णवाद बोलते हैं, झूठे मत का वा कपोलकल्पित मत का जो उपदेश करते हैं, वो जीव अशुभ कर्म का उपार्जन करते हैं। तथा जो पुरुष वीतराग देव की पुष्पादिकों से पूजा करे तथा साधु की भक्ति, विश्रामणा प्रमुख करे, तथा काया को पाप से गुप्त करे-सुरक्षित रक्खे, वो जीव शुभ कर्म का उपार्जन करता है तथा जो जीव, मांस भक्षण, सुरापान, जीवघात, चोरी, जुआ, परस्त्रीगमनादिक करे, वो अशुभ कर्म उपार्जन करता है। ए अनुक्रम से मन, वचन, काया करके शुभाशुभ आश्रव उपार्जन करता है। इस प्रकार से यह आश्रव भावना जो जीव भावे है, सो अनर्थ परंपरा को त्याग देता है, अरु महानन्दस्वरूप, दुःख दावानल को मेघ समान अरु मोक्ष की देनेहारी सर्वावलि (सुख परम्परा) अङ्गीकार करता है। इस तरे से सातमी आश्रव भावना भावे।

आठमी संवरभावना कहते हैः—आश्रवों का जो निरोध करना, तिस को संवर कहते हैं, सो संवर दो प्रकार का होता है, एक देश संवर। दूसरा सर्व संवर उस में सर्व प्रकार से संवर तो अयोगी केवली में होता है, अरु जो देश से

संवर है, सो एक दो प्रमुख आश्रव के निरोध करने वाले में होता है। फिर यह संवर दो प्रकार का है, एक द्रव्यसंवर, दूसरा भावसंवर। आश्रव करके जो कर्म पुद्गल जीव ग्रहण करता है, तिनका जो देश से वा सर्व प्रकार से छेदन करना, सो द्रव्य संवर, अरु जो भवहेतु क्रिया का त्याग, सो भावसंवर है। मिथ्यात्व, कषाय प्रमुख आश्रवों को जो बुद्धिमान् उपाय करके निरोध करे, आर्त्त और रौद्र ध्यान को वर्जे, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यानको ध्यावे, क्रोध को क्षमा करके जीते, मान को मृदु भाव करके जीते, माया को सरलता करके जीते, लोभ को सन्तोष करके जीते, इन्द्रियों के विषय-इष्टानिष्ट को रागद्वेष के त्यागने से जीते। इस प्रकार जो बुद्धिमान् संवर भावना भावे तो स्वर्ग मोक्ष रूप लक्ष्मी अवश्य उस के वशी भूत हो जाती है।

नवमी निर्जरा भावना लिखते हैं:—संसार की हेतुभूत जो कर्म की संतति है, तिस को अतिशय करके जो हानि करे, तिस का नाम निर्जरा है। सो निर्जरा दो प्रकार की है। एक सकाम निर्जरा, दूसरी अकाम निर्जरा, इन दोनों में से जो सकाम निर्जरा है, सो उपशांत चित्तवाले साधु को होती है, अरु अकाम निर्जरा शेष जीवों को होती है। ए दोनों निर्जरा उदाहरण से कहते हैं। कर्म का पाक स्वयमेव होता है, अरु उपाय से भी होता है; जैसे आम्र का फल स्वयमेव वृक्ष की डाली में लगा हुआ ही पक जाता

है; अरु कोद्रवादि के पलाल तथा गर्त में प्रक्षेप करने–डालने से भी पक हो जाता है; ऐसे ही निर्जरा भी दो प्रकार की है। हमारे कर्मों की निर्जरा होवे ऐसे आशय वाले पुरुष जो तप आदि करते हैं, उनों के सकाम निर्जरा होती है। अरु एकेंद्रिय जो जीव हैं, तिन को विशेष ज्ञान तो नहीं परन्तु शीतोष्ण, वर्षा, दहन, छेदन, भेदनादि के द्वारा सदा कष्ट भोगने से जो कर्म की निर्जरा होती है, उस का नाम अकाम निर्जरा है। ऐसे तप आदि करके जो निर्जरा की वृद्धि करे, सो नवमी निर्जरा भावना जाननी।

दशमी लोकस्वभाव भावना कहते हैं:—यह पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे अरु लोकाकाश, नरक, स्वर्ग आदि सर्व को मिला के एक लोक कहने में आता है। तिस सम्पूर्ण लोक का आकार जैन मत के सिद्धांत में ऐसे लिखा है। जैसे कोई पुरुष जामा पहिर के, कमर में दोनों हाथ लगा कर खड़ा होवे, तब जैसा उस का आकार है, ऐसा ही लोक का आकार है। जो षड्द्रव्य करके पूर्ण है, उत्पत्ति, स्थिति, अरु व्यय, इन तीनों स्वरूपों करी युक्त है, अनादि अनंत है, किसी का रचा हुआ नहीं है, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यग् लोक, इन तीन स्वरूपों में बटा हुआ है। सब जीव, पुद्गल इसी के अन्दर हैं, बाहिर नहीं। लोक से बाहिर तो केवल एक आकाश ही है, सो आकाश भी अनन्त है। इसी आकाश का नाम जैन शास्त्रों में अलोकाकाश लिखा है। अधोलोक

में न्यारी न्यारी नीचे ऊपर सात पृथ्वी हैं, उन में नरकवासी जीव रहते हैं। तथा किसी अगे भवनपति अरु व्यंतर भी रहते हैं। तिरछे लोक में मनुष्य, तिर्यंच और व्यंतर भी रहते हैं। ऊर्ध्व लोक में देवता रहते हैं। विशेष करके जो लोकस्वरूप देखना होवे, तो लोकनाडीद्वात्रिंशतिका से तथा लोकप्रकाश ग्रन्थ से जान लेना। इस सारे लोक के स्वरूप का जो चिंतन करना है, सो दशमी लोक स्वभाव भावना है।

ग्यारवीं बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं:—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, इन में अपने करे हुए क्लिष्ट कर्मों करके जीव भ्रमण करता है। इस भयानक संसार में अनंतानंत पुद्गलपरावर्त्तन करता हुआ यह जीव अकाम निर्जरा करके, अरु पुण्य उपार्जन करके, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय रूप त्रस भाव को पावे है। फिर आर्यक्षेत्र, सुजाति, भला कुल, रोगरहित शरीर, संपदा, राज्यसुख, हलके कर्म और तत्त्वातत्त्व के विवेचन करने वाली, बोध बीज के बोने वाली, कर्मक्षय करके मोक्ष सुखों की जननी, ऐसी श्री सर्वज्ञ अर्हंत की देशना मिलनी बहुत दुर्लभ है। जेकर जीव एक वार भी सम्यक्त्वरूप बोधि को प्राप्त कर लेता, तो इतने काल तक कदापि संसार में पर्यटन न करता। जो अतीत काल में सिद्ध हुए, जो वर्त्तमान में सिद्ध होते हैं, अरु जो अनागत काल में सिद्ध होंगे, वे

सर्व बोधि का ही माहात्म्य है । इस वास्ते भव्य जीव को बोधि की प्राप्ति में अवश्य यत्न करना चाहिये, क्योंकि कितनेक जीवों ने अनन्त वार द्रव्य चारित्र पाया है, परन्तु बोधिके बिना सर्व निष्फल हुआ ।

बारमी धर्म भावना लिखते हैं:—धर्म कथा के कथन करने वाला अर्हन् है । जो पुरुष परहित करने में उद्यत है, अरु वीतराग है, वो किसी बात में भी झूठ न बोलेगा । इस वास्ते उसके कहे हुये धर्म में सत्यता है । केवल ज्ञान करके लोकालोक को प्रकाश करने वाला तो एक अर्हंत ही हो सकता है, दूसरा नहीं । क्षांत्यादि दश प्रकार का धर्म जिनेश्वर देव ने कहा है । उस धर्म करके जीव, संसार समुद्र में डूबता नहीं, किन्तु उस के आराधन से वह संसार समुद्र को तर जाता है । जो अर्हंत की वाणी है, सो पूर्वापर अविरुद्ध है, अरु तिन के वचनों में हिंसा का उपदेश नहीं । तथा कुतीर्थियों के जो वचन हैं सो सर्व सद्गति के विरोधी हैं, क्योंकि यज्ञादिकों में पशुवध रूप हिंसा के उपदेश करके कलंकित हैं, पूर्वापर विरोधी हैं, निरर्थक वचन भी बहुत हैं । इस वास्ते कुतीर्थी जिसको धर्म कहते हैं, वो धर्म नहीं किंतु धर्माभास है, इस हेतु से तिन का वचन प्रमाण नहीं हो सकता । अरु जो जो कुतीर्थियों के शास्त्रों में कहीं कहीं दया सत्यादिकों का कथन है,सो भी कहने मात्र ही है,परन्तु तत्त्वसे वो भी कुछ नहीं है, क्योंकि इन का यथार्थ स्वरूप वे जानते

नहीं हैं, अरु यथार्थ पावते नहीं हैं । प्रथम तो उन शास्त्रों के जो उपदेशक हैं, वे ही कामाग्नि में प्रज्वलित थे, यह बात सर्व सुज्ञ जनों को विज्ञात है। इस वास्ते अर्हत भगवन्त ही सत्यार्थ के उपदेशक हैं। तथा बड़े २ मदझर हाथियों की घटा संयुक्त जो राज्य का पावना, और सर्व जनों को आनन्द देने वाली संपदा का पावना, तथा जो चन्द्रमा की तरे निर्मल गुणों के समूह को पावना, अरु उत्कृष्ट सौभाग्य का विस्तार पावना, यह सर्व धर्म ही का प्रभाव है । तथा समुद्र जो पृथिवी को अपनी कल्लोलों से बहाता नहीं है, तथा मेघ जो सर्व पृथिवी को रेलपेल नहीं करता, अरु चन्द्रमा, सूर्य जो उदय होते हैं, सर्व अन्धकार का विच्छेद करते हैं, सो सर्व जयवन्त धर्म का ही प्रभाव है । जिस का भाई नहीं, जिस का मित्र नहीं, जिस रोगी का कोई वैद्य नहीं, जिस के पास धन नहीं, जिस का कोई नाथ नहीं, जिस में कोई गुण नहीं, उन सर्व का भाई, मित्र, वैद्य, धन, नाथ, गुणों का निधान धर्म है । तथा यह जो अर्हंत का कथन किया हुआ धर्म है, सो महापथ्य है, ऐसे जो भव्यजीव मन में ध्यावे, सो धर्म में दृढतर होवे । एक ही निर्मल धर्म भावना को निरन्तर जो जीव मन में ध्यावे, सो भव्य अशेष पाप कर्म नाश करके अनेक जीवों को उपदेश द्वारा सुखी करके परम पद को प्राप्त होता है, तो फिर जो बारां ही भावना को भावे, तिस को परमपद की प्राप्ति होने में क्या आश्चर्य है ? यह

बारां भावना समाप्त हो गई हैं।

अथ बारां प्रतिमा लिखते हैं:—एक मास से लेकर सात मास पर्यंत एक एक मास की वृद्धि जान लेनी, ए सात प्रतिमा होनी हैं। जैसे प्रथम एक मास की, दूसरी दो मास की, ऐसे ही एक एक मास की वृद्धि से सात मास पर्यंत सात प्रतिमा होती हैं, और आठमी सात दिन रात की, नवमी सात दिन रात की, दशमी सात दिन रात की, अग्यारमी एक दिन रात की, अरु बारमी प्रतिमा एक रात्रि प्रमाण जाननी।

अब जो साधु, इन बारां प्रतिमा को अंगीकार कर सकता है, तिस का स्वरूप लिखते हैं, "संहननधृतियुक्तः"—तहां जिस का संहनन वज्रऋषभनाराच होवे, सो परिषह सहने में अत्यन्त समर्थ होता है। "धृतियुक्तः"—धृति-चित्त का स्वस्थपना, तिस करके जो युक्त होवे सो धृतियुक्त, वो तो रति, अरति करके पीडित नहीं होता है, "महासत्त्वः"—जो महासात्त्विक होवे, सो अनुकूल, प्रतिकूल उपसर्ग सहने में विषादको प्राप्त नहीं होता है। "भावितात्मा"—और जो सद्भावना करके वासित अन्तःकरण होवे, तिस की भावना पांच हैं तिन का विस्तार, व्यवहारभाष्यटीका से जानना। ए भावना कैसे भावे ? सो कहते हैं—"सम्यग्गुरुणाऽनुज्ञातः"—जैसे आगम में हैं, तथा जैसे गुरु आचार्य आज्ञा देवे। जेकर गुरु ही प्रतिमा अंगीकार करे, तदा नवीन आचार्य स्थापन

करके उस की आज्ञा से, तथा गच्छ की आज्ञा लेकर करे। तथा प्रथम अपने गच्छ में ही रह कर प्रतिमा अंगीकार करने का प्रतिकर्म करे। सो प्रतिकर्म यह है:— मासादिक सात जो प्रतिमा हैं, तिन का प्रतिकर्म भी उतना ही है, वर्षा काल में ए प्रतिमा नहीं अङ्गीकार करी जाती है। अरु प्रतिकर्म भी वर्षा काल में नहीं करना। तथा आदि की दो प्रतिमा एक वर्ष में होती हैं, तीसरी एक वर्ष में, चौथी एक वर्ष में, शेष पांचमी, छठी, सातमी, इन तीनों प्रतिमाओं का एक वर्ष में प्रतिकर्म, एक वर्ष में प्रतिपत्ति, ऐसे नव वर्ष में आदिकी सात प्रतिमा समाप्त होती हैं।

जो यह प्रतिमा अङ्गीकार करता है, उस का कितना श्रुतज्ञान होता है? उस का श्रुतज्ञान किंचित् न्यून दश पूर्व तक होता है। और जिस को सम्पूर्ण दश पूर्व की विद्या होती है, उस का वचन अमोघ होता है। तथा उस के उपदेश से बहुत से भव्य जीवों का उपकार अरु तीर्थ की वृद्धि होती है। इस कार्य में बाधा न आवे, इस वास्ते वो प्रतिमा आदि कल्प अङ्गीकार नहीं करता *। अरु प्रतिमा का अङ्गीकार करने वालों को जघन्य श्रुतज्ञान नवमे पूर्व की तीसरी वस्तु-आचार वस्तु तक होवे। यह ज्ञान सूत्र तथा अर्थ दोनों ही रूप से होता है। जो इस ज्ञान से रहित है, वो निरतिशय

* सम्पूर्णदशपूर्वधरो हि अमोघवचनत्वाद्धर्मदेशनया भव्योपकारित्वेन तीर्थवृद्धिकारित्वात्प्रतिमादिकल्पं न प्रतिपद्यते। [प्र० सा, गा० ५७६ की वृत्ति]

ज्ञानी होने से कालादिक को नहीं जानता है। इस के अतिरिक्त प्रतिमाधारी के सम्बन्ध में शरीर की सार संभाल का त्याग, देवतादिक का उपसर्ग सहना, जिन कल्पी की तरें उपसर्ग सहने तथा एषणापिंडग्रहण के प्रकार, भिक्षाग्रहणविधि, गच्छ से बाहिर रहना इत्यादि शेष वर्णन देखना होवे तो प्रवचनसारोद्धार की बृहद्वृत्ति देख लेनी। ए बारां प्रतिमा कही।

इन्द्रियनिरोध

अथ इन्द्रियनिरोध कहते हैं—"स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं चेति" यह पांच इन्द्रिय है। अरु, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, ए पांच, पूर्वोक्त पांच इन्द्रियों के यथाक्रम विषय हैं, इन पांचों विषयों का निरोध करना, क्योंकि जो इन्द्रियें वश में न होंगी, तो बड़ी अनर्थकारी होंगी, अरु क्लेशसागर में गेरेंगी। ‡ यदभ्यधायि :—

सक्तः शब्दे हरिणः, स्पर्शे नागो रसे च वारिचरः।
कृपणपतंगो रूपे, भ्रमरो गंधेन च विनष्टः ॥१॥
पंचसु सक्ताः पंच, विनष्टा यत्रागृहीतपरमार्थाः।

‡ [नीतिकारों ने] कहा है कि:—

हरिण शब्द में, हस्ती स्पर्श में, मीन रस में, दीन पतंगा रूप में, और भ्रमर सुगन्ध में आसक्त होने से नष्ट हो जाता है ॥१॥

इन पृथक पृथक् पांचों विषयों में आसक्त हुए हरिण इत्यादि पांचों

एकः पंचसु सक्तः, प्रयाति भस्मान्ततां मूढः ॥२॥
तुरगैरिव तरलतरै-र्दुर्दान्तैरिंद्रियैः समाकृष्य।
उन्मार्गे नीयंते, तमोघने दुःखदे जीवाः ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां जये तस्मा-द्यत्नः कार्यः सुबुद्धिभिः ।
तज्जयो येन भविनां, परत्रेह च शर्मणे ॥ ४ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५८६ की वृत्ति में उद्धृत]

अथ * प्रतिलेखना जैन साधुओं में प्रसिद्ध है, इस वास्ते नहीं लिखी।

ही मूर्ख—परमार्थ को न जानते हुए नष्ट हो जाते हैं। फिर एक प्राणी जो कि पांचों ही विषयों में आसक्त होवे, उस मूर्ख की क्या दशा होगी! अर्थात् वह सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥२॥

जिस प्रकार चंचल, हठी घोड़े अपने सवार को विकट मार्ग में ले जा कर पटक देते हैं। इसी प्रकार ये चपल इन्द्रियां भी प्राणी को कुमार्ग की तरफ़ बल पूर्वक खींच ले जाती है ॥३॥

अतः बुद्धिमान् मनुष्यों को इन इन्द्रियों के जय करने में सर्वदा यत्नशील रहना चाहिये। जिस से कि इहलोक और परलोक में सुख की प्राप्ति हो ॥४॥

* प्रतिलेखना के २५ भेद हैं। साधु के वस्त्र, पात्र आदि जो धर्मोपकरण [संयमनिर्वाह के लिये जिन के रखने की शास्त्रों में आज्ञा है] हैं; उन की शास्त्रविधि पूर्वक देख भाल करनी—उन को झाड़ना,

अथ तीन गुप्ति लिखते हैं—मनोगुप्ति, वचन गुप्ति, कायागुप्ति, ए तीन गुप्ति हैं। इन का स्वरूप ऐसे है। अशुभ मन, वचन, काया का निरोध करना, अरु शुभ मन, वचन, काया की प्रवृत्ति करनी। इन में से मनोगुप्ति तीनप्रकार की है। आर्त्त, रौद्र ध्यानानुबंधी कल्पना का वियोग, ए प्रथम मनोगुप्ति। शास्त्रानुसारी, परलोक के साधने वाली धर्मध्यानानुबन्धी माध्यस्थ परिणति, ए दूसरी मनोगुप्ति। सम्पूर्ण शुभाशुभ मनोवृत्ति का निरोध, अयोगी गुणस्थान अवस्था में स्वात्मारामरूपता, ए तीसरी मनोगुप्ति।

तीन गुप्ति

वचनगुप्ति दो प्रकार की है। उस में मुख नेत्र भ्रूविकार,

साफ करना और व्यवस्था पूर्वक रखना, यह पडिलेहणा, प्रतिलेखना या प्रेक्षा कहलाती है। यह साधु को प्रतिदिन तीन दफा करनी होती है—प्रातःकाल, तीसरे पहर और उद्घाटपौरुषी अर्थात् पौने पहर में। परन्तु इन तीनों समयों की प्रतिलेखना में प्रतिलेख्य वस्तुओं में कुछ अन्तर—न्यूनाधिकता रहती है। यथा—

"प्रतिदिनं साधुजनस्य तिस्रः प्रतिलेखनाः कर्तव्या भवन्ति, तद्यथा—एका प्रभाते, द्वितीया अपराह्णे—तृतीय प्रहरान्ते, तृतीया उद्घाटपौरुष्या समयभाषया पादोनप्रहरे" इत्यादि।

[प्र० सा०, गा० ५९० की वृत्ति]

नोटः—अधिक जिज्ञासा के लिये देखो प्रवचनसारोद्धार तथा पिंड-निर्युक्ति आदि ग्रन्थ।

अंगुली निर्देश, ऊंचा होना, खांसना, हुंकारा करना, पत्थर फैंकना आदि हेतुओं से अपने किसी कार्य विशेष की सूचना करने का त्याग करना, ए प्रथम वचन गुप्ति। क्योंकि जब चेष्टा द्वारा सब कुछ सूचन कर दिया, तब मौन रहना व्यर्थ है। दूसरे के प्रश्न का उत्तर देना, लोक अरु आगम से विरोध न होवे तैसे और वस्त्रादिक से मुख का यत्न करके बोलना, ए दूसरी वचन गुप्ति। इन दोनों भेदों करके वचन का निरोध, अरु सम्यक भाषणरूप वचन गुप्ति जाननी।

कायागुप्ति दो प्रकार से है। १. चेष्टा का निषेध, २. आगम के अनुसार चेष्टा का नियम करना। तहां देवता और मनुष्यादि के उपसर्ग में क्षुधा तृषादि परिषहों के उत्पन्न होने मे कायोत्सर्गादि के द्वारा शरीर को निश्चल करना, तथा अयोगी अवस्था में सर्वथा काया की चेष्टा का निरोध करना, ए प्रथम कायगुप्ति है। तथा गुरुप्रच्छन, शरीर संस्तारक, भूम्यादि का प्रतिलेखन, प्रमार्जनादि क्रियाकलाप का जैसे शास्त्र में विधान है, उसी के अनुसार साधु को शयन आदि करना चाहिये। अतः शयन, आसन, ग्रहण और स्थापन आदि कृत्यों में काया की स्वच्छन्द चेष्टा का त्याग और मर्यादित चेष्टा का स्वीकार करना दूसरी कायगुप्ति है।

अथ अभिग्रह-प्रतिज्ञा लिखते हैं। सो अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल अरु भाव करी चार प्रकार का है, इस का विस्तार

* प्रवचनसारोद्धार वृत्ति में है।

अब करणसत्तरी की गणना कहते हैं। यद्यपि आहारादिक के बैतालीस दूषण हैं, तथापि पिंड, शय्या, वस्त्र, पात्र, ए चार ही वस्तु सदोष ग्रहण नहीं करनी। इस वास्ते संख्या में ए चार ही दूषण लिये हैं। तथा पांच समिति, बारां भावना, बारां प्रतिमा, पांच इन्द्रियनिरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति, चार अभिग्रह, ए सर्व एकठे करने से सत्तर भेद करणसत्तरी के हैं।

प्रश्नः—चरणसत्तरी और करणसत्तरी, ए दोनों में क्या विशेष है ?

उत्तरः—जो नित्य करना सो चरण, अरु जो प्रयोजन होवे तो कर लेना, और प्रयोजन नहीं होवे तो न करना, सो करण। यह इन का भेद है।

यह जैन मत के गुरुतत्त्व का स्वरूप संक्षेप से लिखा है, विस्तार से तो उस का स्वरूप लाखों श्लोकों में भी पूरा नहीं हो सकता। इस वास्ते जेकर विशेष जानने की इच्छा होवे, तो ओघनिर्युक्ति, आचारांग, दशवैकालिक, बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, पंचकल्पचूर्णि, जीतकल्पवृत्ति, महाकल्पसूत्र, कल्पसूत्र, निशीथभाष्यचूर्णि, महानिशीथसूत्र, इत्यादि पदविभाग सामाचारी के शास्त्र देख लेने।

प्रश्नः—जैसा जैनमत के शास्त्रों में गुरु का स्वरूप लिखा

* द्वा० ६७ गा० ५६६ की व्याख्या में।

है, वैसी वृत्ति वाला कोई भी जैन का साधु देखने में नहीं आता है, तो फिर जैनमत के साधुओं को इस काल में गुरु क्योंकर मानना चाहिये ?

पंचम काल के साधुओं का स्वरूप

उत्तरः—तुम ने जैनमत के शास्त्र न पढ़े होंगे, अरु किसी गीतार्थ गुरु की संगत भी नहीं करी होगी, क्योंकि जेकर जैनमत के चरणकरणानुयोग के शास्त्र पढ़े होते, अथवा किसी गीतार्थ गुरु के मुखारविंद से उन के वचनरूप अमृत का पान करा होता, तो पूर्वोक्त संशयरूप रोग की उत्पत्ति कदापि न होती। क्योंकि जैनमत में छे प्रकार के निर्ग्रंथ कहे हैं। इस काल में जो जैन के साधु हैं, वे पूर्वोक्त छे प्रकार में से दो प्रकार के हैं। क्योंकि श्रीभगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के छठे उद्देश में लिखा है, कि पंचम काल में दो तरे के निर्ग्रंथ होंगे, उनों से ही तीर्थ चलेगा। कषायकुशील निर्ग्रंथ तो किसी में परिणामापेक्षा होगा, मुख्य तो दो ही रहेंगे। अरु जो जैन शास्त्रों में गुरु की वृत्ति लिखी है, सो प्रायः उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा से लिखी है। और इस काल में तो प्रायः अपवाद मार्ग की ही प्रवृत्ति है। तब उत्सर्गवृत्ति वाले मुनि इस काल में क्योंकर हो सकते हैं? कदाचित् नहीं हो सकते हैं। क्योंकि न तो वज्रऋषभनाराच संहनन है, न वैसा मनोबल है, न जीवों की वैसी श्रद्धा है, न वैसा देश काल, और न वैसा धैर्य है,

तो फिर इस काल के जीव वैसी उत्सर्ग वृत्ति कैसे धार सकते हैं ?

प्रश्नः—जे कर वैसी वृत्ति इस कालमें वो नहीं रख सकते, तो उन को साधु भी काहेको कहना चाहिये ?

उत्तरः—यह तुमारा कहना बहुत बे समझी का है, क्योंकि व्यवहार सूत्र भाष्य में ऐसे लिखा हैः—

पोक्खरिणी आयारे,आणयणा तेण णाय गीयत्थे ।
आयरियम्मि उ एए, आहरणा हुंति नायव्वा ॥
सत्थपरिण्णाछक्कायअहिगमो पिंड उत्तरज्झाए ।
रुक्खे वसहे जूहे, जोहे सोही य पुक्खरिणी ॥

[उ० ३ गा० १६८–१६९]

इन दोनों द्वार गाथाओं का व्याख्यान भाष्यकार ने पंदरां गाथा करके किया है। जेकर गाथा देखने की इच्छा होवे, तो व्यवहारभाष्य में देख लेनी. इहां तो उन गाथाओं का भाषा में भावार्थ लिख देते हैंः—१. जैसी पूर्वकाल में सुगन्धित फूलों वाली पुष्करिणियां—बावड़ियां थीं; वैसे फूलों वालियां अब नहीं हैं; तो भी सामान्य पुष्करिणियां तो हैं। लोग इन सामान्य बावड़ियों से भी अपना कार्य करते हैं। २. प्रथम संपूर्ण आचारप्रकल्प नवमे पूर्व में था, उस नवमे पूर्व से उद्धार करके पूज्यपाद वैशाख गणी ने निशीथ को रचा, तो क्या उस निशीथ को आचारप्रकल्प न कहना

चाहिये ? ३. पूर्वकाल में तालोद्घाटिनी, अवस्वापिनी आदिक विद्या के धारक चोर थे, परन्तु इस काल में वो विद्या नहीं है, क्या फिर चोरी करने वालों को चोर न कहना चाहिये ? ४. पूर्वकाल में चौदह पूर्व के पाठी को गीतार्थ कहते थे, तो क्या इस काल में जघन्य आचारप्रकल्प, निशीथ और मध्यम आचारप्रकल्प तथा बृहत्कल्प के पढ़े हुये को गीतार्थ न कहना चाहिये ? ५. पूर्वकाल में श्रीआचारांग के शस्त्रप्रज्ञा अध्ययन को पढ़ने के बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थापन करते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के षड्-जीवनिका अध्ययन के पढ़ने से स्थापन नहीं करना चाहिये ? ६. पूर्व समय में आचारांग के दूसरे लोकविजय नामक अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पांचवें उद्देश में जो आमगन्धि सूत्र है, उस सूत्र के अनुसार मुनि आहार का ग्रहण करते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के पिंडैषणा अध्ययन के अनुसार न करना चाहिये ? ७. प्रथम आचारांग के पीछे उत्तराध्ययन पढ़ते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के पीछे जो उत्तराध्ययन पढ़ा जाता है, सो नहीं पढ़ना चाहिये ? ८. पूर्वकाल में मत्तांग आदिक दश प्रकार के वृक्ष थे, तो क्या अब अंबादिक को वृक्ष न कहना चाहिये ? ९. प्राचीनकाल में बड़े २ बलवान् वृषभ होते थे, अभी वैसे नहीं हैं, तो क्या अब के वृषभों को वृषभ-बैल नहीं कहना चाहिये ? १०. पूर्व में बहुत गौओं के समूह वाले नन्द

गोप को ग्वाल कहते थे, तो क्या अब थोड़ी गौओं वाले को ग्वाल न कहना चाहिये ? ११. पूर्वकाल में सहस्र-मल्ल योद्धा थे, अब नहीं हैं; तो क्या अब किसी को योद्धा न कहना चाहिये ? १२. पूर्व में षाण्मासिक तप का प्रायश्चित्त था, तो क्या उस के बदले अब निवी प्रमुख प्रायश्चित्त न लेना चाहिये ? १३. जैसे प्राचीनकाल की बावड़ियों में वस्त्र आदिक धोये जाते थे, इसी प्रकार वर्तमान समय की बावड़ियों से भी वस्त्रों की शुद्धि हो सकती है । इसी तरें यदि आज कल के साधुओं में पूर्वकाल के मुनियों जैसी वृत्ति नहीं, तो क्या उन को आचार्य वा साधु न कहना चाहिये ? किन्तु ज़रूर ही साधु कहना अरु मानना चाहिये। तथा जीवानुशासन सूत्र की वृत्ति में भी लिखा है, कि पांचमें काल में साधु ऐसा भी होवे, तो भी संयमी कहना चाहिये, तथा निशीथ भाष्य में भी लिखा है:—

जा संजमया जीवेसु ताव मूलगुण उत्तरगुणा य ।
इत्तरियच्छेय संजम, नियंठ बउसापडिसेवी ॥

इस गाथा की चूर्णि की भाषा लिखते हैं । छे काया के जीवों विषे जब तांई दया के परिणाम हैं, तब तांई बकुश निर्ग्रंथ और प्रतिसेवना निर्ग्रंथ रहेंगे। इस वास्ते प्रवचन-शून्य और चरित्ररहित पंचम काल कदापि न होवेगा। तथा मूलोत्तरगुणों में दूषण लगने से तत्काल चारित्र नष्ट

भी नहीं होता। मूल गुण भंग में दो दृष्टांत हैं, उत्तरगुण भंग में मण्डप का दृष्टांत है। निश्चयनय में एक व्रत भंग हुआ, तो सर्व व्रत भंग होजाते हैं, परन्तु व्यवहार नयके मत में जो व्रत भंग होवे, सोई भंग होवे, दूसरा नहीं। इस वास्ते बहुत अतिचार के लगने से भी संयम नहीं जाता, परन्तु जो कुशील सेवे, अरु धन रक्खे और कच्चा-सचित्त पानी पीवे, प्रवचन की उपेक्षा करे वो साधु नहीं। जहां तक छेद प्रायश्चित लगे, तहां तक संयम सर्वथा नहीं जाता। इस वास्ते जो कोई इस काल में साधु का होना न माने, सो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि स्थानांग सूत्र में लिखा है, कि अतिचार बहुत लगते हैं और आलोचना-प्रायश्चित यथार्थ रूप से कोई लेता देता नहीं, इस वास्ते साधु कोई नहीं है; ऐसे जो कहता है वो चरित्र भेदिनी विकथा का करने वाला है। तथा श्रीभगवती सूत्र के पच्चीसमे शतक के छठे उद्देश में संग्रहणीकार श्रीमदभयदेवसूरि ने इन दोनों निर्ग्रंथों का जो स्वरूप लिखा है, सो इहां भाषा में प्रगट लिखा जाता है।

बउसं सबलं कब्बुरमेगट्ठं तमिह जस्स चारित्तं।
अइयारपंकभावा सो बउसो होइ निग्गंथो॥

[पं० नि, गा० १२]

बकुश निर्ग्रंथ का स्वरूप

अर्थः-बकुश, शबल, कर्बुर [ए तीनों एकार्थ हैं अर्थात् एक ही वस्तु को कहते हैं] है चारित्र जिस का [अतिचाररूपपंकयुक्त होने से] सो बकुशनामा निर्ग्रंथ है। इस भारत वर्ष में इस काल में बकुश और कुशील ए दोनों निर्ग्रंथ हैं, शेष के तीन तो व्यवच्छेद हो गये हैं। तथा चोक्तं परम मुनिभिः—

*बउस कुसीला दो पुण, जा तित्थं ताव होहिंति।

[पं० नि०, गा० ३ की अवचूरि]

अर्थात् बकुश,कुशील ए दोनों निर्ग्रंथ जहां तक तीर्थ रहेगा तहां तक रहेंगे। इन में जो बकुश निर्ग्रंथ है, तिसके दो भेद हैं। १. जो वस्त्र पात्रादि उपकरण की विभूषा करे सो उपकरण बकुश, और २. जो हाथ, पग, नख, मुखादिक देह के अवयवों की विभूषा करे, सो शरीरबकुश, ए दोनों भेदों के भी पांच भेद हैं:—

उवगरणसरीरेसु, स दुहा दुविहोऽवि होइ पंचविहो।
आभोगअणाभोगे, अस्संवुडसंवुडे सुहुमे ॥

[पं० नि०, गा० १३]

* इस गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है:—

निग्गंथसिणायाणं पुलायसहियाण तिण्हवुच्छेओ।

अर्थः—इस में से दो पदों का अर्थ तो ऊपर दिया है, अगले दो पदों का अर्थ लिखते हैं। साधु को यह करने योग्य नहीं, ऐसे जानता भी है, तो भी उस काम को जो करे, सो पहला आभोग बकुश, और जो अजानपने करे सो दूसरा अनाभोग बकुश, मूल गुण और उत्तर गुणों में जो छिप कर दोष लगावे, सो तीसरा संवृत बकुश, जो मूल गुण और उत्तर गुणों में प्रगट दोष लगावे सो चौथा असंवृत बकुश, अरु नेत्र, नासिका, और मुख आदिक का जो मल दूर करे, सो पांचमा सूक्ष्म बकुश जानना।

अथ उपकरण बकुश का स्वरूप लिखते हैं:—

जो उवगरणे बउसो, सो धुवइ अपाउसेऽवि वत्थाइं।
इच्छइ य लण्हयाइं, किंचि विभूसाइ भुंजइ य॥

[पं० नि०, गा० १४]

अर्थः—जो उपकरण बकुश है, सो प्रावृट्-पावस ऋतु के विना भी क्षार जल से वस्त्र धोता है। पावस ऋतु में तो सर्व गच्छवासी साधुओं को आज्ञा है, कि साधु एक वार वर्षा से पहिले आप सर्व उपकरण क्षार जल से धो लेवे, नहीं तो वर्षाऋतु में मल के संसर्ग से निगोदादिक जीवों की उत्पत्ति हो जावेगी। परन्तु यह जो बकुश निर्ग्रंथ है, सो तो पावसऋतु बिना अन्य ऋतुओं में भी क्षार जल से वस्त्रादिक धो लेता है। तथा बकुश निर्ग्रंथ, सुंदर, सुकुमाल वस्त्र भी वांछता है, और विभूषा-शोभा के वास्ते पहरता है।

तह पत्तदंडयाई, घट्ठं मट्ठं सिणेहकयतेयं ।
धारेइ विभूसाए, बहुं च पत्थेई उवगरणं ॥

[पं०नि० गा०, १५]

अर्थः—तथा वह पात्र, दंड आदि को घोटे से घोट के सुकुमार बना कर, और घी, तेल आदि से चोपड़ के तेजवंत-चमकदार करके रखता है, अरु विभूषा के वास्ते बहुत उपकरण रखने चाहना पत्नावना रखता है।

अब शरीर बकुश का स्वरूप लिखते हैं:—

देहवउसो अकज्जे, करचरणनहाइयं विभूसेइ ।
दुविहोऽवि इमो इड्ढिं, इच्छइ परिवारपभिईयं ॥

[पं० नि०, गा० १५]

अर्थः—देहबकुश, विना कारण हाथ, पग, नखादिक को विभूषा करता है, जलादि से धोता है। इस प्रकार उपकरण बकुश और शरीर बकुश ये दोनों निर्ग्रंथ परिवार आदि की वृद्धि चाहते हैं।

पंडिच्चतवाइ कयं, जसं च इच्छेइ तंमि तुस्सइ य ।
सुहसीलो न य बाढं, जयइ अहोरत्त किरियासु ॥

[पं० नि०, गा० १७]

अर्थः—पंडितपने करी तथा तप आदि करके यश की

इच्छा करे है । तिस यश के होने से बहुत खुशी माने है। सुखशीलिया होवे है, और दिन रात्रि की क्रिया सामाचारी में बहुत उद्यमी भी नहीं होवे है।

परिवारो य असंजम, अविवित्तो होइ किंचि एयस्स ।
घंसियपाओ तिल्लाइमसिणिओ कत्तरियकेसो ॥

[पं० नि०, गा० १८]

अर्थः—इस का जो परिवार होवे, सो असंयमी—असंयम वाला होवे है, वस्त्र पात्रादिक के मोह से वस्त्र पात्रादिक से दूर न जावे, पग को झांवें आदिक से रगड़ कर तैलादिक चोपड़ के सुकुमार करे और शिर, दाढ़ी, मूंछ के बाल कतरणी से कतरे एतावता लोच की जगे उस्तरे, वा कतरणी से बाल दूर करे है।

तह देससव्वछेयारिहेहिं सबलेहिं संजुओ बउसो ।
मोहक्खयत्थमब्भुट्ठिओ सुत्तंमि भणियं च ॥

[पं० नि०, गा० १९]

अर्थः—देशच्छेद तथा सर्वच्छेद के योग्य दोषों करी जिस का चारित्र कर्बुर है [अर्थात् उक्त दोषों से युक्त है] परन्तु मन में उस के मोहक्षय करने की इच्छा है, एतावता मन में संयम पालने में उत्साह है, परन्तु पूर्ण संयम पाल नहीं सकता। उस को बकुश निर्ग्रन्थ कहिये। और सूत्र में जो कहा है, सो लिखते हैं:—

उवगरणदेहचुक्खा, रिद्धीजसगारवासिया निच्चं ।
बहुसबलछेयेजुत्ता, निग्गंथा बाउसा भणिया ॥
आभोगे जाणंतो, करेइ दोसं अजाणमणभोगे ।
मूलुत्तरेहिं संवुड, विवरीय असंवुडो होइ ॥
अच्छिमुहमज्जमाणो, होइ अहासुहुमओ तहा बउसो ।
[पं० नि०, गा० २०—२२]

अर्थः—उपकरण, देह शुद्ध रक्खे, ऋद्धि, यश, साता, इन तीनों गारव के नित्य आश्रित होवे, उपकरणों से अविविक्त रहे, जिस का परिवार छेद योग्य शबल चारित्र संयुक्त हो उस को बकुश निर्ग्रंथ कहते हैं । साधुओं के यह काम करने योग्य नहीं, ऐसे जानता हुआ भी जो उस काम को करता है, सो आभोग बकुश अरु जो अनजानपने से करे, सो अनाभोग बकुश, मूलोत्तर गुणों में जो गुप्त दोष लगावे सो संवृत बकुश, अरु जो प्रगट रूप से दोष लगावे, सो असंवृत बकुश, तथा जो बिना प्रयोजन तथा बिना मल के आंख, मुखादि को धोता रहे सो सूक्ष्म बकुश कहलाता है ।

अथ कुशील निर्ग्रंथ का स्वरूप लिखते हैं :—

सीलं चरणं तं जस्स, कुच्छियं सो इह कुसीलो ॥
पडिसेवणा कसाए, दुहा कुसीलो दुहावि पंचविहो ।
नाणे दंसण चरणे, तवे य अह सुहुमए चेव ॥

इह नाणाइकुसीलो, उवजीवं होइ नाणपभिईए।
अहसुहुमो पुण तुस्सइ, एस तवस्सि त्ति संसाए ॥

[पं० नि०, गा० २२—२४]

कुशील निर्ग्रंथ का स्वरूप

अर्थः—शील—चारित्र जिस का कुत्सित है, सो कुशील निर्ग्रंथ। इस के दो भेद हैं। एक प्रतिसेवनाकुशील, दूसरा कषायकुशील। प्रतिसेवना—विपरीत आराधना करके जिस का शील कुत्सित हो सो प्रतिसेवनाकुशील, और संज्वलन रूप कषायों से जिस का शील कुत्सित हो सो कषायकुशील है। इन दोनों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और यथासूक्ष्म, ये पांच भेद हैं। यहां ज्ञानादिप्रतिसेवनाकुशील वो है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अरु तप, इन चारों को आजीविका के वास्ते करे। तथा यह तपस्वी है, इत्यादि प्रशंसा को सुन के जो बहुत खुशी होवे, सो पांचमां यथासूक्ष्मप्रतिसेवनाकुशील जानना। तथा जो ज्ञान, दर्शन, अरु तप का संज्वलन कषाय के उदय से अपने २ विषय में उपयोग करे, सो ज्ञानादि कषायकुशील जानना। जो चारित्र कुशील है,सो कषाय के वश हो करके शाप दे देता है। मन करके जो क्रोधादि को सेवे, सो यथासूक्ष्मकषायकुशील है। अथवा कषायों करके जो ज्ञानादिकों को विराधे, सो ज्ञानादिककुशील

जानना। कोई एक आचार्य, तपकुशील के स्थान में लिंगकुशील कहते हैं। यह छ प्रकार के निर्ग्रंथ पांचवें आरे के अन्त तक रहेंगे।

इति श्री तपागछीयमुनि श्री बुद्धिविजय शिष्य मुनि आनन्दविजय-आत्मारामविरचते जैनतत्त्वादर्शे तृतीयः परिच्छेदः संपूर्णः



चतुर्थ परिच्छेद

अब चतुर्थ परिच्छेद में कुगुरु तत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥
[यो० शा०, प्र० २ श्लो० ६]

कुगुरु का स्वरूप

अर्थः—"सर्वाभिलाषिणः"—स्त्री, धन, धान्य, हिरण्य-सोना रूपादि सर्व धातु तथा क्षेत्र, वास्तु-हाट हवेली, चतुष्पदादिक अनेक प्रकार के पशु, इन सर्व की अभिलाषा करने का शील है जिसका, सो सर्वाभिलाषी। "सर्वभोजिनः"—मद्य, मांसादिक बावीस अभक्ष्य, तथा बत्तीस अनंतकाय, तथा अपर जो अनुचित आहारादिक, इन सर्व का भोजन करने का शील है जिस का सो सर्वभोजी। "सपरिग्रहाः"—जो पुत्र, कलत्र, बेटा, बेटी प्रमुख करी युक्त होवे,सो सपरिग्रह,इसी वास्ते अब्रह्मचारी है। जो अब्रह्मचारी होता हैं, तिस में महा दोष होते हैं। इस वास्ते अब्रह्मचारी ऐसा न्यारा उपन्यास करा है। अथ अगुरुपने का असाधारण कारण कहते हैं। "मिथ्योपदेशाः"—मिथ्या-वितथ-अयथार्थ धर्म का उपदेश है जिनका सो अगुरु है। जे कर इहां कोई ऐसी तर्क करे, कि जो धर्मोपदेश का दाता है, सो गुरु है, तो

फिर निष्परिग्रहादि गुणों का काहेको अन्वेषण करना ? इस शंका के दूर करने वास्ते दूसरा श्लोक फिर कहते हैं:—

परिग्रहारंभमग्ना-स्तारयेयुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न पर-मीश्वरीकर्तुमीश्वरः ॥
[यो० शा०, प्र० २ श्लो० १०]

अर्थः—परिग्रह-स्त्री आदि, आरंभ-जीवों की हिंसा, इन दोनों वस्तुओं में जो मग्न हैं, अर्थात् भव समुद्र में डूबे हुए हैं, वो किस तरे से दूसरे जीवों को संसार सागर से तार सकते हैं। इस बात में दृष्टांत कहते हैं, कि जो पुरुष आप ही दरिद्री है, वो दूसरों को क्योंकर धनाढ्य कर सकता है।

अब प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध में आए हुए 'मिथ्योपदेशा गुरवोनतु' इन पदोंका विस्तार लिखते हैं:-कुगुरु जो हैं, उनका उपदेश इस प्रकार से मिथ्या है। इस मिथ्या उपदेश के स्वरूप में प्रथम तीन सौ त्रेसठ मत का स्वरूप लिखते हैं। उन में से एक सौ अस्सी मत तो क्रिया वादी के हैं, चौरासी मत अक्रियावादी के हैं, सतसठ मत अज्ञानवादी के हैं, अरु बत्तीस मत विनयवादी के हैं*। ए पूर्वोक्त सर्व मत एकत्र करने से तीन सौ त्रेसठ होते हैं।

* असीइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीती ।
अण्णाणि य सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥
[आ० नि०, हारि० टी०, अधि० ६ में उद्धृत]

तिन में जो क्रियावादी हैं सो ऐसे कहते हैं—कर्त्ता के विना पुण्यबंधादिलक्षण क्रिया नहीं होती है। तिस वास्ते क्रिया जो है, सो आत्मा के साथ * समवाय संबंध वाली है। यह जो क्रियावादी हैं, सो आत्मादिक नव पदार्थों को एकांत अस्तिस्वरूप से मानते हैं। तिस क्रियावादी के एक सौ अस्सी मत इस उपाय करके जान लेने। १. जीव, २. अजीव, ३. आश्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा, ७. पुण्य, ८. अपुण्य ९. मोक्ष, यह नव पदार्थ अनुक्रम करके पट्टी पत्रादिक में लिखने, जीव पदार्थ के हेठ (नीचे) स्वतः अरु परतः यह दो भेद स्थापन करने, इन स्वतः परतः के हेठ न्यारे न्यारे नित्य अरु अनित्य यह दो भेद स्थापन करने अरु नित्य अनित्य इन दोनों के हेठ न्यारे न्यारे १. काल, २. ईश्वर, ३. आत्मा, ४. नियति, ५. स्वभाव, यह पांच स्थापन करने, और पीछे से विकल्प कर लेने। यन्त्र स्थापना इस तरे है—

क्रियावादी के १८० मत

जीव

स्वतः		परतः	
नित्य	अनित्य	नित्य	अनित्य
१. काल	१. काल	१. काल	१. काल
२. ईश्वर	२. ईश्वर	२. ईश्वर	२. ईश्वर
३. आत्मा	३. आत्मा	३. आत्मा	३. आत्मा
४. नियति	४. नियति	४. नियति	४. नियति
५. स्वभाव	५. स्वभाव	५. स्वभाव	५. स्वभाव

* नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय है।

अब विकल्प करने की रीति कहते हैं—"अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः"। इस विकल्प का यह अर्थ है, कि यह आत्मा निश्चय से अपने रूप करके नित्य है, परन्तु काल से उत्पन्न हुई है। * कालवादी के मत में यह विकल्प है।

कालवादी का मत

कालवादी उस को कहते हैं, कि जो काल ही से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति अरु प्रलय मानते हैं। वे कहते हैं कि चंपक, अशोक, सहकार, निंब, जंबू, कदंबादि वनस्पति फूलों का लगना, फल का पकना आदि तथा हिमकरण संयुक्त शीत का पड़ना, तथा नक्षत्रों का घूमना, गर्भ का धारण करना, वर्षा का होना—यह सब काल के बिना नहीं होते हैं। एवं षड् ऋतुओं का विभाग, तथा बाल, कुमार, यौवन, और वृद्धादिक अवस्था विशेष, काल के बिना नहीं हो सकती हैं। जो जो प्रतिनियत कालविभागआदि हैं, तिन सब का काल ही नियंता है। जेकर कालको नियंता न मानिये, तो किसी वस्तु की भी ठीक व्यवस्था नहीं होवेगी। क्योंकि जैसे कोई पुरुष मूंग रांधता है, सो भी काल के विना नहीं रांधे जाते हैं। नहीं तो हांडी इंधनादि सामग्री के संयोग से प्रथम समय ही में मूंग रंध जाते। तिस वास्ते जो कुछ करता है, सो काल ही करता है। तथा—

* कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव जगत्सर्व मन्यन्ते।
[षड्० स० श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

न कालव्यतिरेकेण, गर्भबालशुभादिकं ।
यत्किंचिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥
किंच कालादृतेनैव, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
स्थाल्यादिसन्निधानेऽपि, ततःकालादसौ मता ॥
कालाभावे च गर्भादि–सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेष्टहेतुसद्भाव–मात्रादेव तदुद्भवात् ॥
कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥

[शा० स० स्त० २, श्लो० ५३, ५५, ५६, ५४]

इन श्लोकों का कुछ भावार्थ तो ऊपर लिख आये हैं, बाकी अब लिखते हैं:—परेष्ट हेतु के सद्भाव मात्र से गर्भादि कार्य हो जाता है, एतावता दूसरों ने जो मान्या है, कि स्त्री पुरुष के संयोगमात्र हेतु से गर्भ की उत्पत्ति होती है। तब एक वर्ष के स्त्री पुरुष के संयोग से क्यों नहीं हो जाती है? इस वास्ते काल ही गर्भ की उत्पत्ति का हेतु है, इसी के प्रभाव से स्त्री को गर्भ होता है । तथा काल ही पकाता है, अर्थात् पृथिवी आदिक भूतों को परिणामांतर को पहुंचाता है । तथा "कालः संहरते प्रजाः"—†काल ही पूर्व

† अर्थात् काल ही जीवों का नाश करता है ।

पर्याय से पर्यायांतर में लोकों को स्थापन करता है। तथा "कालः सुप्तेषु जागर्त्ति"—काल ही दूसरों के सोने के समय जागृत रहता है। तिस वास्ते प्रगट है कि काल दुरतिक्रम है-काल को दूर करने में कोई भी समर्थ नहीं है, यह कालवादी का विकल्प है।

अब ईश्वरवादी के विकल्प को कहते हैं, यथा-'अस्ति जीवः स्वतो नित्यः ईश्वरतः'—जीव अपने स्वरूप करके नित्य है, परन्तु ईश्वर उत्पन्न करता है। क्योंकि ईश्वरवादी सर्व जगत् ईश्वर ही का किया हुआ मानते हैं। ईश्वर उस को कहते हैं, कि जिस के ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य, ए चारों स्वतः सिद्ध होवें, अरु जीवोंको स्वर्ग, मोक्ष, नरकादिक के जाने में जो प्रेरक होवे। तदुक्तम्:—

ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः।
ऐश्वर्यं चैव धर्म्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥
अज्ञो जंतुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छे-त्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च ॥

तीसरा विकल्प आत्मवादियों का है। आत्मवादी उन को कहते हैं, कि जो "पुरुष एवेदं सर्व मित्यादि"—जो कुछ दीखता है, सो सर्व पुरुष ही है, ऐसे मानते हैं।

चौथा विकल्प नियतिवादियों का है। नियतिवादी ऐसे कहते हैं, कि नियति एक तत्त्वान्तर है, जिस की सामर्थ्य से सर्व पदार्थ अपने अपने स्वरूप करके वैसे वैसे ही होते हैं, अन्यथा नहीं होते हैं—एतावता जो पदार्थ जिस काल में जिस करके होता है, सो पदार्थ तिस काल में तिस करके नियत रूप से ही होता दीखता है, अन्यथा नहीं। जेकर ऐसा न मानें तो कार्यकारणभाव की व्यवस्था कदापि न होवेगी। तिस वास्ते कार्य की नियतता से प्रतीत होने वाली जो नियति है, तिस को कौन प्रमाण पंथ का कुशल पुरुष है, जो बाध सकता है ? जे कर नियति बाधित हो जावेगी, तो और जगे भी प्रमाण मिथ्या हो जावेंगे। तथा चोक्तम्:—

नियतिवादी का मत

नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवंति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः॥
यद्यदेव यतो यावत्, तत्तदेव ततस्तथा॥
नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः॥

[शा० स०, स्त० २ श्लो० ६१, ६२]

इन दोनों श्लोकों का अर्थ उपर लिख दिया है।

पांचमा विकल्प, स्वभाववादियों का है। वो स्वभाव-

स्वभाववादी का मत

वादी ऐसे कहते हैं । कि इस संसार में सर्व पदार्थ स्वभाव से उत्पन्न होते हैं । सो कहते हैं, कि माटी से घट होता है, परन्तु वस्त्रमे नहीं होता है, अरु तन्तुओं से वस्त्र होता है, परन्तु घटादिक नहीं होता है । यह जो मर्यादासंयुक्त होना है, सो स्वभाव विना कदापि नहीं हो सकता है । तिस वास्ते यह जो कुछ होता है, सो सर्व स्वभाव से ही होता है । तथा अन्यकार्य तो दूर रहा, परन्तु यह जो मूंगों का रन्ध जाना है, सो भी स्वभाव विना नहीं होता है। तथाहि-हांडि, इन्धन, कालादि सामग्री का संभव भी है, तो भी कोकडु-कठिन मूंग नहीं रन्धते हैं । तिस वास्ते जो जिस के होनेपर होवे, अरु जिसके न होनेपर जो न होवे, सो सो अन्वय व्यतिरेक करके तिस का कर्त्ता है । इस वास्ते स्वभाव ही से मूंग का रन्धना मानना चाहिये । इस वास्ते स्वभाव ही सर्व वस्तु का हेतु है ।

यह पांच विकल्प, 'स्वतः' इस पद करके होते हैं । ऐसे ही पांच, 'परतः' इस पद करके उपलब्ध होते हैं । परतः शब्द का अर्थ तो ऐसा है, कि पर पदार्थों से व्यावृत्त रूप करके यह आत्मा निश्चय से है । ऐसे 'नित्य' पद करके दश विकल्प हुए हैं । ऐसे ही 'अनित्य' पद करके भी दश विकल्प होते हैं । सर्व विकल्प एकठे करने से वीस होते हैं । यह वीस विकल्प जीव पदार्थ करके होते हैं, ऐसे ही

अजीवादिक पदार्थों के साथ न्यारे न्यारे वीस विकल्प जान लेने। तब वीस को नव से गुणाकार करने पर एक सौ अस्सी मत क्रियावादी के होते हैं।

अक्रियावादी के ८४ मत

अथ अक्रियावादी के चौरासी मत लिखते हैं। अक्रियावादी कहते हैं, कि क्रिया–पुण्यपापरूपादि नहीं है। क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है। परन्तु स्थिर पदार्थ तो जगत् में कोई भी नहीं है, क्योंकि उत्पत्त्यनंतर ही पदार्थ का विनाश हो जाता है। ऐसे जो कहते हैं, सो अक्रियावादी *। तथा चाहुरेकेः—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया।
भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते॥

[षड्० स० श्लो० १ बृहद्वृत्ति]

अर्थः—सर्व संस्कार—पदार्थ क्षणिक हैं, इस वास्ते अस्थिर पदार्थों को पुण्यपापादि क्रिया कहां से होवे ? पदार्थों का जो होना है, सोई क्रिया है, सोई कारक है, इस वास्ते पुण्यपापादि क्रिया नहीं है। यह जो अक्रियावादी हैं, सो

* न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिन आत्मादि-नास्तित्ववादिन इत्यर्थः। [षड्० स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

आत्मा को नहीं मानते हैं। तिनके चौरासी मत जानने का यह उपाय है—जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, यह सात पदार्थ पत्रादि पर लिखने; पीछे इन जीवादि सातों पदार्थों के हेठ न्यारे न्यारे स्व अरु पर, यह दो विकल्प लिखने, फिर इन दोनों के हेठ न्यारे न्यारे काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव, यदृच्छा, यह छे लिखने। इहां नित्यानित्य यह दो विकल्प इस वास्ते नहीं लिखे हैं, कि जब आत्मादि पदार्थ ही नहीं हैं, तो फिर नित्य अनित्य का संभव कैसे होवे ? तथा जो यह यदृच्छावादी हैं, सो सर्व नास्तिक अक्रियावादी हैं। इस वास्ते क्रियावादी यदृच्छावादी नहीं हैं। इस वास्ते क्रिया वादी के मत में 'यदृच्छा' पद नहीं ग्रहण किया है। इस मत के चौरासी भेद इसी रीति से जानना। विकल्प इस तरे है—"नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विकल्पः" जीव अपने स्वरूप करके काल से नहीं है, यह एक विकल्प। ऐसे ही ईश्वरादि से लेकर यदृच्छा पर्यंत सर्व छः विकल्प हुए। इन का अर्थ पूर्ववत् जानना, परन्तु इतना विशेष है, जो यहां यदृच्छावादी अधिक है।

प्रश्नः—यदृच्छावादियों का क्या मत है ?

उत्तरः—जो पदार्थों का संतान की अपेक्षा नियत कार्यकारणभाव नहीं मानते, किन्तु 'यदृच्छया' जो कुछ होता है, सो सर्व यदृच्छा से होता है, ऐसा मानते हैं, सो यदृच्छावादी हैं। वो ऐसे कहते हैं, कि नियम करके पदार्थों

का आपस में कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि कार्यकारण-भाव प्रमाण से ग्रहण नहीं करा जाता है। तथाहि—मृतक मेंडक से भी मेंडक उत्पन्न होता है, अरु गोबर से भी मेंडक उत्पन्न होता है। अग्नि से भी अग्नि उत्पन्न होती है, अरु अरणि के काष्ठ से भी अग्नि उत्पन्न होती है। धूम से भी धूम उत्पन्न होता है, अरु अग्नि से भी धूम उत्पन्न होता है। कदली के कंद से भी केला उत्पन्न होता है, अरु केले के बीज से भी केला उत्पन्न होता है। बीज से भी वटवृक्ष उत्पन्न होता है, अरु वट वृक्ष की शाखा से भी वटवृक्ष उत्पन्न होता है। इस वास्ते प्रतिनियत कार्यकारणभाव किसी जगे भी नहीं देखने में आता है। इस वास्ते यदृच्छा करके किसी जगे कुछ होता है, ऐसे मानना चाहिये। क्योंकि जब यह जान लिया कि जो कुछ होता है, सो यदृच्छा से होता है, तो फिर काहे को बुद्धिमान् कार्यकारणभाव को माने, और आत्मा को क्लेश देवे। यह जैसे 'नास्ति स्वतः' के साथ छः विकल्प करे हैं, ऐसे ही 'नास्ति परतः' के साथ भी छः विकल्प होते हैं। यह जब सर्व विकल्प मिलायें, तब बारां विकल्प होते हैं। इन बारां को जीवादिक सात पदार्थों करके सात गुणा करने पर चौरासी भेद अक्रियावादी के होते हैं।

अब तीसरा अज्ञानवादी का भेद कहते हैं—भूंडा ज्ञान है जिसका सो अज्ञानवादी जानना, अथवा अज्ञान करके जो प्रवर्त्तें, सो अज्ञानिक-

अज्ञानवादी का मत

अज्ञानवादी*। वे ऐसे कहते हैं, कि ज्ञान अच्छी वस्तु नहीं है। क्योंकि ज्ञान जब होवेगा, तब परस्पर विवाद होगा; जब विवाद होगा तब चित्त मलिन होगा; जब चित्त मलिन होगा, तब संसार की वृद्धि होगी। जैसे किसी पुरुष ने कोई वस्तु (बात) उलटी कही, तब तिस को सुन कर जो ज्ञानी अपने ज्ञान के अभिमान से उस पुरुष के ऊपर बहुत मलिन चित्त करके (क्रुद्ध हो कर) उस के साथ विवाद करने लगा, विवाद करते हुए चित्त अत्यन्त मलिन हुआ अरु अहंकार बढ़ा, उस अहंकार और चित्त की मलिनता से महा पाप कर्म उत्पन्न हुआ, तिस पाप से दीर्घतर संसार की वृद्धि हुई। इस वास्ते ज्ञान अच्छी वस्तु नहीं है। अरु जब अपने को अज्ञानी मानिये, तब तो अहंकार का संभव नहीं होता है, अरु दूसरों के ऊपर चित्त का मलिनपन भी नहीं होता है। तिस वास्ते कर्म का बन्ध भी नहीं होता है। तथा जो कार्य विचार कर किया जाता है, तिस में महा कर्म का बन्ध होता है, और उस का फल भी महा भयानक होता है। इस वास्ते उस का फल अवश्यमेव भोगने में आता है। परन्तु जो काम मनोव्यापार के बिना किया जाता है, तिस का फल भयानक नहीं होता, अरु अवश्यमेव भोगने में भी नहीं आता है। जो उस काम में किंचित् कर्म बन्ध होता है, सो

* कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्तीत्यज्ञानिकाः, अथवाऽज्ञानेन चरन्तीत्यज्ञानिकाः। [षड० स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

भी चूने की भीत के ऊपर बालु-रेत की मुष्टि के सम्बन्धवत् स्पर्शमात्र है; परन्तु बन्ध नहीं होता है। इस वास्ते अज्ञान ही मोक्षगामी पुरुषों को अंगीकार करना श्रेय है; परन्तु ज्ञान अंगीकार करना श्रेय नहीं है। अज्ञानवादी कहते हैं, कि जेकर ज्ञानका निश्चय करने में सामर्थ्य होवे, तो हम ज्ञान को मान भी लेवें। प्रथम तो ज्ञान सिद्ध ही नहीं हो सकता है, क्योंकि जितने मतावलंबी पुरुष हैं, सो सर्व परस्पर भिन्न ही ज्ञान अंगीकार करते हैं, इस वास्ते क्यों कर यह निश्चय हो सके, कि इस मत का ज्ञान सम्यग है, अरु इस मत का ज्ञान सम्यग् नहीं है। जेकर कहोगे कि सकल वस्तु के समूह को साक्षात् करने वाले ज्ञान से युक्त जो भगवान् है, तिस के उपदेश से जो ज्ञान होवे सो सम्यग् ज्ञान है। अरु जो इस के बिना दूसरे मत हैं, उस का ज्ञान सम्यग् नहीं है। क्योंकि उन के मत में जो ज्ञान है, सो सर्वज्ञ का कथन किया हुआ नहीं है।

अज्ञानवादी कहते हैं कि यह तुमारा कहना तो सत्य है, किंतु सकल वस्तु के समूह का साक्षात् करने वाला ज्ञानी, क्या सुगत, विष्णु, ब्रह्मादिक को हम मानें ? किंवा भगवान् महावीर स्वामी को ? फिर भी वोही संशय रहा, निश्चय न हुआ, कि कौन सर्वज्ञ है ? जेकर कहोगे कि जिस भगवान् के पादारविंद युगल को इन्द्रादि सर्व देवता, परस्पर अहं पूर्वक (मैं पहिले कि मैं पहिले) विशिष्ट विशिष्टतर विभूति

द्युति करके संयुक्त सैंकड़ों विमानों में बैठ करके, सकल आकाश मंडल को आच्छादित करते हुए पृथिवी में उतर करके पूजते भये, सो भगवान् वर्द्धमान स्वामी सर्वज्ञ है। परन्तु सुगत, शंकर, विष्णु, ब्रह्मादिक नहीं; क्योंकि सुगतादिक सर्व अल्प बुद्धि वाले मनुष्य हुये हैं, इस वास्ते वो देव नहीं हैं। जेकर सुगतादिक भी सर्वज्ञ होते, तो तिन की भी इन्द्रादि देवता पूजा करते। परन्तु किसी भी देवता ने पूजा नहीं करी। इस वास्ते सुगतादिक सर्वज्ञ नहीं हुये हैं। हे जैन! यह जो तुमने बात कही है, सो अपने मन के राग के कारण कही है। परन्तु इस बात से इष्टसिद्धि नहीं होती है। क्योंकि वर्द्धमान स्वामी की इन्द्रादि देवता, देवलोक से आकर के पूजा करते थे, यह तुमारा कहना हम क्योंकर सचा मान लेवें? भगवान् श्री महावीर को तो हुये बहुत काल होगया है, अरु उन के सर्वज्ञ होने में कोई भी साधक प्रमाण नहीं है? जेकर कहोगे कि संप्रदाय से एतावता महावीर के शासन से महावीर सर्वज्ञ सिद्ध होता है, तो इसमें यह तर्क होगी कि यह जो तुमारी संप्रदाय है, सो कौन जाने कि किसी धूर्त्त की चलाई हुई है? वा किसी सत्पुरुष की चलाई हुई है? इस बात के सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। अरु विना प्रमाण के हम मान लेवें, तो हम प्रेक्षावान् काहेके? तथा मायावान् पुरुष आप सर्वज्ञ नहीं भी होते तो भी अपने आप को जगत् में सर्वज्ञ रूप

से प्रगट कर देते हैं। इंद्रजाल के २७ पीठ हैं, जिन में से कितनेक पीठों के पाठक अपने आपको तीर्थंकर के रूप में अरु पूजा करते हुए इन्द्र, देवता, बना सकते हैं। तो फिर देवताओं का आगमन अरु पूजा देखने से सर्वज्ञपन क्योंकर सिद्ध होवे, जो हम श्रीमहावीर जी को सर्वज्ञ मान लेवें। तुमारे मत का स्तुतिकार आचार्य समंतभद्र भी कहता है।

देवागमनभोयान–चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥
[आ० मी०, श्लो० १]

इस श्लोक का भावार्थः—देवताओं का आगमन, आकाश में चलना, छत्र चामरादिक की विभूति, यह सर्व आडंबर, इंद्रजालियों में भी हो सकता है। इस हेतु से तो हे भगवन् ! तू हमारा महान्–स्तुति करने योग्य नहीं हो सकता है। तथा हे जैन ! तेरे कहने से महावीर ही सर्वज्ञ होवे, तो भी यह जो आचारांगादिक शास्त्र हैं, सो महावीर सर्वज्ञ हो के कथन करे हुए हैं, यह क्योंकर जाना जाये ? क्या जाने किसी धूर्त ने रच करके महावीर का नाम रख दिया होवेगा ? क्योंकि यह बात इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है; अरु अतींद्रिय ज्ञान की सिद्धि में कोई भी प्रमाण नहीं है।

भला कदी यह भी होवे, कि जो आचारांगादिक शास्त्र

हैं, सो महावीर सर्वज्ञ ही के कहे हुए हैं। तो भी श्रीमहावीर जी के कहे हुए शास्त्र का यही अभिप्राय—अर्थ है, और अर्थ नहीं, यह क्योंकर जाना जाय ? क्योंकि शब्दों के अनेक अर्थ हैं, सो इस जगत् में प्रगट सुनने में आते हैं। क्या जाने इन ही अक्षरों करके श्री महावीर स्वामी जी ने कोई अन्य ही अर्थ कहा होवे, परन्तु तुमारी समझ में उन ही अक्षरों करके कछु और अर्थ भासन होता होवे। फिर निश्चय क्योंकर होवे, कि इन अक्षरों का यही अर्थ भगवान् ने कहा है। जेकर तुम ने यह मान रक्खा होवे, कि भगवान् के समय में गौतमादिक मुनि थे, उन्होंने भगवान् के मुखार-विन्द से साक्षात् जो अर्थ सुना था, सोई अर्थ आज तांई परंपरा से चला आता है। इस वास्ते आचारांगादिक शास्त्रों का यही अर्थ है, अन्य नहीं। यह भी तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि गौतमादिक भी छद्मस्थ थे, अरु छद्मस्थ को दूसरे की चित्तवृत्ति का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि दूसरे की चित्तवृत्ति तो अतींद्रिय ज्ञान का विषय है। छद्मस्थ तो इन्द्रिय द्वारा जान सकता है। इन्द्रियज्ञानी सर्वज्ञ के अभि-प्राय को क्योंकर जान सके, कि सर्वज्ञ का यही अभिप्राय है, इस अभिप्राय से सर्वज्ञ ने यह शब्द कहा है। इस वास्ते भगवान् का अभिप्राय तो गौतमादिक नहीं जान सकते हैं। केवल जो वर्णावली भगवान् कहते भये, सोई वर्णावली भगवान के अनुयायी गौतमादिक उच्चारण करते आये।

परन्तु भगवान् का अभिप्राय किसी ने नहीं जाना। जैसे आर्यदेशोत्पन्न पुरुष के शब्द उच्चारण से म्लेच्छ भी वैसा शब्द उच्चार सकता है; परन्तु तात्पर्य कुछ नहीं जानता। ऐसे ही महावीर के शब्द के अनुवादक गौतमादिक हैं, परन्तु महावीर का अभिप्राय नहीं जानते। इस वास्ते सम्यग् ज्ञान किसी मत में भी सिद्ध नहीं होता है। एक तो, ज्ञान होने से पुरुष अभिमान से बहुत कर्म बांध कर दीर्घ संसारी हो जाता है, दूसरे, सम्यग् ज्ञान किसी मत में है नहीं, इस वास्ते अज्ञान ही श्रेय है।

सो अज्ञानी सतसठ प्रकार के हैं। तिन के जानने का यह उपाय है, कि जीवादिक नव पदार्थ किसी पट्टादिक (पट्टी आदि) में लिखने, अरु दशमे स्थान में उत्पत्ति लिखनी। तिन जीवादि नव पदार्थों के हेठ न्यारे न्यारे सत्त्वादिक सात पद स्थापन करने, सो यह हैं:—१. सत्त्व, २. असत्त्व, ३. सद्-सत्त्व, ४. अवाच्यत्त्व, ५. सद्वाच्यत्व, ६. असद्वाच्यत्त्व, ७. सद्सद्वाच्यत्व। १. सत्त्व—स्वरूप करके विद्यमान पना, २. असत्त्व—पररूप करके अविद्यमान पना, ३. सद्सत्त्व—स्वरूप से विद्यमानपना और पररूप करके अविद्यमान पना। यद्यपि सर्व वस्तु स्वपररूप करके सर्वदा ही स्वभाव से सद्सत् स्वरूप वाली है, तो भी उस की किसी जगे कदाचित् कुछ अद्भुत रूप करके विवक्षा की जाती है। तिस हेतु से यह तीन विकल्प होते हैं, तथा ४. अवाच्यत्व—सोई सत्त्व, असत्त्व

को जब युगपत् एक शब्द करके कहना होवे, तदा तिसका वाचक कोई भी शब्द नहीं है, इस वास्ते अवाच्यत्व। यह चारों विकल्प सकला देश रूप हैं, क्योंकि सकल वस्तु को विषय करते हैं। ५. सद्वाच्यत्व—यदा एक भाग में सत्, दूसरे भाग में अवाच्य, ऐसी युगपत् विवक्षा करें, तदा सद्वाच्यत्व, ६. असद्वाच्यत्व—यदा एक भाग में असत्, दूसरे भाग में अवाच्य, तदा असद्वाच्यत्व, ७. सदसद्वाच्यत्व—यदा एक भाग में सत्, दूसरे भाग में असत्, तीसरे भाग में अवाच्य ऐसी युगपत् कल्पना करें, तदा सदसद्वाच्यत्व। इन सातों विकल्पों से अन्य विकल्प कोई भी नहीं है। जेकर कोई कर भी लेवे, तो इन सातों ही में अन्तर्भूत हो जायेंगे। परन्तु सातों से अधिक विकल्प कदापि न होवेंगे। यह जो सात विकल्प कहे हैं, इन सातों को नव गुणा करें, तब त्रेसठ होते हैं। अरु उत्पत्ति के चार विकल्प आदि के ही होते हैं। सत्त्वादि चार विकल्प त्रेसठ में प्रक्षेप करें (मिलावें), तब सतसठ मत अज्ञानवादी के होते हैं। अब इन सातों विकल्पों का अर्थ लिखते हैं। कौन जानता है कि जीव सत् है? कोई भी नहीं जानता है। क्योंकि इसका ग्रहण करने वाला प्रमाण कोई भी नहीं है। जेकर कोई जान भी लेवेगा कि जीव सत् है, तो कौन से पुरुषार्थ की सिद्धि हो गई। क्योंकि जब ज्ञान हो जावेगा तब अभिनिवेश, अभिमान, मलिन चित्त लोकों से विवाद, झगड़ा,

बढ़ जावेगा, तब तो ज्ञानवान् बहुत कर्म बन्ध करके दीर्घतर संसारी हो जावेगा। ऐसे ही असत् आदिक शेष विकल्पों का भी अर्थ जान लेना।

विनयवादी का मत

विनय करके जो प्रवर्त्ते, सो *वैनयिक। इन विनयवादियों के लिंग अरु शास्त्र नहीं होता है, केवल विनय ही से मोक्ष मानते हैं, तिन विनयवादियों के बत्तीस मत हैं, सो इस तरे से हैं:—१. सुर, २. राजा, ३. यति, ४. ज्ञाति, ५. स्थविर, ६. अधम, ७. माता, ८. पिता, इन आठों की मन करके, वचन करके, काया करके, अरु देशकाल उचित दान देने से विनय करे। इन चारों से आठ को गुणा करने पर बत्तीस होते हैं।

ए सब मिल कर तीन सौ त्रेसठ मत हुये। ए सर्व मतधारी तथा इन मतों के प्ररूपणे वाले सर्व कुगुरु हैं, क्योंकि यह सर्व मत मिथ्यादृष्टियों के हैं। यह सब एकांतवादी हैं, अर्थात् स्याद्वादरूप अमृत के स्वाद से रहित हैं। इन का जो अभिमत तत्त्व है, सो प्रमाण करके बाधित है, इन के मतों को पूर्वाचार्योंने अनेक युक्तियों से खंडन करा है। सो भव्य जीवों के जानने वास्ते पूर्वाचार्यों की युक्तियां किंचित् मात्र नीचे लिखते हैं।

* विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः। [षड्०स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

प्रथम जो कालवादी कहते हैं, कि सर्व वस्तु का काल ही कर्त्ता है, तिस का खंडन लिखते हैं। हे काल-

कालवाद का खंडन

वादी! यह जो काल है सो क्या एकस्वभाव, नित्य, व्यापी है? किंवा समयादिक रूप करके परिणामी है? जेकर आदि पक्ष मानोगे तो अयुक्त है, क्योंकि ऐसे काल को सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। जैसा आद्य पक्ष में तूने काल माना है, तैसा काल, प्रत्यक्ष प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता है। अरु ऐसे काल का कोई अविनाभावरूप लिंग भी नहीं दीखता, इस वास्ते अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिवादी:—अविनाभावलिंग का अभाव कैसे कहते हो? क्योंकि भरत रामचन्द्रादिकों विषे पूर्वापर व्यवहार दीखता है। सो पूर्वापर व्यवहार का वस्तुरूप मात्र निमित्त नहीं है? जेकर वस्तुरूप मात्र निमित्त होवे, तदा वर्त्तमानकाल में वस्तुरूप के विद्यमान होने से तैसे व्यवहार होना चाहिये। तिस वास्ते जिस करके यह भरत रामादिकों विषे पूर्वापर व्यवहार है, सो काल है। तथाहि पूर्वकालयोगी, पूर्व भरत चक्रवर्त्ती, अपरकालयोगी अपर रामादि।

सिद्धांती:—जेकर भरत रामादिकों विषे पूर्वापर काल के योग से पूर्वापर व्यवहार है, तो कालका पूर्वापर व्यवहार कैसे सिद्ध होगा?

प्रतिवादी:—काल का जो पूर्वापर व्यवहार है, सो

अन्य दूसरे काल के योग से है।

सिद्धान्तीः—जेकर दूसरे काल के योग से प्रथम काल का पूर्वापर व्यवहार है, तब तो दूसरे कालका पूर्वापर व्यवहार तीसरे काल के योग से होगा, ऐसे ही चलते जाएं, तो अनवस्था दूषण का प्रसंग हो जायगा।

प्रतिवादीः—यह दूषण हम को नहीं लगता है, क्योंकि हम तो तिस काल ही के स्वयमेव पूर्वापर विभाग मानते हैं, किसी कालादि के योग से नहीं मानते हैं। तथा चोक्तम:—

पूर्वकालादियोगी यः पूर्वादिव्यपदेशभाक्।
पूर्वापरत्वं तस्यापि, स्वरूपादेव नान्यतः॥

अर्थः—जो पूर्वापर काल के योगी भरत रामादि हैं, सो भरत रामादि पूर्वापर व्यपदेश वाले हैं, अरु कालका जो पूर्वापर विभाग है, सो स्वतः ही है, परन्तु अन्यकालादि के योग से नहीं है।

सिद्धान्तीः—हे कालवादी! यह तुमारा कहना ऐसा है, कि जैसा कंठ लग मदिरा पीने वाले का प्रलाप है। क्योंकि तुमने प्रथम पक्षमें काल को एकांत रूप से एक, नित्य, व्यापी माना है, तो फिर कैसे तिस काल का पूर्वापर व्यवहार होवे?

प्रतिवादीः—सहचारी के संग से एक वस्तु का भी पूर्वापर कल्पनामात्र व्यवहार हो सकता है। जैसे सहचारी भरतादिकों का पूर्वापर व्यवहार है, तैसे ही भरतादि सहचारियों के संग से काल का भी कल्पनामात्र पूर्वापर व्यपदेश होता

है। सहचारियों करके व्यपदेश सर्व तार्किकों के मत में प्रसिद्ध है, यथा—"मंचाः क्रोशंतीति"—मंच शब्द करते हैं* ।

सिद्धान्तीः—यह भी मूर्खों ही का कहना है, क्योंकि इस कहने में इतरेतर दोष का प्रसंग है । सोई कहते हैं, कि सहचारी भरतादिकों को काल के योग से पूर्वापर व्यवहार हुआ अरु कालको पूर्वापर व्यवहार, सहचारी भरतादिकों के योग से हुआ। जब एक सिद्ध नहीं होवेगा, तब दूसरा भी सिद्ध नहीं होगा। उक्तंचः—

‡ एकत्वव्यापितायां हि, पूर्वादित्वं कथं भवेत् ।
सहचारिवशात्तच्चे-दन्योन्याश्रयतागमः ॥
सहचारिणां हि पूर्वत्वं, पूर्वकालसमागमात् ।
कालस्य पूर्वादित्वं च, सहचार्यवियोगतः ॥
प्रागसिद्धावेकस्य, कथमन्यस्य सिद्धिरिति ।

* अर्थात् मंच पर बैठे हुए व्यक्ति बोलते हैं ।

‡ एक, नित्य और व्यापक पदार्थ में पूर्वापर व्यवहार कैसे हो सकता है ? यदि किसी सहचारी के संयोग से उस में पूर्वापर व्यवहार माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग होगा । क्योंकि, सहचारी के पूर्वापर व्यवहार में काल की अपेक्षा रहती है, और काल में पूर्वापर व्यवहार के लिये सहचारी का संयोग अपेक्षित है । जब तक प्रथम एक की सिद्धि न हो जावे, तब तक दूसरे की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

इस वास्ते प्रथम पक्ष श्रेय नहीं है। जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तो वो भी अयुक्त है। क्योंकि समयादिकरूप परिणामी काल विषे काल एक भी है, तो भी विचित्रपना उपलब्ध होता है। तथाहि—एक काल में मूंग पकाते हुए कोई पकता है, कोई नहीं पकता है। तथा समकाल में एक राजा की नौकरी करते हुए एक नौकर को थोड़े ही काल में नौकरी का फल मिल जाता है, अरु दूसरे को बहु कालांतर में भी वैसा फल नहीं मिलता है। तथा समकाल में खेती करते हुए एक जाट के तो बहु धान्य उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु दूसरे को थोड़ा उत्पन्न होता है। तथा समकाल में कौड़ियों को मुट्ठी भर कर भूमिका में गेरे, तब कितनीक कौड़ियां सीधी पड़ती हैं, अरु कितनीक औंधी पड़ती हैं। अब जेकर काल ही एकला कारण होवे, तब तो सर्व मूंग एक ही काल में पक जाते, परंतु पकते नहीं हैं। इस वास्ते केवल काल ही जगत् की विचित्रता का कर्त्ता नहीं है, किंतु कालादि सामग्री के मिलने से कर्म कारण है, यह सिद्ध पक्ष है।

अथ दूसरा ईश्वरवादी अरु तीसरा अद्वैतवादी, ए दोनों मतों का खण्डन द्वितीय परिच्छेद में लिख आये हैं, तहां से जान लेना।

अब चौथा मत नियतिवादी का है, तिस का खण्डन

नियतिवाद का खण्डन

लिखते हैं:—नियतिवादी कहते हैं, कि सर्व पदार्थों का कर्त्ता नियति है । ※नियति उस तत्त्व को कहते हैं, कि जिस करके सभी पदार्थ नियत रूप से ही होते हैं। सो भी नियति, ताड्यमान अति जीर्ण वस्त्र की तरे, विचार रूप ताडना को असहमान सैंकड़ों टुकड़ों को प्राप्त होती है, सोई कहते हैं। हे नियतिवादी ! तेरा जो नियति नाम का तत्त्वांतर है, सो भावरूप है, किंवा अभावरूप है ? जेकर कहोगे कि भावरूप है, तो फिर एक रूप है, वा अनेक-रूप है ? जेकर कहोगे कि एक रूप है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? जेकर कहोगे कि नित्य है, तो किस तरे पदार्थों की उत्पत्त्यादिक में हेतु है ? क्योंकि नित्य जो होता है, सो किसी का भी कारण नहीं होता है । क्योंकि नित्य जो होता है सो सर्व काल में एक रूप होता है । तिस का लक्षण ऐसा है—"अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया नित्यत्वस्य व्यावर्णनात्"—जो चवे नहीं (नष्ट न होवे), उत्पन्न भी न होवे, अरु स्थिर एक स्वभाव करके रहे, सो नित्य । जेकर नियति तिस नित्य रूप

※ "नियति र्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते सर्वेऽपि भावा नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा"। [षड्० स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

अर्थात् नियति नाम का तत्त्वान्तर है, जिस के बल से सभी पदार्थ निश्चित रूप से ही उत्पन्न होते हैं, अनिश्चित रूप से नहीं ।

करके कार्य उत्पन्न करे, तब तो सर्वदा तिसही रूप करके कार्य उत्पन्न करना चाहिये; क्योंकि तिस के रूप में कोई भी विशेषता नहीं है, अर्थात् एक ही रूप है। परन्तु सर्वदा तिस ही रूप करके तो कार्य उत्पन्न नहीं करती है, क्योंकि कभी कैसा अरु कभी कैसा कार्य उत्पन्न होता दीख पड़ता है। तथा एक और भी बात है, कि जो दूसरे तीसरे आदि क्षण में नियति ने कार्य करने हैं, वो सर्व कार्य प्रथम समय ही में उत्पन्न कर लेवे, क्योंकि तिस नियति का जो नित्य करण-स्वभाव द्वितीयादि क्षण में है, सो स्वभाव प्रथम समय में भी विद्यमान है। जे कर प्रथम क्षण में द्वितीयादि क्षण-वर्त्ती कार्य करने की शक्ति नहीं, तो द्वितीयादि क्षण में भी कार्य न होना चाहिये; क्योंकि प्रथम द्वितीयादि क्षण में कुछ भी विशेष नहीं है। जेकर प्रथम द्वितीयादि क्षण में नियति के रूप में परस्पर विशेष मानोगे तब तो जोरा जोरी नियति के रूप में अनित्यता आगई। क्योंकि "अतादवस्थ्यमनित्यतां ब्रूमः इति वचन प्रामाण्यात्"—जो जैसा है वो तैसा न रहे, [इस वचन प्रमाण से] उस को हम अनित्य कहते हैं।

प्रतिवादी:—नियति नित्य, विशेष रहित भी है, तो भी तिस तिस सहकारी की अपेक्षा करके कार्य उत्पन्न करती है। अरु जो सहकारी हैं, सो प्रतिनियत देश, काल वाले हैं, तिस वास्ते सहकारियों के योग से कार्य क्रम करके होता है।

सिद्धान्ती:—यह भी तुमारा कहना असमीचीन है। क्योंकि सहकारी जो हैं, सो भी नियति करके ही प्राप्त होते हैं। अरु नियति जो है, सो प्रथम क्षण में भी तिस को करने के स्वभाव वाली है। जेकर द्वितीयादि क्षण में दूसरे स्वभाववाली नियति मानोगे, तब तो नित्यपने की हानि हो जायगी। तिस वास्ते प्रथम क्षण में सर्व सहकारियों के संभव होने से प्रथम क्षण में ही सर्व कार्य करने का प्रसंग हो जायगा। तथा एक और भी बात है, कि सहकारियों के होने से कार्य हुआ, अरु सहकारियों के न होने से कार्य न हुआ। तब तो सहकारियों ही को, अन्वय व्यतिरेक देखने से कारण कहना चाहिए। परन्तु नियति को कारण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि नियति में व्यतिरेक का असंभव है। उक्तंच:—

* हेतुनान्वयपूर्वेण, व्यतिरेकेण सिद्ध्यति ।
नित्यस्याव्यतिरेकस्य, कुतो हेतुत्वसंभवः ॥

अथ जेकर इन पूर्वोक्त दूषणों के भय से अनित्य पक्ष मानोगे, तब तिस नियति के प्रतिक्षण अन्य अन्य रूप होने से नियतियां बहुत हो जायेंगी, और जो तुम ने नियति एक

* कार्य के साथ जिस का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही हों, वही हेतु कारण हो सकता है, और जो नित्य तथा अव्यतिरेकी हो, वह कारण नहीं बन सकता।

रूप मानी थी, तिस प्रतिज्ञा का व्याघात होने का प्रसङ्ग हो जायगा। अरु जो पदार्थ क्षणक्षयी होता है, वो किसी का कार्य कारण नहीं हो सकता है। तथा एक और भी बात है कि जेकर नियति एक रूप होवे, तदा तिस में जो कार्य उत्पन्न होवेंगे, सो सर्व एक रूप ही होने चाहिये, क्योंकि विना कारण के भेद हुए कार्यभेद कदापि नहीं हो सकता है। जेकर हो जावे, तब तो वह कार्यभेद निर्हेतुक ही होवेगा। परन्तु हेतु बिना किसी कार्य का भेद नहीं है। जेकर अनेक रूप नियति मानोगे, तब तो तिस नियति से अन्य नानारूप विशेषण विना नियति नानारूप कदापि न होवेगी। जैसे मेघ का पानी, काली, पीली, ऊपर भूमि के सम्बन्ध विना नानारूप नहीं हो सकता है, यदुक्तं—*"विशेषणं विना यस्मान्न तुल्यानां विशिष्टतेति वचनप्रामाण्यात्"। तिस वास्ते अवश्य अन्य नानारूप विशेषणों का जो होना है, सो क्या तिस नियति से ही होता है, अथवा किसी दूसरे से होता है? जेकर कहोगे कि नियति से ही होता है, तब तो एक रूप नियति से होने वाले विशेषणों की नानारूपता कैसे होवे? जेकर कहोगे कि विचित्र कार्य की † अन्यथानुपपत्ति करके

* क्योंकि विशेषण के विना समान वस्तुओं में विशिष्टता-भिन्नता नहीं आती है।

† कार्य का कारण के विना न होना अन्यथानुपपत्ति है; जैसे कि

नियति भी विचित्र रूप ही मानते हैं, तब तो नियति की विचित्रता बहुत विशेषणों विना नहीं होवेगी । तिस वास्ते नियति के बहुत विशेषण अंगीकार करने चाहिये । अब तिन विशेषणों का जो भाव है, सो तिस नियति ही से होता है, अथवा किसी दूसरे से ? जेकर कहोगे कि नियति से होता है, तब तो अनवस्था दूषण होता है । जेकर कहोगे कि अन्य से होता है, तो यह भी पक्ष अयुक्त है, क्योंकि नियति बिना और किसी को तुमने हेतु नहीं माना है; इस वास्ते यह तुमारा कहना किसी काम का नहीं है । तथा अनेक रूप नियति है, जेकर तुम ऐसे मानोगे, तब तो तुमारे मत के वैरी दो विकल्प हम तुम को भेट करते हैं । तुमारी नियति अनेक रूप जो है, सो मूर्त्त है ? वा अमूर्त्त है ? जेकर कहोगे कि मूर्त्त है, तब तो नामांतर करके कर्म ही तुमने माने । क्योंकि कर्म जो हैं, सो पुद्गलरूप होने से मूर्त्त भी हैं, अरु अनेक रूप भी हैं । तब तो तुमारा हमारा एक ही मत हो गया, क्योंकि हम जिनको कर्म मानते हैं, उन ही कर्मों का नामांतर तुमने नियति मान लिया, परन्तु वस्तु एक ही है । अथ जेकर नियति को अमूर्त्त मानोगे, तब तो नियति अमूर्त्त होने से सुख दुःख का हेतु न होवेगी । जैसे आकाश अमूर्त्त है, और सुख दुःख का हेतु नहीं है; पुद्गल ही मूर्त्त होने से सुख दुःख का हेतु हो सकता है । जेकर तुम ऐसे मानोगे कि

धूम अपने कारण-अग्नि के विना नहीं होता है ।

आकाश भी देश भेद करके सुख दुःख का हेतु है, जैसे मारवाड़ देश में आकाश दुःखदायी है, शेष सजल देशों में सुखदायी है। यह भी तुमारा कहना असत् है। क्योंकि तिन मारवाड़ादि देशों में भी आकाश में रहे हुए जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलों ही करी दुःख सुख होते हैं। तथाहि मरुस्थली जो है, सो प्रायः जल करके रहित है, अरु तिस में बालु भी बहुत है। तहां जब रस्ते में चलते हुए पग बालु में धस जाते हैं, तब तो पसीना बहुत आ जाता है। जब उष्ण काल में सूर्य की किरणों से बालु तप जाता है, तब बहुत संताप होता है। अरु जल भी पीने को पूरा नहीं मिलता है; तिस के खोदने में बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। इस वास्ते उन देशों में बहुत दुःख है। परन्तु सजल देशों में पूर्वोक्त कारण नहीं हैं। इस वास्ते पूर्वोक्त दुःख भी नहीं है। इस हेतु से पुद्गल ही सुख दुःख का हेतु है, परन्तु आकाश नहीं।

अब जेकर नियति को अभावरूप मानोगे, तो यह भी तुमारा पक्ष अयुक्त है, क्योंकि अभाव जो है सो तुच्छरूप है, शक्ति रहित है, और कार्य करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि कटक कुण्डलादिकों का जो अभाव है। सो कटक कुण्डल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है, ऐसे देखने में आता है। जेकर कटक कुण्डलादिकों का अभाव कटक कुण्डलादिक उत्पन्न करे, तब तो जगत् में कोई भी दरिद्री न रहे।

प्रतिवादीः—घटाभाव जो है सो मृत्पिंड है। तिस माटी

के पिंड से घट उत्पन्न होता है। तो फिर हमारे कहने में क्या अयुक्तता है ? अरु जो माटी का पिंड है सो तुच्छरूप नहीं है, क्योंकि वो अपने स्वरूप करके विद्यमान है। तो फिर अभाव पदार्थ की उत्पत्ति में हेतु क्यों नहीं हो सकता ?

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा पक्ष असमीचीन है। क्योंकि जो माटी के पिंड का स्वरूप है, सो भावाभाव का आपस में विरोध होने से अभावरूप नहीं हो सकता, जेकर भावरूप है, तो अभाव कैसे हुआ ? जेकर अभाव रूप है, तो भाव कैसे हुआ ? जेकर कहोगे कि स्वरूप की अपेक्षा भावरूप, अरु पररूप की अपेक्षा अभावरूप है, तिस वास्ते भावाभाव दोनों के न्यारे निमित्त होनेसे कुछ भी दूषण नहीं। इस कहने से तो माटी का पिंड भावाभावरूप होने से अनेकांतात्मक स्वरूप होगा। परन्तु यह अनेकांतात्मपना जैनों के ही मत में स्वीकृत है; क्योंकि जैन मत वाले ही सर्व वस्तु को स्वपरभावादि स्वरूप करके अनेकांतात्मक मानते हैं। परन्तु तुमारे मत में इस सिद्धान्त को अंगीकार किया नहीं है। जेकर कहोगे कि मृत्पिंड में जो पररूप का अभाव है, सो तो कल्पित है, अरु जो भावरूप है, सो तात्त्विक है, इस वास्ते अनेकांतात्मक वाद की हम को शरण नहीं लेनी पड़ती। तो फिर तिस मृत्पिंड से घट कैसे होवेगा ? क्योंकि मृत्पिंड में परमार्थ से घट के प्रागभाव का अभाव है। जेकर प्राग-भाव के विना भी मृत्पिंड से घट हो जावे, तो फिर सूत्र-

पिंडादिक से भी घट क्यों नहीं हो जाता ? जैसा मृत्पिंड में घट के प्रागभाव का अभाव है, वैसा ही सूत्रपिंडादिक में भी घट के प्रागभाव का अभाव है। तथा मृतपिंड से खरशृंग क्यों उत्पन्न नहीं हो जाता ? इस वास्ते यह तुमारा कहना कुछ काम का नहीं है। तथा जो तुमने कहा था, कि जो वस्तु जिस अवसर में जिस से उत्पन्न होवे है, सो कालांतर में भी वही वस्तु तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होती हुई दीखती है। सो यह तुमारा कहना ठीक है, क्योंकि कारण सामग्री के अनादि नियमों से कार्य भी तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होता है। जब कि कारणशक्ति के नियम से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर कौन ऐसा प्रेक्षावान् प्रमाण पंथ का कुशल है, जो प्रमाणबाधित नियति को अंगीकार करे ?

स्वभाव-वाद का खण्डन

अथ पांचमा स्वभाववादी का खण्डन लिखते हैं। स्वभाववादी ऐसे कहते हैं, कि इस संसार में सर्व भाव पदार्थ स्वभाव ही से उत्पन्न होते हैं। यह स्वभाववादियों का मत भी नियतिवाद के खण्डन से ही खण्डित हो गया, क्योंकि जो दूषण नियतिवादी के मत में कहे हैं, वे सर्व दूषण प्रायः यहां भी समान ही हैं। यथा—यह जो तुमारा स्वभाव है, सो भावरूप है ? अथवा अभावरूप है ? जेकर कहोगे कि भावरूप है, तो क्या एक

रूप है ? वा अनेक रूप है ? इत्यादि सर्व दूषण नियति को तरे समझ लेने।

एक और भी बात है। वह यह कि स्वभाव आत्मा के भावको कहते हैं। इस पर हम पूछते हैं, कि स्वभाव कार्यगत हेतु है ? वा कारण गत ? कार्यगत तो है नहीं, क्योंकि जब कार्य उत्पन्न हो जावेगा, तब कार्यगत स्वभाव होगा और विना कार्य के हुए कार्यगत हो नहीं सकता। तथा जब कार्य स्वयं अर्थात् स्वभाव के विना हो गया, तब तिसका हेतु स्वभाव कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो जिस के अलब्धात्म-लाभ संपादन में समर्थ होवे, सो तिसका हेतु है। परन्तु कार्य तो उस के विना निष्पन्न होने करके स्वयमेव लब्धात्मलाभ है। यदि ऐसा न हो, तो स्वभाव ही को अभाव का प्रसंग हो जावेगा, अतः अकेला स्वभाव कार्य का हेतु नहीं है। जेकर कहोगे कि वह कारणगत हेतु है, सो यह तो हम को भी संमत है। वह स्वभाव प्रतिकारण भिन्न है। तिस करके माटी से घट ही होता है, पटादि नहीं, क्योंकि माटी के पिंड में पटादि उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं है। अरु तंतुओं से पट ही होता है, घटादि नहीं होते, क्योंकि तंतुओं में घट उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं है। तिस वास्ते जो तुमने कहा था, कि माटीसे घटही होता है, पटादि नहीं होता, सो तो सर्व कारणगत स्वभाव मानने से सिद्ध ही की साधना है। अतः यह पक्ष हमारे मत का बाधक नहीं है। तथा जो तुमने कहा

था, कि मूंगों में पकने का स्वभाव है, कोकडु में नहीं, इत्यादि । सो भी कारणगत स्वभाव का अंगीकार कर लेने से समीचीन हो जाता है । जैसे एक कोकडु मूंग स्वकारण वशसे तैसे रूप वाले हुए हैं, कि हांडी, ईंधन, कालादि सामग्री का संयोग भी है, तो भी नहीं पकते । तथा स्वभाव जो है सो कारण से अभिन्न है । इस वास्ते सर्व वस्तु सकारण ही हैं, यह सिद्ध पक्ष है ।

यदृच्छा-वाद का खण्डन

अथ अक्रियावादियों में जो यदृच्छावादी हैं, तिनों ने कहा था, कि वस्तुओं का नियत कार्यकारण-भाव नहीं है, इत्यादि । सो उन का यह कहना भी कार्यकारण के विवेचन करन वाली बुद्धि से रहित होने का सूचक है । क्योंकि कार्य कारण का आपस में प्रतिनियत सम्बन्ध है। तथाहि—शालूक से जो शालूक उत्पन्न होता है, सो वह सदा शालूक ही से उत्पन्न होगा, परन्तु गोबर से नहीं। अरु जो गोबर से शालूक उत्पन्न होता है, वह सदा गोबर ही से उत्पन्न होगा, परन्तु शालूक से नहीं । अरु इन दोनों शालूकों की शक्ति, वर्णादि की विचित्रता से और परस्पर जात्यंतर होने से एकरूपता भी नहीं हैं, तथा जो अग्नि से अग्नि उत्पन्न होती है, सो भी सदैव अग्नि ही से उत्पन्न होगी, परन्तु अरणी के काष्ठ से नहीं। अरु जो अरणी के काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, सो सदा अरणी के काष्ठ से ही

उत्पन्न होगी, परन्तु अग्नि से नहीं होती। अरु जो कहा था कि बीज से भी केला उत्पन्न होता है, इत्यादि। सो भी परस्पर विभिन्न होने से उस का भी वही उत्तर है, कि जो ऊपर लिख आये हैं। और भी बात है, कि जो केला कन्द से उत्पन्न होता है, सो भी वास्तव में बीज ही से होता है, इस वास्ते परंपरा करके बीज ही कारण है। ऐसे ही वटादिक भी शाखा के एक देश से उत्पन्न होते हुए वास्तव में बीज से ही उत्पन्न होते हैं। शाखा से शाखा होती है, परन्तु उस शाखा का हेतु शाखा है, ऐसा लोक में व्यवहार नहीं है। क्योंकि वट बीज ही सकल शाखा प्रशाखा समुदायरूप वट के हेतु रूप से लोक में प्रसिद्ध है। ऐसे ही शाखा के एक देश से भी उत्पन्न होता हुआ वट, परमार्थ से मूल, वटशाखा रूप ही है, वो भी मूल बीज ही से उत्पन्न हुआ मानना चाहिये। इस वास्ते किसी जगे में भी कार्य कारण भाव का व्यभिचार नहीं है।

अज्ञानवादी का खण्डन

अथ अज्ञानवादी के मत का खंडन लिखते हैं। अज्ञानवादी कहते हैं, कि अज्ञान ही श्रेय है, क्योंकि जब ज्ञान होता है, तब परस्पर में विवाद होता है, और उस के योग से चित्त में कलुषता उत्पन्न हो कर दीर्घतर संसार की वृद्धि होती है, इत्यादि। यह जो अज्ञानवादियों ने कहा है, सो भी मूर्खता का सूचक है, सोई दिखाते हैं। और बात

तो दूर रही, परन्तु प्रथम हम तुमको दो बातें पूछते हैं—ज्ञान का जो तुम निषेध करते हो, सो ज्ञान से करते हो ? वा अज्ञान से करते हो ? जे कर कहोगे कि ज्ञान से करते हैं, तो फिर कैसे कहते हो कि अज्ञान ही श्रेय है ? इस कहने से तो ज्ञान ही श्रेय हुआ, क्योंकि ज्ञान के विना अज्ञान को कोई स्थापन करने में समर्थ नहीं है । जेकर उक्त कहने को मानोगे, तो तुमारी प्रतिज्ञा के व्याघात का प्रसंग होगा । जेकर कहोगे कि अज्ञान से निषेध करते हैं । सो भी अयुक्त है, क्योंकि अज्ञान में ज्ञान का निषेध करने की सामर्थ्य नहीं है । जब अज्ञान निषेध करने में समर्थ न हुआ, तब तो सिद्ध है कि ज्ञान ही श्रेय है । अरु जो तुमने कहा था, कि जब ज्ञान होगा, तब परस्पर में होने वाले विवाद के योग से चित्त कालुष्यादि भाव को प्राप्त होगा । सो यह भी विना विचारे कहना है । हम परमार्थ से ज्ञानी उस को कहते हैं, कि जिस की आत्मा विवेक करके पवित्र होवे, अरु जो ज्ञान का गर्व न करे । तथा जो थोड़ा सा ज्ञानी हो कर, कंठ लग मद्य पी कर जैसे उन्मत्त बोलता है तैसे बोले, अरु सकल जगत् को तृण की तरे तुच्छ माने, सो परमार्थ से ज्ञानवान् नहीं किन्तु अज्ञानी ही है । क्योंकि उस को ज्ञान का फल नहीं हुआ है । ज्ञान का फल तो रागद्वेषादि दूषणों का त्याग करना है । जब कि यह नहीं हुआ, तब तो परमार्थ से ज्ञान ही नहीं । यथा—

*तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः ।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ॥

ऐसा ज्ञानी, विवेकी पवित्र आत्मा, और पर जीवों के हित करने में एकांत रस लेने वाला, जेकर वाद भी करेगा, तब भी पर जीवों के उपकार के ही वास्ते करेगा। अरु वह भी राजा आदि परीक्षक, निपुण बुद्धि वालों की परिषदा में ही करेगा, अन्यथा नहीं । ऐसे ही तीर्थंकर गणधरों ने वाद करने की आज्ञा दीनी है। जब ऐसे है तब वाद से चित्त की मलिनता द्वारा कर्म का बन्ध होने से दीर्घतर संसार की वृद्धि कैसे होवे ? ज्ञानवान् का जो वाद है, सो केवल वादी, नरपति आदि परीक्षकों के अज्ञान को दूर करने वास्ते है। सम्यक् ज्ञान के प्रगट होने से आत्मा का बड़ा उपकार होता है। इस वास्ते ज्ञान ही श्रेय है।

अरु जो अज्ञानवादी कहता है, कि तीव्र अध्यवसाय करके जो कर्म उत्पन्न होते हैं, उन से दारुण विपाक-फल होता है, सो तो हम मानते हैं । परन्तु जो अशुभ अध्यवसाय है, तिसका हेतु ज्ञान नहीं है, क्योंकि अज्ञान ही अशुभाध्यवसायों का हेतु देखने में आता है । इस में इतनी बात और जानने

* वह ज्ञान ही नहीं है, कि जिस के उदय होने पर रागादि दोषों का समूह बना रहे । अन्धकार में यह शक्ति कहां, कि वह सूर्य की किरणों के आगे ठहर सके ।

योग्य है, कि ज्ञान के होते हुए कदाचित् कर्मदोष से अकार्य में प्रवृत्ति भी होवे, तो भी ज्ञान के बल से प्रतिक्षण संवेग भावना के द्वारा ज्ञानी में तीव्र अशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। जैसे कोई एक पुरुष राजादि के दुष्ट नियोग से विषमिश्रित अन्न को भयभीत मन से खाता है, तैसे ही सम्यक् ज्ञानी भी कथंचित् कर्मदोष से यदि अकार्य भी करेगा, तो भी संसार के दुःखों से भयभीत मनवाला अवश्य होवेगा, किंतु निःशंक-निर्भय नहीं होवेगा। संसार से जो भयभीत होना है, तिस ही को संवेग कहते हैं। तब सिद्ध हुआ कि जो संवेगवान् है, वह तीव्र अशुभ अध्यवसाय वाला नहीं होता। अरु जो तुम ने कहा था, कि अज्ञान ही सत्पुरुषों को मोक्ष जाने के वास्ते श्रेय है, ज्ञान श्रेय नहीं। सो यह कहना भी मूढता का सूचक है, क्योंकि जिसका नाम ही अज्ञान है, वो श्रेय क्योंकर हो सकता है? अरु जो तुमने कहा था, कि हम ज्ञान को मान भी लेवें, जेकर ज्ञान का निश्चय करने में कोई सामर्थ्य होवे। सो भी मूर्खों का सा कहना है। क्योंकि यद्यपि सर्व मतों वाले परस्पर भिन्न ही ज्ञान अंगीकार करते हैं, तो भी जिस का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित नहीं, अरु पूर्वापर-व्याहत नहीं है, वो यथार्थरूप माना ही जावेगा। सो तैसा वचन तो भगवान् ही का कहा हुआ हो सकता है, सोई प्रमाण है, शेष नहीं। अरु जो कहा था कि बौद्ध भी अपने बुद्ध भगवान् को सर्वज्ञ मानते हैं, इत्यादि। सो भी असत् है,

क्योंकि तिन का वचन प्रमाण से बाधित है। इस वास्ते सुगतादिक सर्वज्ञ नहीं हैं। तिनका वचन जैसे बाधित है, तैसे आगे लिखेंगे।

तथा जो तुमने कहा था कि यदि वर्द्धमान स्वामी सर्वज्ञ भी होवे, तो भी तिस वर्द्धमान स्वामी ही के कहे हुए यह आचारांगादि शास्त्र हैं, यह क्योंकर प्रतीत होवे ? सो यह भी तुमारा कहना दूर हो गया, क्योंकि और किसी का ऐसा दृष्टेष्टबाधा रहित वचन है ही नहीं। अरु जो तुमने कहा था कि यह भी तुमारा कहना होवे कि आचारांगादि जो शास्त्र हैं, सो वर्द्धमान स्वामी सर्वज्ञ के कहे हुए हैं, तो भी वर्द्धमान स्वामी के उपदेश का यही अर्थ है, अन्य नहीं है, इत्यादि। सो भी अयुक्त है, क्योंकि भगवान् वीतराग है, अरु जो वीतराग होता है, सो किसी को कपटमय उपदेश देकर भुलाता नहीं है, क्योंकि विप्रतारणा का हेतु जो रागादि दोषों का समूह सो भगवान् में नहीं है। अरु जो सर्वज्ञ होता है, सो जानता है, कि इस शिष्य ने विपरीत समझा है, अरु इस ने सम्यक् समझा है। तब जिस ने विपरीत समझा है, तिसको मना कर देते हैं। परन्तु भगवान् ने गौतमादिकों को मने नहीं करा। इस वास्ते गौतमादिकों ने सम्यक् ही जाना है। अरु जो कहा था, कि गौतमादि छद्मस्थ हैं, इत्यादि। सो भी असार है, क्योंकि छद्मस्थ भी उक्त रीति करके भगवान् के उपदेश से ही यथार्थ वक्ता

निश्चय हो सकता है। तथा विचित्र अर्थों वाले शब्द भी भगवान् ने ही कहे हैं। सो शब्द जैसे २ प्रकरण का होगा, तैसे तैसे ही अर्थ का प्रतिपादक हो सकता है। इस वास्ते कोई भी दूषण नहीं, क्योंकि तिस तिस प्रकरण के अनुसार तिस तिस अर्थ का निश्चय हो जाता है। अरु गौतमादिकों ने जिस जिस जगे जिस जिस शब्द का जैसा जैसा अर्थ करा है, सो भगवान् ने निषेध नहीं करा। इस वास्ते भी जाना जाता है, कि गौतमादिक ने यथार्थ ही जाना है, अरु यथार्थ ही शब्दों का अर्थ करा है। अरु जो कुछ गौतमादिकों ने कहा था, सोई आचार्यों की अविछिन्न परंपरा करके अब तक तैसे ही अर्थ का अवगम होता है। तथा ऐसे भी न कहना कि आचार्यों की परंपरा हम को प्रमाण नहीं ? क्योंकि अविपरीतार्थ कहने से अचार्यों की परंपरा को कोई भी झूठी करने में समर्थ नहीं है।

एक और भी बात है वह, यह कि तुमारा जो मत है, सो आगम मूलक है ? वा अनागममूलक है ? जेकर कहोगे कि आगममूलक है, तब तो आचार्यों की परंपरा क्योंकर अप्रामाणिक हो सकती है ? आचार्यों की परंपरा के बिना, आगम का अर्थ ही क्योंकर जाना जाएगा ? जेकर कहोगे कि अनागममूलक है, तब तो उन्मत्त के वचनवत् प्रामाणिक ही न होवेगा।

प्रतिवादीः—यद्यपि हमारा मत आगममूलक नहीं है, तो

भी वह युक्तियुक्त है, इस वास्ते हम मानते हैं।

सिद्धान्तीः—अहो ! "दुरंतः स्वदर्शनानुरागः"—कैसा भारी अपने मत का राग है ! क्योंकि यह पूर्वापर विरुद्ध भाषण तो अज्ञान मत का भूषण है।

प्रतिवादीः—किस तरे हमारा पूर्वापर विरुद्ध बोलना ही हमारे मत का भूषण है ?

सिद्धान्तीः— युक्तियां जो होती हैं, सो ज्ञानमूलक ही होती हैं। परन्तु तुम अज्ञान ही को श्रेय मानते हो। तो फिर तुमारे मत में सत् युक्तियों का कैसे संभव हो सकता है ? इस वास्ते तुम पूर्वापर विरुद्धार्थ के भाषक हो । इस हेतु से तुमारा मत किसी भी काम का नहीं है।

विनय-वाद का खण्डन

अब विनयवादी के मत का खण्डन लिखते हैं । जो वादी विनय ही से मोक्ष मानते हैं, उनका कथन भी एकांतवाद के मोह से युक्तिशून्य है: क्योंकि विनय तो मुक्ति का एक अंग है। अरु मुक्ति मार्ग तो * "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनात्—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, अरु सम्यक् चारित्र रूप है, इस वास्ते ज्ञानादिकों को तथा ज्ञानादिकों के आधारभूत जो बहुश्रुतादिक पुरुष हैं, तिन की जो विनय करे, बहुमान देवे, ज्ञानादि की वृद्धि करे, सो परंपरा करके मुक्ति का अंग हो सकता

* तत्त्वा० अ० १ सू० १ ।

है। परंतु जो सुर, नरपति आदिक की विनय है, सो संसार का हेतु है; क्योंकि जो जिस की विनय करता है, वो उस के गुणों को बहुमान देता है। अरु सुर, नरपति प्रमुख में तो विषय भोगने का प्रधान गुण है, जब उन की विनय करी, तब तो उन के भोगों को बहुमान दिया, जब भोगों को बहुमान दिया, तब दीर्घ संसार पथ की प्रवृत्ति कर लीनी। इस वास्ते एकांत विनय से जो मोक्ष मानते हैं, सो भी असत् वादी हैं, क्योंकि ज्ञानादिकों से रहित विनय साक्षात् मुक्ति का अंग नहीं है। ज्ञान, दर्शन, और चारित्र से रहित पुरुष, केवल *पादपतनादिक विनय से मुक्ति नहीं पा सकता है, किंतु ज्ञानादिक सहित हो कर ही पा सकता है, तब ज्ञानादिक ही साक्षात् मुक्ति के अंग हुए विनय नहीं।

प्रतिवादीः—हम कैसे जाने कि ज्ञानादिक ही मुक्ति के अंग हैं?

सिद्धान्तीः—इस संसार में मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, इन तीनों ही करके कर्म वर्गणा का सम्बन्ध आत्मा के साथ होता है, कर्ममल का जो क्षय होना है, सोई मोक्ष है, †"मुक्तिः कर्मक्षयादिष्टेति वचनप्रामाण्यात्"। कर्म का क्षय तब होगा, जब कर्मबन्ध के कारण का उच्छेद होगा, कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्वादि तीन हैं, इन मिथ्यात्व आदि का प्रति-

* पैरों पड़ने आदि।

†[शा० स०, स्त० २ श्लो० ५४]

पक्षी सम्यक् दर्शन है, अज्ञान का प्रतिपक्षी सम्यक् ज्ञान अरु अविरति का प्रतिपक्षी सम्यक् चारित्र है । जब यह तीनों प्रकर्ष भावको प्राप्त होंगे, तब सर्वथा कर्मों के बन्ध का कारण दूर होगा, जब कारण का उच्छेद हो जावेगा, तब समूल कर्मोच्छेद होने से मोक्ष होवेगी । इस वास्ते ज्ञानादिक ही मोक्ष के अंग हैं, विनय मात्र नहीं। विनय तो ज्ञानादि के द्वारा परंपरा करके मुक्ति का अंग है । परन्तु साक्षात् मोक्ष के हेतु तो ज्ञानादिक ही हैं। अरु जो जैनशास्त्रों में कई जगे पर यह लिखा है कि "सर्वकल्याणभाजनं विनयः" सो ज्ञानादिकों की प्रवृत्ति के वास्ते ही लिखा है । जेकर विनयवादी भी इस तरे मानता है, तब तो विनयवादी भी हमारे मत का ही समर्थक है, तब तो फिर विवाद का ही अभाव है । यह समुच्चय ३६३ मत का किंचित् मात्र स्वरूप लिखा है ।

अथ भव्य जीवों के बोध के वास्ते षट् दर्शनों का किंचित् स्वरूप लिखते हैं:—

बौद्धमत का स्वरूप

उस में प्रथम बौद्ध दर्शन का स्वरूप कहते हैं। बौद्ध मत में जो गुरु होते हैं, तिन का लिंग ऐसा होता है । मस्तक मुण्डा हुआ, चाम का टुकड़ा, कमंडलु, धातुरक्त वस्त्र, यह तो उनका वेष है । अरु शौचक्रिया बहुत है, कोमल शय्या में सोना, सबेरे उठ करके पेय पीना, मध्यान्ह काल में भात

खाना, अपराह्न में पानी पीना, अर्द्ध रात्रि में द्राक्षाखंड, मिसरी आदि का खाना, मरण के अन्त में मोक्ष, यह बौद्धों का चलन है । तथा मनगमता भोजन करना, मनगमती शय्या, आसन, अरु मनगमता रहने का स्थान, ऐसी अच्छी सामग्री से मुनि अच्छा ध्यान करता है । अरु भिक्षा के समय पात्र में जो कुछ पड़ जावे, सो सर्व शुद्ध मान करके ये मांस भी खा लेते हैं । अरु अपनी ब्रह्मचर्यादि की क्रिया में बहुत दृढ होते हैं । यह उन का आचार है । धर्म, बुद्ध, संघ, इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं । अरु शासन के विघ्नों का नाश करने वाली तारा देवी को मानते हैं । विपश्यादिक सात, इन के बुद्धावतार हैं, जिन की मूर्त्तियों के कंठ में तीन तीन रेखा का चिह्न होता है । तिन को भगवान् मानते हैं, अरु सर्वज्ञ मानते हैं ।

ये बुद्ध भगवान् को जितने नामों से कहते हैं, सो नाम लिखते हैं:—१. बुद्ध, २. सुगत, ३. धर्मधातु, ४. त्रिकालवित्, ५. जिन, ६. बोधिसत्त्व, ७. महाबोधी, ८. आर्य, ९. शास्ता, १०. तथागत, ११. पंचज्ञान, १२. षडभिज्ञ, १३. दशार्ह, १४. दशभूमिग, १५. चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ, १६. दशपारमिताधर, १७. द्वादशाक्ष, १८. दशबल, १९. त्रिकाय, २० श्रीघन, २१. अद्वय, २२. समंतभद्र, २३. संगुप्त, २४. दयाकूर्च, २५. विनायक, २६. मारजित्, २७. लोकजित्, २८. मुखजित्, २९. धर्मराज, ३०. विज्ञानमात्रक, ३१. महामैत्र, ३२. मुनीन्द्र, यह बत्तीस नाम

बुद्ध भगवान् के हैं, अरु सात बुद्ध मानते हैंः—१. विपशी, २. शिखी, ३. विश्वभू ४. ककुच्छंद, ५. कांचन, ६. काश्यप, ७. शाक्यसिंह । पिछले शाक्यसिंह बुद्ध के नामः—१. शाक्यसिंह, २. अर्कबांधव, ३. राहुलसू, ४. सर्वार्थसिद्ध, ५. गौतम, ६. मायासुत, ७. शुद्धोदनसुत, ८. देवदत्ताग्रज ।

तथाः—१. भिक्षु, २. सौगत, ३. शाक्य, ४. शौद्धोदनि, ५. सुगत, ६. तथागत, और ७. शून्य वादी, यह बौद्धों के नाम हैं । तथा शौद्धोदनि, धर्मोत्तर,; अर्चट, धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकर, दिङ्नाग, इत्यादि नाम वाले ग्रन्थों के रचियता गुरु हैं । तथा तर्कभाषा, न्यायबिंदु, हेतुबिंद, न्यायप्रवेश, इत्यादि तर्कशास्त्र हैं, तथा बौद्धों की चार शाखा हैंः—१. वैभाषिक २. सौत्रांतिक, ३. योगाचार, ४. माध्यमिक ।

चार आर्यसत्य

बौद्ध लोग इन चार वस्तुओं को मानते हैं—१. दुःख, २. समुदाय, ३. मार्ग, ४. निरोध । तहां जो दुःख है, सो पांच स्कंधरूप है, उन के नाम ये हैं—१. विज्ञानस्कंध, २. वेदनास्कंध, ३. संज्ञास्कंध, ४. संस्कारस्कंध, ५. रूपस्कंध । इन पांचों के विना अपर कोई भी आत्मादिक पदार्थ नहीं है । इन पांच स्कंधों का अर्थ लिखते हैं । [१] रूपविज्ञान रस-विज्ञान, इत्यादि निर्विकल्पक जो विज्ञान हैं । सो विज्ञान स्कंध । [२] सुख दुःख आदि की जो वेदना है, सो वेदनास्कंध है । यह वेदना पूर्वकृत कर्मों से होती है । [३]

सविकल्पक ज्ञान जो है, सो संज्ञास्कंध है। [४] पुण्य और अपुण्यादिक जो धर्म समुदाय है, सो संस्कारस्कंध है। इस ही संस्कार के प्रबोध से पूर्व अनुभूत विषय का स्मरणादिक होता है। [५] पृथ्वी, धातु आदिक तथा रूपादिक, यह रूपस्कंध है। इन पांचों के अतिरिक्त आत्मादि और कोई पदार्थ नहीं है। अरु यह जो पांचों स्कंध हैं, वे सर्व एक क्षणमात्र रहते हैं। यह दुःख तत्त्व के पांच भेद कहे।

अब समुदाय तत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—

समुदेति यतो लोके, रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्मात्मीयभावाख्यः समुदयः स उदाहृतः ॥

[षड्० स०, श्लो० ६ की बृहद्वृत्ति]

अर्थः—जिस से आत्मा और आत्मीय तथा पर और परकीय सम्बन्ध के द्वारा रागद्वेषादि दोषों का समस्त गण-समूह उत्पन्न होता है, उस को समुदय या समुदाय कहते हैं। इस का तत्पर्य यह है, कि मैं हूं; यह मेरा है, इस सम्बन्ध से, तथा यह दूसरा है, दूसरे की वस्तु है, इस सम्बन्ध से जिस करके रागद्वेषादि दोषों की उत्पत्ति हो, उसका नाम समुदाय है। ये दोनों तत्त्व—दुःख और समुदाय संसार की प्रवृत्ति के हेतु हैं।

इन दोनों के विपक्षीभूत मार्ग और निरोध तत्त्व हैं। अब उनका स्वरूप लिखते हैं। "परमनिःकृष्टः कालः क्षणम्"—

अत्यन्त निकृष्ट-सूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं, तिसमें जो होवे, सो क्षणिक है। सर्व पदार्थ क्षणमात्र रह कर नाश हो जाते हैं। आत्मा कोई सर्वकाल स्थायी वस्तु नहीं है। पूर्वक्षण के नाश होते ही तत्सदृश उत्तर क्षण उत्पन्न हो जाता है, पूर्वज्ञान से जनित वासना ही उत्तर ज्ञान में शक्ति है। अरु क्षणों की परंपरा करके जो मानसी प्रतीति होवे, तिस का नाम मार्ग है। सो निरोध का कारण जानना। अब चौथा निरोध नाम का तत्त्व लिखते हैं। मोक्ष को निरोध कहते हैं, अर्थात् चित्त की जो सर्वथा क्लेशशून्य अवस्था है, तिस का नाम निरोध है, नामांतर करके उसी को मोक्ष कहते हैं। इन दुःखादि चार को आर्यसत्य भी कहते हैं। तथा यह जो चारों तत्त्व ऊपर कहे हैं, सो सौत्रांतिक बौद्धमत की अपेक्षा से हैं।

जेकर भेदरहित समुच्चय बौद्धमत की विवक्षा करें, तब तो बौद्धमत में बारां पदार्थ होते हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन, यह पांच इन्द्रिय, अरु इन पांचों इन्द्रियों के पांच विषय, तथा चित्त, और धर्मायतन [धर्म–सुख दुःखादि, उनका आयतन–गृह–शरीर] इन द्वादश तत्त्वों को आयतन कहते हैं। अरु यह बारां आयतन क्षणिक हैं। बौद्ध मत में प्रत्यक्ष अरु अनुमान, यह दो प्रमाण माने हैं।

नैयायिक मत का स्वरूप

अब नैयायिक दर्शन लिखते हैं। नैयायिक मत का अपर नाम यौगमत भी है। इन नैयायिकों के गुरु (साधु) दण्ड रखते हैं, बड़ी कौपीन पहरते हैं, कांबली ओढ़ते हैं, सिर पर जटा रखते हैं, शरीर को भस्म लगाते हैं, नीरस आहार

करते हैं, बांह (बाहु) के मूल में तूंबी रखते हैं, प्रायः वनों में रहते हैं, आतिथ्य कर्म में तत्पर रहते हैं, कंद, मूल, फल, खाते हैं, कितनेक स्त्री रखते हैं, और कितनेक नहीं रखते हैं, जो स्त्री नहीं रखते हैं, सो तिन में उत्तम माने जाते हैं, पंचाग्नि तापते हैं, हाथ में और जटा में प्राणलिंग रखते हैं, जब उत्तम संयम अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब नग्न हो कर भ्रमण करते हैं, सवेरे दंत धावन और पदादि को पवित्र करके शिव का ध्यान करते हुए भस्म से तीन तीन वार अङ्ग को स्पर्श करते हैं। उनका भक्त हाथ जोड़ कर उनको वन्दना करते समय "ॐ नमः शिवाय" कहता है, अरु गुरु भक्त के तांई "शिवाय नमः" ऐसे कहता है। उनका कहना ऐसा भी है, कि जो पुरुष शैवी दीक्षा को बारां वर्ष तक पाल करके छोड़ भी देवे, जेकर पीछे वो दास दासी भी होवे, तो भी निर्वाण पद को प्राप्त होता है*। अरु शंकर इन का देव है, जो कि सर्वज्ञ और सृष्टि के संहार का कर्त्ता है।

इस शंकर के अठारह अवतार मानते हैं, तिन के नाम लिखते हैं—१. नकुली, २. शोष्यकौशिक, ३. गार्ग्य, ४. मैत्र्य, ५. अकौरुष, ६. ईशान, ७. पारगार्ग्य, ८. कपिलांड, ९. मनु-

---

* शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं, सेवित्वा योऽपि मुञ्चति।
दासी दासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति॥
[षड्० स०, श्लो० १२ की बृहद्वृत्ति में उद्धृत]

ष्यक, १०. कुशिक, ११. अत्रि, १२. पिंगल, १३. पुष्पक, १४. बृहदार्य, १५. अगस्ति, १६. संतान, १७. राशिकर, १८. विद्या गुरु, यह अठारह उन के तीर्थेश हैं । इन की बहुत सेवा करते हैं । इन का पूजन, अरु प्रणिधान तिन के शास्त्रों से जान लेना ।

इन का अक्षपाद मुनि अर्थात् गौतम मुनि गुरु है । तिन के मत में भरट ही पूजनीक हैं । वे कहते हैं, कि देवताओं के सन्मुख हो कर नमस्कार नहीं करनी चाहिये । जैसा नैयायिक मत में लिंग, वेष, और देव आदि का स्वरूप है, तैसा ही वैशेषिक मत में भी जान लेना, क्योंकि नैयायिक वैशेषिकों के प्रमाण अरु तत्त्वों में बहुत थोड़ा भेद है । इस वास्ते यह दोनों मत तुल्य ही हैं । इन दोनों ही को तपस्वी कहते हैं । अरु इन के शैवादिक चार भेद हैं—१. शैव, २. पाशुपत, ३. महाव्रतधर, और ४. कालमुख । इन के अवांतर भेद भरट, भक्तलैगिक, और तापसादिक हैं । भरटादिकों को व्रत के ग्रहण करने में ब्राह्मणादि वर्णों का नियम नहीं, किंतु जिस की शिव के विषे भक्ति होवे, सो व्रती भरटादिक होता है । परन्तु शास्त्रों में नैयायिक को सदा शिवभक्त होने से शैव, और वैशेषिकों को पाशुपत कहते हैं* ।

इन नैयायिकों के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द,

* इस सारे प्रकरण के लिये देखो षड्० स० की गुणरत्नसूरिकृत वृत्ति ।

यह चार प्रमाण माने हैं । अरु १. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धांत, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितंडा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, और १६. निग्रहस्थान, यह सोलां पदार्थ मानते हैं । इन का विस्तार बहुत है, इस वास्ते नहीं लिखा । दुःखों का जो आत्यन्तिक वियोग, तिस को मोक्ष कहते हैं । न्यायसूत्र—कर्त्ता अक्षपाद मुनि, भाष्य-कर्त्ता वात्स्यायन मुनि, न्याय वार्त्तिक—कर्त्ता उद्योतकर, तात्पर्य टीका—कर्त्ता वाचस्पति मिश्र, तात्पर्य परिशुद्धि-कर्त्ता उदयनाचार्य, न्यायालंकार वृत्ति-कर्त्ता श्रीकंठाभयतिलकोपाध्याय और भासर्वज्ञप्रणीत न्यायसार की अठारह टीका हैं, तिन में से न्यायभूषण नामक टीका, जयंतरचित, न्यायकलिका, और न्याय कुसुमांजलि आदि इन नैयायिकों के तर्क मुख्य ग्रंथ हैं ।

वैशेषिक मत का स्वरूप

वैशेषिक मत भी यहाँ लिख देते हैं । वैशेषिकों का मत नैयायिकों के तुल्य ही है, परंतु इतना विशेष है, कि इस मत वाले प्रत्यक्ष अरु अनुमान यह दो प्रमाण मानते हैं, तथा १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, इन भावरूप छ तत्त्वों को मानते हैं । इन सर्व का विस्तार देखना होवे, तो वैशेषिक मत के ग्रन्थों में देख लेना, तथा तपागच्छाचार्य श्रीगुणरत्नसूरि विरचित षड्दर्शन-

समुच्चय ग्रन्थ की टीका देख लेनी। अब वैशेषिकमत के जो तर्क ग्रन्थ हैं—सो कहते हैं, कन्दली (६००० श्लोक प्रमाण)-श्रीधर आचार्य कर्त्ता, वैशेषिक सूत्र (३००० श्लोक प्रमाण), प्रशस्तकर भाष्य (७०० श्लोक प्रमाण), व्योमशिवाचार्यकृत व्योममती टीका (९००० श्लोक प्रमाण), उदयन की करी हुई किरणावली (६००० श्लोकप्रमाण), श्रीवत्स आचार्यकृत लीलावती टीका (६००० श्लोक प्रमाण), अरु एक आत्रेय तंत्र था, सो व्यवच्छेद हो गया है। यह वैशेषिक मतवाले कहते हैं, कि शिवजी ने उलूक का रूप धारण करके कणाद मुनि के आगे यह वैशेषिक मत प्रकाश करा था, इस वास्ते इस मत का नाम औलूक्य मत भी है।

सांख्य मत

अथ सांख्यमत लिखते हैं। प्रथम तो सांख्यमत के साधुओं के जानने वास्ते उन के लिंगादि लिखते हैं। सो त्रिदंडी भी होते हैं अरु एक दण्डवाले भी होते हैं। कौपीन पहरते हैं, धातुरक्त वस्त्र रखते हैं, कोई शिर पर शिखा रखते हैं, अरु कोई जटा रखते हैं, कोई मस्तक क्षुर से मुण्डा कर रखते हैं। मृगचर्म का आसन रखते हैं। द्विजों के घर का अन्न खाते हैं, कोई पांच ही ग्रास खाते हैं। अरु बारा अक्षर का जाप करते हैं। तिन के भक्त जब उन को वन्दना करते हैं, तब "ॐ नमो नारायणाय" ऐसे कहते हैं, तब गुरु उन को "नमो नारायणाय" ऐसे कहते हैं। अरु महाभारत में जिस का नाम "बीटा" ऐसे

लिखा है, इस काष्ठ को मुखवस्त्रिका को मुख के निःश्वास-निरोध के वास्ते रखते हैं, जिस से मुखश्वास से जीवहिंसा न होवे। यदाहुस्तेः—

प्राणादितोऽनुयातेन, श्वासेनैकेन जंतवः।
हन्यंते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिनाम् ॥

[षड्० स०, बृ० वृत्ति, अ० ३]

वे सांख्य मत के * गुरु (साधु) जल के जीवों की दया के वास्ते अपने पास पानी के छानने के निमित्त एक गलना रखते हैं, अरु अपने भक्तों को पानी के वास्ते तीस अंगुल प्रमाण लम्बा और वीस अंगुल प्रमाण चौड़ा, दृढ गलना रखने का उपदेश करते हैं। अरु जो जीव पानी के छानने से निकले, उस को उसी पानी में पीछे प्रक्षेप कर देना, क्योंकि मीठे पानी करके खारे पानी के पूरे मर जाते हैं, अरु खारे पानी के मिलने से मीठे पानी के पूरे मर जाते हैं, इस वास्ते दोनों पानी का परस्पर मेल न करना। बहुत सूक्ष्म पानी के एक बिंदु में इतने जीव हैं, कि जेकर भ्रमर के समान उन जीवों की काया बनाई जावे, तो तीन

* वर्तमान काल में सांख्यमत के साधु नहीं हैं, जिस समय में वे विद्यमान थे, उस समय में उन का जो वेष तथा आचार था, उस का यह वर्णन है।

लोक में वे जीव न समा सकेंगे । [इति गजनकविचारो मीमांसायाम्]

यह सांख्य भी एक प्राचीन, अरु एक नवीन ऐसे दो तरे के हैं । नवीनों का दूसरा नाम पातंजल भी कहते हैं । इन में प्राचीन सांख्य, ईश्वर को नहीं मानते हैं, अरु नवीन सांख्य ईश्वर को मानते हैं । जो निरीश्वर हैं, उन का नारायण देव है, अरु उन के जो आचार्य हैं, सो विष्णु प्रतिष्ठाकारक तथा चैतन्य प्रमुख शब्दों करके कहे जाते हैं । अरु सांख्य मत के आचार्य कपिल, आसुरी, पंचशिख, भार्गव, उलूक, और ईश्वरकृष्ण प्रभृति हैं । सांख्यमत वालों को कापिल भी कहते हैं । तथा कपिल का परमर्षि ऐसा दूसरा भी नाम है । इस वास्ते तिन को पारमर्ष कहते हैं । वाराणसी (बनारस) में ये बहुत होते हैं । तथा एक मास का उपवास करने वाले बहुत से ब्राह्मण अर्चिमार्ग से विरुद्ध धूममार्ग के अनुगामी है । परन्तु सांख्यमतानुयायी तो अर्चिमार्ग का ही अवलम्बन करते हैं । इस वास्ते ब्राह्मण जो हैं सो वेदप्रिय होने से यज्ञमार्ग के अनुगामी हैं, और सांख्यमत वाले जो हैं, सो हिंसायुक्त वेद से पराङ्मुख होते हुए अध्यात्म मार्ग का अनुसरण करते हैं । अपने मत की महिमा ऐसी मानते हैं:—

हस पिब च खाद मोद,
नित्यं भुंक्ष्व च भोगान् यथाऽभिकामम् ।

यदि विदितं कपिलमतं,
तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥

पंचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः ।
शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थः—जेकर तुमने कपिल मत जाना है, तो हंसो, पियो, खेलो, खाओ, सदा खुशी रहो, जैसे रुचि होवे, तैसे भोगों को सदा भोगो, तो तुम को थोड़े से काल में मुक्ति का सुख प्राप्त हो जावेगा। पचीस तत्त्वों का जो जानकार होवे, सो चाहे किसी आश्रम में रहे, शिखावाला होवे, वा मुण्डित होवे, अथवा जटावाला होवे, वे सर्व उपाधि से छूट जाता है, इस में संशय नहीं।

अब सांख्यमत में सर्व सांख्यवादी, पच्चीस तत्त्व मानते हैं।

दुःखत्रय

जब यह पुरुष तीन दुःखों से अभिहत होता है, तब तिन दुःखों के दूर करने के वास्ते जिज्ञासा उत्पन्न होती है। सो तीन दुःख यह हैं:—१. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक, ३. आधिभौतिक। आध्यात्मिक जो दुःख है, सो दो प्रकार का है, एक शारीरिक, दूसरा मानसिक। तहां जो वायु, पित्त, श्लेष्म, इन तीनों की विषमता से देह में जो अतिसारादिक होते हैं, सो शारीरिक है। अरु विषयों के देखने से जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि होवे, सो मानसिक दुःख है। यह दोनों ही

आंतरिक उपाय से दूर हो सकते हैं, इस वास्ते इन को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। २. जो दुःख मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सर्प, स्थावर आदि के निमित्त करके होता है, तिस को आधिभौतिक कहते हैं, ३. तथा यक्ष, राक्षस, भूतादिक का प्रवेश हो जाना, महामारी, अनावृष्टि अतिवृष्टि का होना, तिस का नाम आधिभौतिक है। अन्तिम दो दुःख बाह्य हैं, क्योंकि बाह्य उपाय से साध्य हैं। इन तीनों दुःखों करके दुःखो हुए प्राणियों के दुःखों के दूर करने को वास्ते तत्त्वों के जानने की इच्छा होती है। सो वे तत्त्व पच्चीस हैं।

तीन गुणों का स्वरूप

अब इन का स्वरूप लिखते हैं। तिन में प्रथम सत्त्वादि गुणों का स्वरूप कहते हैं। प्रथम सत्त्वगुण सुख लक्षण, दूसरा रजोगुण दुःख लक्षण, तीसरा तमोगुण मोहलक्षण है। इन तीनों गुणों के यह लिंग हैं:—सत्त्वगुण का चिन्ह प्रसन्नता, रजोगुण का चिन्ह संताप, तमोगुण का चिन्ह दीनपना। प्रसाद, बुद्धि पाटव, लाघव, प्रश्रय, अनभिष्वंग, अद्वेष, प्रीति आदि, यह सत्त्वगुण के कार्यलिंग हैं। ताप, शोष, भेद, चलचित्तता, स्तंभ, उद्वेग, यह रजोगुण के कार्य लिंग हैं। दैन्य, मोह, मरण, सादन, बीभत्सा, अज्ञानगौर-वादि, यह तमोगुण के कार्यलिंग हैं। इन कार्यों के द्वारा सत्त्वादि गुण जाने जाते हैं। जैसे कि लोक में किसी पुरुष को जो कुछ सुख उपलब्ध होता है, सो आर्जव, मार्दव, सत्य,

शौच, लज्जा, शुद्धि, क्षमा, अनुकंपा, प्रसादादि रूप है, यह सर्व सत्त्व गुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ दुःख उपलब्ध होता है, सो द्वेष, द्रोह, मत्सर, निंदा, वंचन, बंधन, तापादि रूप है, सो रजोगुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ मोह, उपलब्ध होता है, सो अज्ञान, मद, आलस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिकता, विषाद, उन्माद स्वप्नादि रूप हैं, यह तमोगुण के कार्य हैं। इन परस्परोपकारी सत्त्वादिक तीन गुणों करके सर्व जगत् व्याप्त है। परन्तु ऊर्ध्व लोक में देवताओं विषे बाहुल्य करके सत्त्वगुण है, अधोलोक, तिर्यंच और नरकों विषे बाहुल्य करके तमोगुण है, तथा मनुष्यों में बहुलता करके रजोगुण है।

इन तीनों गुणों की जो सम अवस्था है, तिस का नाम प्रकृति है तिस प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं। सो प्रकृति नित्य स्वरूप है। "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं नित्यम्" यह नित्य का लक्षण है। अरु यह जो प्रकृति है, सो अनवयवा, असाधारणी, अशब्दा, अस्पर्शा, अरसा, अरूपा, अगंधा, अव्यया कही जाती है। जो मूल सांख्यमती हैं, वे एक एक आत्मा के साथ न्यारा न्यारा प्रधान मानते हैं, अरु जो नवीन सांख्यवादी हैं, वे सर्वात्माओं में एक नित्य प्रधान मानते हैं। प्रकृति अरु आत्मा के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, इस वास्ते सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम लिखते हैं।

पच्चीस तत्त्वों का स्वरूप

तिस प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न होती है । पुरोवर्त्ती गौ आदि के दीखने से, यह गौ ही है, घोड़ा नहीं, तथा यह स्थाणु ही है, पुरुष नहीं, ऐसा निश्चयरूप जो अध्यवसाय होता है, तिस का नाम बुद्धि है, इस का दूसरा नाम महत् है । तिस बुद्धि के आठ रूप हैं— धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यह चार तो सात्त्विक रूप हैं, और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, यह चार तामस रूप हैं। तिस बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है, तिस अहंकार से सोलां प्रकार का गण-पदार्थों का समूह उत्पन्न होता है । सो गण यह है-१. स्पर्शन-त्वक् २. रसन-जिह्वा, ३. घ्राण-नासिका, ४. चक्षुः-लोचन, ५. श्रोत्र-श्रवण, इन पांचों को बुद्धींद्रिय कहते हैं । यह पांचों अपने अपने विषय को जानती हैं । अरु यह पांच कर्मेन्द्रिय हैं—१. पायु-गुदा, २. उपस्थ-स्त्री पुरुष का चिन्ह, ३. वाक्, ४. हाथ और ५. पग हैं । इन पांचों से १. मलोत्सर्ग, २. संभोग, ३. बोलना ४. पकड़ना, ५. चलना ये पांचों काम होते हैं इस वास्ते इन पांचों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं । अरु अग्यारवां मन । यह जो मन है, सो जब बुद्धींद्रियों से मिलता है, तब बुद्धींद्रियरूप हो जाता है, अरु जब कर्मेन्द्रियों से मिलता है, तब कर्मेन्द्रिय रूप हो जाता है । तथा यह मन संकल्प विकल्प रूप है। तथा अहंकार से पांच तन्मात्रा जिनकी सूक्ष्म संज्ञा है, उत्पन्न होती

हैं। १. रूपतन्मात्रा—सो शुक्ल कृष्णादिरूप विशेष, २. रस-तन्मात्रा–सो तिक्तादि रस विशेष,३. गंधतन्मात्रा—सो सुरभि आदि गंध विशेष, ४. शब्दतन्मात्रा–सो मधुरादि शब्द विशेष, ५. स्पर्शतन्मात्रा–सो मृदु काठिन्यादि स्पर्श विशेष है। यह षोडशक गण है। इन पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यथा—रूपतन्मात्रा–से अग्नि उत्पन्न होती है। रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। गंधतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है। और शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। तथा स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होता है। ऐसे पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यह सब मिल कर चौवीस तत्त्वरूप प्रधान सांख्य मत में निवेदन किया। अर्थात् प्रकृति, महान्, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, पांच तन्मात्रा, पांच भूत, यह चौवीस तत्त्व कहे हैं। इन में से प्रधान केवल प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं है। और बुद्धि आदिक सात अपने से उत्तरवर्त्ती के कारण और पूर्ववर्त्ती के कार्य हैं, इस वास्ते इन सातों को प्रकृति विकृति कहते हैं। षोडशक गण तो कार्यरूप होने से विकृति रूप ही है। तथा पुरुष जो है, सो न प्रकृति है, न विकृति है, क्योंकि वह न किसी से उत्पन्न हुआ है, न किसी को उत्पन्न करता है। तथा सांख्य मत के आचार्य ईश्वरकृष्ण सांख्यसप्तति नामक ग्रन्थ में लिखते हैं:—

मूलप्रकृतिरविकृति र्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो, न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः ॥

[कारिका ३]

अर्थः—मूल प्रकृति अविकृति है, महत् आदिक सात प्रकृति विकृति उभयरूप हैं, तथा षोडशक गण केवल विकार-विकृति ही हैं; और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति, अर्थात् न किसी को उत्पन्न करता है और न किसी से उत्पन्न होता है। तथा महदादिक जो प्रकृति का विकार हैं, सो व्यक्त हो कर फिर अव्यक्त भी हो जाते हैं, अर्थात् अनित्य होने से अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं, अरु प्रकृति जो है, सो अविकृतिरूप है, अर्थात् कदापि अपने स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होती। तथा महदादि अरु प्रकृति का स्वरूप सांख्यमत वाले ऐसे मानते हैं:—हेतुमत्, अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव, और परतंत्र तो व्यक्त—महदादिक हैं। इन से विपरीत प्रकृति है*। इस का तात्पर्य यह है, कि महदादिक—१. हेतुमत्—कारण वाले हैं, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, २. अनित्य—उत्पत्ति धर्मवाले हैं; ३. अव्यापी-सर्वगत नहीं हैं, ४. सक्रिय-सव्यापार-अध्यवसाय आदि क्रिया वाले हैं, ५. अनेक-तेवीस

* हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतंत्रं, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ [सां० स०, का० १०]

प्रकार के हैं, ६. आश्रित—आत्मा के उपकार के वास्ते प्रधान का अवलंब लेकर स्थित हैं, ७. लिंग [लयं लयं गच्छतीति लिंगम्]—जो जिस से उत्पन्न होते हैं, सो तिस ही में लय हो जाते हैं। पांच भूत, पांच तन्मात्राओं में लय होते हैं, और पांच तन्मात्रा, अरु दश इन्द्रिय, तथा मन, यह अहंकार में लय होते हैं, अरु अहंकार बुद्धि में लय होता है, अरु बुद्धि प्रकृति में लय होती है, और प्रकृति किसी में भी लय नहीं होती है। ८. सावयव–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादिकों करके संयुक्त हैं, ९. परतंत्र–कारण के अधीन होने से परवश हैं। प्रकृति इन से विपरीत है। सो सुगम है, आपही समझ लेनी। यह थोड़ा सा स्वरूप लिखा है, जेकर विस्तार देखना होवे तो सांख्यसप्तति आदिक सांख्य मत के शास्त्रों से देख लेना।

अब पच्चीसवें पुरुष तत्त्व का स्वरूप कहते हैं।

पुरुषतत्त्व का स्वरूप

* "अकर्त्ता विगुणो भोक्ता नित्यचिदभ्युपेतश्च पुमान्"—पुरुष तत्त्व आत्मा को कहते हैं। आत्मा जो है, सो विषय सुख आदि के कारणभूत पुण्यादि के करने वाला नहीं है, इस वास्ते 'अकर्त्ता' है। आत्मा तृण मात्र भी तोड़ने में समर्थ नहीं है, अतः कर्त्ता जो है, सो प्रकृति ही है;

* "अन्यस्त्वकर्ता विगुणश्च भोक्ता,
तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः"। [षड्० स०, श्लो० ४१]

क्योंकि प्रकृति प्रवृत्ति स्वभाव वाली है। तथा आत्मा 'विगुण'—सत्त्वादि गुण रहित है; क्योंकि सत्त्वादिक जो हैं सो प्रकृति के धर्म हैं। तथा 'भोक्ता'—भोगने वाला है, भोक्ता भी साक्षात् नहीं, किंतु प्रकृति का विकारभूत, उभय मुख दर्पणाकार जो बुद्धि है, तिस में संक्रांत हुवे सुख दुःखादि के, अपने निर्मल स्वरूप में प्रतिबिम्बित होने से, वह भोक्ता कहलाता है—"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" इति वच-नात्। जैसे जाई के फूलों के सन्निधान के वश से स्फटिक में रक्तादि का व्यपदेश होता है, अर्थात् यह स्फटिक रक्त है, ऐसा कहने में आता है। तैसे ही प्रकृति के निकट होने से पुरुष भी सुख दुःखादि का भोक्ता कहा जाता है। सांख्य-मत के वादमहार्णव में भी कहा है:—

*बुद्धिदर्पणसंक्रांतमर्थप्रतिबिंबकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य नत्वात्मनोविकारा-पत्तिरिति।

तथा कपिल का शिष्य आसुरि भी कहता है—

---

* बुद्धिरूप दर्पण में पड़ने वाला पदार्थों का प्रतिबिम्ब दूसरे दर्पण सदृश पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। इस बुद्धि के प्रतिबिम्ब का पुरुष में प्रतिबिम्बित होना—झलकना ही पुरुष का भोग है। इसी से उस को भोक्ता कहते हैं। आत्मा में इस से कोई विकार नहीं होता।

*विविक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिंबोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

तथा सांख्याचार्य विंध्यवासी तो आत्मा को ऐसे भोक्ता कहता है—

‡ पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥

तथा वह आत्मा, "नित्यचिदाभ्युपेतः"—नित्य जो चित्-चेतना, उस करके युक्त अर्थात् नित्य चैतन्य स्वरूप है। इस कहने से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष ही चैतन्य स्वरूप है, ज्ञान नहीं। क्योंकि वह ज्ञान बुद्धि का धर्म है। तथा 'पुमान्' यह एक वचन जाति की अपेक्षा से है, वैसे आत्मा तो

* जिस प्रकार स्वच्छ जल में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल का ही विकार है, चन्द्रमा का नहीं। उसी प्रकार आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से, उस में जो भोक्तृत्व है, वह मात्र बुद्धि का विकार है, पुरुष—आत्मा का नहीं। आत्मा तो वस्तुतः निर्विकार ही है।

‡ जैसे जपाकुसुम के संयोग से स्फटिक रत्न लाल प्रतीत होता है। उसी प्रकार यह अविकारी चेतन—आत्मा, सन्निधान से अचेतन मन को अपने समान चेतन बना लेता है। तब इस में भोक्तृत्व का अभिमान होने लगता है।

अनन्त हैं । क्योंकि जन्म मरण की व्यवस्था और धर्माधर्म विषयक भिन्न प्रवृत्ति से यह बात सिद्ध है । वे सर्व आत्मा व्यापक अरु नित्य हैं ।

*अमूर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥

सांख्यमत में प्रमाण तीन माने हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द । इस मत को सांख्य वा शांख्य इस वास्ते कहते हैं, कि संख्या-प्रकृति, आदि पचीस तत्त्व रूप, तिन को जो जाने, वा पढ़े, सो सांख्य । तथा जेकर तालवी शकार से बोलें, तब इन के मत में शंख की ध्वनि होती है ऐसी वृद्धों की आम्नाय होने से यह नाम है । तथा शंख नाम का कोई आद्य पुरुष हुआ है, उस की संतान-परंपरा में होने वालों का दर्शन शांख्य या सांख है ।

मीमांसा मत का स्वरूप

अथ मीमांसक का मत लिखते हैं । इस का दूसरा नाम जैमिनीय भी कहते हैं । इस मत वाले सांख्यमत की तरे एक दण्डी, त्रिदण्डी होते हैं । धातु रक्त वस्त्र पहिरते हैं, मृगचर्म के आसन पर बैठते हैं, कमण्डल पास रखते हैं, शिर मुण्डा कर रखते हैं, ऐसे संन्यासी प्रमुख द्विज इस मत में

* कपिल दर्शन में आत्मा को अमूर्त्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, क्रियारहित, अकर्त्ता, निर्गुण और सूक्ष्म माना है ।

होते हैं। तिन का वेद ही गुरु है, और कोई वक्ता गुरु नहीं। वे स्वयं अपने आपको सन्यस्त २ कहते हैं, यज्ञोपवीत को प्रक्षाल करके तीन वार जल पीते हैं। वोह मीमांसक दो प्रकार के हैं—एक याज्ञिकादि—पूर्व मीमांसावादी और दूसरे उत्तर-मीमांसावादी हैं। इन में पूर्वमीमांसावादी जो हैं, सो कुकर्म के त्यागी, यजनादिक षट् कर्म के करने वाले, ब्रह्मसूत्र के धारक, गृहस्थाश्रम में स्थित और शूद्र के अन्नादि का त्याग करने वाले होते हैं। इन के भी दो भेद हैं, एक *भाट्ट, दूसरे ÷ प्राभाकर। उस में भाट्ट छः प्रमाण मानते हैं, अरु प्राभाकर पांच मानते हैं। तथा जो उत्तरमीमांसक हैं, सो वेदांती कहलाते हैं। अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं। "सर्वमेवेदं ब्रह्मेति भाषंते"—यह सारा विश्व ब्रह्म का ही रूप है, ऐसे कहते हैं। तथा प्रमाण देते हुए यह भी कहते हैं, कि एक ही आत्मा सर्व शरीरों में उपलब्ध होता है। यथा—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचंद्रवत् ॥
"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमिति"।

तथा—आत्मा ही में लय हो जाना मुक्ति मानते हैं। इस के अतिरिक्त और कोई मुक्ति नहीं मानते। सो मीमांसक

---

* भट्ट के अनुयायी। ÷ प्रभाकर के अनुयायी।

द्विज ही चार प्रकार के हैं—१. कुटीचर, २. बहूदक, ३. हंस, ४. परमहंस, तिन में १–त्रिदण्डी, सशिख ब्रह्मसूत्री, गृहत्यागी, यजमानपरिग्रही, एक वार पुत्र के घर में भोजन करके, कुटी में बसने वाले को कुटीचर कहते हैं । २. कुटीचर के समान वेष रखने वाला, विप्र के घर में नीरस भिक्षा करने वाला, विष्णुजाप करने वाला और नदी के तीर पर रहने वाला जो हो, तिस को बहूदक कहते हैं । ३. जो ब्रह्मसूत्र, शिखा करके रहित, कषाय वस्त्र और दंडधारी, ग्राम में एक रात्रि अरु नगर में तीन रात्रि रहता है, धूम रहित जब अग्नि हो जावे, तब ब्राह्मण के घर में भोजन करता है, तप करके शोषित शरीर, देश विदेश में फिरता रहता है, तिसको हंस कहते हैं । हंस को जब ज्ञान हो जाता है, तब वह चारों वर्णों के घर में भोजन कर लेता है, अपनी इच्छा से दण्ड रखता है, ईशान दिशा के सन्मुख जाता है, जेकर शक्ति हीन हो जावे, तब अनशन ग्रहण करता है । ४. जो एक मात्र वेदान्त का स्वाध्यायी हो, तिस को परमहंस कहते हैं । इन चारों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं । तथा ये चारों ही केवल ब्रह्माद्वैतवाद के पक्षपाती होते हैं ।

सर्वज्ञ चर्चा

अब पूर्वमीमांसावादियों का मत विशेष करके लिखते हैं । जैमिनी मत वाले कहते हैं, कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, सृष्टि आदि का कर्त्ता, इन पूर्वोक्त विशेषणों वाला कोई भी देव नहीं है,

कि जिस का वचन प्रामाणिक माना जावे। प्रथम तो कहने वाला कोई देव ही सिद्ध नहीं हो सकता, फिर उसके रचे हुए शास्त्र कैसे प्रामाणिक हो सकते हैं। तथा उस की असिद्धि में यह अनुमान भी है। यथः—पुरुष सर्वज्ञ नहीं, मनुष्य होने से, रथ्यापुरुषवत्।

प्रश्नः—किंकर होकर जिसकी असुर, सुर सेवा करते हैं, और तीन लोक के ऐश्वर्य के सूचक छत्र चामरादि जिस की विभूति हैं, सो सर्वज्ञ है, विना सर्वज्ञ के इस प्रकार की लोकोत्तर विभूति क्योंकर हो सकती है ?

उत्तरः—यह विभूति तो इन्द्रजालिया भी बना सकता है। इस बात का साक्षी तुमारे जैनमत का समंतभद्र आचार्य भी है। यथा—

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान्॥

[आ० मी० श्लो० १]

प्रश्नः—जैसे अनादि सुवर्ण मल को क्षार तथा मृत्पुटपाकादि की क्रिया विशेष से दूर कर देने पर सुवर्ण सर्वथा निर्मल हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी निरंतर ज्ञानादिकों के अभ्यास से मल रहित होकर सर्वज्ञता को प्राप्त कर सकता है, अर्थात सर्वज्ञ हो जाता है।

उत्तरः—यह कहना भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि

अभ्यास करने से भी बुद्धि की तरतमता ही होती है, परम प्रकर्ष नहीं। जो पुरुष कूदने का, छलांग मारने का, अभ्यास करेगा, वो दस हाथ कूद जावेगा, बीस हाथ कूद जावेगा, अधिक से अधिक पचास हाथ कूद जावेगा, परन्तु शत योजन तक अथवा सर्व लोक को कूद के चले जाने का अभ्यास उसे कदापि नहीं हो सकेगा। ऐसे ही आत्मा भी अभ्यास के द्वारा अधिक विज्ञ तो हो सकता है किन्तु सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

प्रश्नः—मनुष्य को सर्वज्ञता मत हो, परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वरादि तो सर्वज्ञ हैं, क्योंकि तिन को तो जगत् ईश्वर मानता है। अतः उन में ज्ञान के अतिशय की सम्पत्ति का भी सम्भव हो सकता है। इस बात को कुमारिल ने भी कहा है, कि दिव्य देह ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वर, ये सर्वज्ञ भले होवे, परन्तु मनुष्य को सर्वज्ञता क्यों कर हो सकती है ?

उत्तरः—जो राग द्वेष में मग्न हैं, और निग्रह अनुग्रह में ग्रस्त हैं, काम सेवन में तत्पर हैं, ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, क्योंकर सर्वज्ञ हो सकते हैं ? तथा प्रत्यक्ष प्रमाण भी सर्वज्ञता का साधक नहीं है, कारण कि इन्द्रियें वर्त्तमान वस्तु ही को ग्रहण करती हैं। अरु अनुमान से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। एवं आगम भी सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाले नहीं। क्योंकि सर्व आगम विवादास्पद हैं। उपमान

भी नहीं, क्योंकि दूसरा सर्वज्ञ कोई होवे, तब उपमान बने। तैसे ही अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अन्यथा अनुपपद्यमान ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिस के होने से सर्वज्ञ सिद्ध होवे। जब भावग्राहक पांचों प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध न हुआ, तब तो सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय सिद्ध हुआ। तथा यह अनुमान भी सर्वज्ञ के अभाव को ही सिद्ध करता है। यथा, सर्वज्ञ नहीं है प्रत्यक्षादि अगोचर होने से, शशशृंगवत्। जब कि कोई सर्वज्ञ देव नहीं, और उस सर्वज्ञ देव का कहा हुआ कोई शास्त्र नहीं। तब अतींद्रिय अर्थ का ज्ञान कैसे होवे? ऐसी आशंका करके जैमिनी कहता है, कि इस संसार में "अतींद्रिय"—इन्द्रियों के अगोचर आत्मा, धर्माधर्म, काल, स्वर्ग, नरक, और परमाणु प्रमुख जो पदार्थ हैं, तिन का साक्षात् [करतलामलकवत्] देखने वाला कोई नहीं। इस हेतु से नित्य जो वेद वाक्य हैं, तिन ही से यथार्थ तत्त्व का निश्चय होता है। क्योंकि वेद जो हैं, सो अपौरुषेय हैं, एतावता किसी के रचे हुये नहीं, अनादि नित्य हैं। तिन वेद वचनों से ही अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, परन्तु किसी सर्वज्ञ के कहे हुये आगम से नहीं होता। क्योंकि सर्वज्ञ, कोई न हुआ है, न वर्त्तमान में है, न आगे को कोई होवेगा। यथा—

* अतींद्रियाणामर्थानां, साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते ।
वचनेन हि नित्येन, यः पश्यति स पश्यति ॥

प्रश्नः—अपौरुषेय वेदों का अर्थ कैसे जाना जावे ?

उत्तरः—हमारी जो अव्यवच्छिन्न अनादि परंपरा है, तिस से जाना जाता है। अतः प्रथम वेदों का ही पाठ प्रयत्न से करना चाहिये। वेद चार हैं—ऋग्, यजुष्, साम, अथर्व। इन चारों का पाठ करने के अनन्तर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये। धर्म जो है, सो अतींद्रिय है। वह कैसा है ? उस को किस प्रमाण से जानें ? ऐसी जो जानने की इच्छा है, तिस का नाम जिज्ञासा है। वो जिज्ञासा धर्म-साधनी है—धर्म साधने का उपाय है। इस का निमित्त नोदना—वेद वचन-कृत प्रेरणा है। तिस के निमित्त दो हैं। एक जनक, दूसरा ग्राहक। यहां पर ग्राहक ही निमित्त जानना चाहिये। इस का विशेष स्वरूप कहते हैं:—

श्रेय साधक कार्यों में जिस के द्वारा जीवों को प्रवृत्त किया जावे, सो नोदना—वेद वचनकृत प्रेरणा है। धर्म जो है, सो नोदना करके जाना जाता है। इस वास्ते नोदना लक्षण धर्म है। उस का ज्ञान अतींद्रिय होने करके नोदना ही से हो सकता है। किसी प्रत्यक्षादिक प्रमाण से नहीं,

* अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाला, इस संसार में कोई नहीं है। अतः नित्य वेदवाक्यों से जो देखता है, वही देखता है।

क्योंकि प्रत्यक्षादिक विद्यमान के उपलंभक हैं। अरु धर्म जो है, सो कर्त्तव्यतारूप है, तथा कर्त्तव्यता जो है, सो त्रिकाल स्वभाव वाली है। तिस कर्त्तव्यता का ज्ञान नोदना ही उत्पन्न करा सकती है, यही मीमांसकों का अभ्युपगम—सिद्धांत है।

अब नोदना का व्याख्यान करते हैं। अग्निहोत्र, सर्व जीवों की अहिंसा और दानादिक क्रिया के प्रवर्त्तक-प्रेरक जो वेदों के वचन, सो नोदना है। जैसे—† "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः"। यह प्रवर्त्तक वेद वचन है, तथा निवर्तक वेद वचन-"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि, तथा न वै हिंस्रो भवेत्"। इत्यादि। इन प्रवर्तक और निवर्तक वेद वचनों से प्रेरित हुआ पुरुष जिन द्रव्य, गुण, कर्मादि के द्वारा हवनादि में प्रवृत्त और उनसे निवृत्त होता है, उस अनुष्ठान से उसके अभीष्ट स्वर्गादि फल की जिस से सिद्धि होती है, उस का नाम धर्म है। इसी प्रकार उक्त वेद वचनों से प्रेरित हुआ भी यदि प्रवृत्त अथवा निवृत्त नहीं होता, तो उस से उस को अनिष्ट नरकादि फल की जिस से प्राप्ति होती है, वह अधर्म है। तात्पर्य कि, अभीष्ट फल के देने वाला धर्म और अनिष्ट फल का सम्पादन करने वाला अधर्म है। शाबरभाष्य में भी ऐसे ही कहा है*।

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्नि होत्र करे।

* य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।

[अ० १ पा० १ सू० २ का भाष्य]

यह जैमिनी षट् प्रमाण मानता है, १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द, ४. उपमान, ५. अर्थापत्ति, और ६. अभाव। इन का विस्तार षड्दर्शनसमुच्चय की बड़ी टीका से जान लेना।

यह पांच दर्शन आस्तिक कहे जाते हैं, छठा जैन दर्शन है, तिस का स्वरूप अगले परिच्छेद में लिखा जायगा। तथा नास्तिक जो है, सो दर्शन में नहीं, "नास्तिकं तु न दर्शनमिति राजशेखरसूरिकृतषड्दर्शनसमुच्चयवचनात्।" तो भी भव्य जीवों के जानने वास्ते कछुक स्वरूप लिखते हैं।

चार्वाक मत का स्वरूप

कपाली, भस्म लगाने वाले, योगी, ब्राह्मण से ले कर अन्त्यज पर्यन्त कितनेक नास्तिक हैं। तिन के मत को लोकायन और चार्वाक कहते हैं। ये जीव, परलोक और पुण्य पापादि कुछ नहीं मानते। चारभौतिक देह को ही आत्मा मानते हैं, तथा सर्व जगत् चार भूतों से ही उत्पन्न हुआ मानते हैं। और पांचवें भूत आकाश को भी मानते हैं। इन के मत में पंच भूतात्मक जगत् है। इन के मत में पृथिवी आदि भूतों सेती ही, मद्यशक्ति की तरे चैतन्य उत्पन्न होता है। पानी के बुलबुले की तरे जो शरीर है, वही जीव—आत्मा है। इस मत वाले मद्य मांस खाते हैं, तथा माता, बहिन, बेटा आदिक जो अगम्य हैं, तिन से भी गमन कर लेते हैं। वे, नास्तिक प्रति वर्ष एक दिन सर्व एक जगे में एकठे होते हैं, स्त्रियों से विषय सेवन करते हैं। ये नास्तिक, काम से

अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं मानते। काम का सेवन करना ही इनके मत में पुरुषार्थ है।

चार्वाक मत की उत्पत्ति

इस मत की उत्पत्ति, जैनमत के शीलतरंगिणी नामक शास्त्र में ऐसे लिखी है। एक बृहस्पतिनामा ब्राह्मण था, उस का दूसरा नाम वेदव्यास भी था, उस की एक बहिन थी। वो बालविधवा हो गई। उस के सुसराल में ऐसा कोई न था, जिस के आश्रय से वो अपना जीवन व्यतीत करती, तातें निराधार होकर, वह अपने भाई के घर में आ रही, वो अत्यंत रूपवाली युवती थी, उस का जो भाई था, तिस की भार्या मृत्यु को प्राप्त हो गई थी। जब बृहस्पति को काम ने अत्यंत पीडित किया, तब उसको अपनी बहिन के साथ विषय सेवन की इच्छा भई। अपनी बहिन से उस ने प्रार्थना करी, कि हे भगिनी! मेरे साथ तूं संभोग कर, तब तिस की बहिन ने कहा कि हे भाई! यह बात उभयलोक विरुद्ध है, क्योंकि प्रथम तो मैं तेरी बहिन हूं, जेकर भाई के साथ विषय भोग करूंगी तो अवश्यमेव नरक में जाऊंगी, और यदि यह बात जगत् में प्रसिद्ध हो गई, तो लोग मुझ को धिक्कार देवेंगे, इस वास्ते यह नीच काम मैं नहीं करूंगी। बहन की बात को सुन कर बृहस्पति ने अपने मन में सोचा, कि जब तक इसके मन से पाप अरु नरकादिकों का भय दूर नहीं होगा, तब तक यह मेरे साथ कभी संभोग न करेगी। अतः

इस का कुछ उपाय करना चाहिये । ऐसा विचार करके उस ने बृहस्पति सूत्र रचे, तिन सूत्रों मे पुण्य, पाप, और स्वर्ग, नरक का अभाव सिद्ध किया । तथा अपनी बहिन को वे सूत्र सुना कर उस का विचार भी बदल दिया। तब तिस की बहिन ने अपने मन में विचार करा, कि यह जो शरीर है, सो तो पांचभौतिक है, अरु इस शरीर से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई पदार्थ है नहीं। तो फिर पुण्य, पाप, नरक, आदि के भय से तथा मूर्ख लोकों की विडंबना के विचार से अपने यौवन को वृथा क्यों खोऊं ? ऐसा विचार करके वह अपने भाई के साथ विषयभोग करने में लिप्त हो गई। जब लोगों को यह बात जान पड़ी, तब लोग निंदा करने लगे । इस पर बृहस्पति ने निर्लज्ज हो कर लोगों को नास्तिक मत का उपदेश करना आरम्भ कर दिया। जो लोग अत्यंत विषयी अरु अज्ञानी थे, वे सब उस के शिष्य हो गए। कितनेक काल पीछे उन के शिष्यों ने अपने मत को प्रतिष्ठित करने के वास्ते कहा, कि यह जो हमारा मत है, सो देवताओं के गुरु जो बृहस्पति हैं, तिनका चलाया हुआ है, अरु बृहस्पति से अन्य दूसरा कोई बुद्धिमान् नहीं है, इस वास्ते हमारा मत सच्चा है। इस बृहस्पति का हमारे चौबीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीर से पहिले होना प्रमाणसिद्ध है, क्योंकि श्रीमहावीर जी के कथन करे हुए शास्त्रों में चार्वाक मत का निरूपण है। इस प्रकार से चार्वाक मत की उत्पत्ति है।

इस मत का नाम चार्वाक, लोकायत आदि है। "चर्व् अदने, चर्वंति भक्षयंति तत्त्वतो न मन्यंते पुण्यपापादिकं परोक्षवस्तु-जातमिति चार्वाकाः, मयाकश्यामाकेत्यादि-सिद्धहैमोणा-दिदण्डकेन शब्दनिपातनम। लोका निर्विचाराः सामान्या लोकास्तद्वदाचरंति स्मेति लोकायताः, लोकायतिका इत्यपि, बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति"—चर्व् जो धातु है, सो भक्षण अर्थ में है, चर्वण-भक्षण जो करे, तात्पर्य कि जो पुण्य पापादिक परोक्ष वस्तुसमूह को न माने, सो चार्वाक। मयाक श्यामाक इत्यादि सिद्धहैमव्याकरण के उणादिदण्डक के द्वारा निपात से सिद्ध है। तथा लोक—निर्विचार, सामान्य लोगों की तरें जो आचरण करते हैं, वे लोकायत और लोकायतिक हैं। तथा बृहस्पति के प्ररूपे मत को मानने से इनको बार्हस्पत्य भी कहते हैं।

चार्वाक की मान्यताएं

अब चार्वाक का मत लिखते हैं। वे इस प्रकार से कहते हैं, कि जीव-चेतना लक्षण परलोक में जाने वाला नहीं है। पांच महाभूत से जो चेतन उत्पन्न होता है, सो भी यहां ही भूतों के नाश होने से नष्ट हो जाता है। जेकर जीव पर-लोक से आया होवे, तब तो उसे परलोक का स्मरण होना चाहिये, परन्तु होता नहीं है। इस वास्ते जीव न परलोक से आया है, अरु न परलोक में जाने वाला है। तथा जीव के स्थान में जो 'देव' ऐसा पाठ मानिये, तब यह

कहना होगा कि सर्वज्ञादि विशेषण विशिष्ट कोई देव नहीं है। तथा मोक्ष भी नहीं, धर्माधर्म नहीं, पुण्य पाप नहीं, पुण्य पाप का जो फल—नरक, स्वर्ग, सो भी नहीं है। तथाहि—

एतावानेव लोकोऽयं, यावानिंद्रियगोचरः।
भद्रे वृकपदं पश्य, यद्वदंत्यबहुश्रुताः॥

[षड्० स०, श्लो० ८१]

अर्थः—इतना ही मनुष्य लोक है, जितना कि प्रत्यक्ष देखने में आता है। क्योंकि जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, सोई पदार्थ है, और दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है। यहां पर लोक शब्द से लोक में रहे हुए पदार्थों का ग्रहण करना। तथा इस लोक से भिन्न जो जीव, पुण्य, पाप, अरु तिन का फल जो स्वर्ग नरकादिक कहे जाते हैं, सो अप्रत्यक्ष होने से नहीं हैं। जेकर अप्रत्यक्ष को भी माना जावे तब तो शशशृंग, वंध्यापुत्रादि भी होने चाहिये। अतः पंचविध प्रत्यक्ष करके यथाक्रम—१. मृदु कठोरादि वस्तु, २. तिक्त, कटु, कषायादि द्रव्य, ३. सुगन्ध दुर्गन्ध रूप गन्ध, ४. भू, भूधर, भुवन, भूरुह, स्तंभ, कुम्भ, अम्भोरुहादि, नर, पशु, श्वापदादि, स्थावर, जंगम प्रमुख पदार्थों का समूह, ५. विविध वेणु, वीणादि वाद्य की ध्वनि, इन पांचों के बिना और कुछ भी नहीं प्रतीत होता। जब कि पांच भूतों से

अतिरिक्त नरक स्वर्ग में जाने वाला जीव, प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ। तो जीवों के सुख दुःख का कारण धर्माधर्म है, और धर्माधर्म के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट फल भोगने की भूमि स्वर्ग नरक है, तथा पुण्य पाप के सर्वथा क्षय होने से मोक्ष का सुख मिलता है। यह सब पूर्वोक्त वर्णन ऐसा है, जैसा कि आकाश में चित्राम करना है। क्योंकि जीव का न तो किसी ने स्पर्श किया है, न किसी ने खाकर उस का स्वाद चखा है, न किसी ने सूंघा है, न किसी ने देखा है, न किसी ने सुना है। तो फिर वे मूढ़-मति किस वास्ते जीव को मान करके, स्वर्गादि सुखों की इच्छा करके, शिर, दाढ़ी और मूंछ, मुण्डवा करके, नाना प्रकार के दुष्कर तप का अनुष्ठान करके, क्यों शीत, आतप को सहन करके, इस शरीर की विडंबना करते हुए इस मनुष्य जन्म को वृथा ही खराब कर रहे हैं ? वास्तव में यह उन की समझ की विडंबना है। इस वास्ते तप संयमादि सब कुछ बाल क्रीडा के समान है। यथा:—

तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवंचना।
अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत, तावद्वैषयिकं सुखम्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

[षड्० स० श्लो० ८१ की बृ० वृ०]

इस से यह सिद्ध हुआ कि जो इन्द्रियगोचर है, सोई तात्त्विक है। अब जो परोक्ष प्रमाण–अनुमान आगमादि करके जीव अरु पुण्य पापादि को स्थापन करते हैं, अरु कदाचित् स्थापन करने से हटते नहीं हैं, तिन के प्रतिबोध के वास्ते दृष्टान्त कहते हैं–"भद्रे वृकपदं पश्येत्यादि"। इस विषय में यह प्रचलित कथा है —कोई नास्तिक पुरुष अपनी आस्तिक मत विषे दृढ प्रतिज्ञा वाली भार्या को नास्तिक मत में लाने के वास्ते अनेक युक्तियों करके प्रति दिन प्रतिबोध करता था। परन्तु वो प्रतिबोध को प्राप्त नहीं होती थी। तब उसने विचारा, कि यह इस उपाय से प्रतिबोधित होवेगी, ऐसे अपने चित्त में चिंतन करके रात्रि के पिछले प्रहर में स्त्री को साथ लेकर नगर से बाहर निकल करके उस ने अपनी भार्या को कहा, हे वल्लभे! इस नगर के बसने वाले लोग परोक्ष पदार्थों को अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध करते हैं, तथा लोक में बहुत शास्त्रों के पढ़े हुये कहलाते हैं, सो अब तू इन की चतुराई देख। ऐसे कह कर उस ने नगर के दरवाज़े से लेकर चौक तक सूक्ष्म धूली में अपने हाथों से भेड़िये के पंजों का आकार बना दिया। प्रातः-काल में भेड़िये के पंजे को देख कर वहां बहुत से लोग इकट्ठे हो गये, और उन को देख कर कई एक बहुश्रुत भी वहां आगये। उन बहुश्रुत लोगों ने वहां पर एकत्रित हुए लोगों से कहा कि निश्चय ही कोई भेड़िया रात्रि में वन

से यहां पर आया है, अन्यथा भेड़िये के पगों का निशान नहीं हो सकता। तब वह नास्तिक पुरुष निज भार्या को कहने लगा, कि हे भद्रे! "वृकपदं पश्य"—भेड़िये का पंजा तू देख, जिस पंजे को ये अबहुश्रुत भेड़िये का पंजा कहते हैं। लोकरूढि मे यह बहुश्रुत कहलाते हैं, परन्तु परमार्थ से तो ये महा ठोठ हैं। क्योंकि ये परमार्थ तो कुछ जानते नहीं, केवल देखा देखी रौला (शोर) करने लग रहे हैं। परमार्थ से इन का वचन मानने योग्य नहीं है। ऐसे ही बहुत मतों वाले धार्मिक धूर्त्त—धर्म के बहाने दूसरों को ठगने में तत्पर, कल्पित अनुमान आगमादि से जीवादि का अस्तित्त्व सिद्ध करते हुए भोले लोगों को स्वर्गादि सुखों का वृथा ही लोभ दिखा कर, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य, हेयोपादेयादि के संकटों में गिराते हैं। बहुत से मूर्खों के हृदय में धार्मिकता का व्यामोह उत्पन्न करते हैं। इस वास्ते बुद्धिमानों को उन का वचन नहीं मानना चाहिये। यह देख उस स्त्री ने अपने पति की सब बातों को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर वह नास्तिक अपनी भार्या को ऐसे उपदेश देने लगाः-

पिब खाद च चारुलोचने! यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
न हि भीरु! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥

[षड्० स०, श्लो० ८२]

व्याख्याः—हे चारुलोचने—सुन्दर आंखवाली! "पिब"-

तू पी, अर्थात् पेयापेय की व्यवस्था छोड़ कर मदिरापान कर। न केवल मदिरा ही पी, किन्तु "खाद च"—भक्ष्याभक्ष्य की उपेक्षा करके मांसादिक भी खा। तथा गम्यागम्य का विभाग त्याग कर, भोगों को भोग कर अपना यौवन सफल कर। हे वरगात्रि—श्रेष्ठ अंगों वाली! तेरा जो कुछ यौवनादि व्यतीत हो गया, वो तुझ को न मिलेगा। यहां पर यदि कोई शंका करे कि अपनी इच्छा से जो मनमाना खान पान और भोग विलास करेगा, उस को परलोक में कष्ट परंपरा की प्राप्ति बहुत सुलभ है, और,जो यहां सुकृत करेंगे, उन को भवांतर में सुख, यौवनादिक की प्राप्ति सुलभ होगी, ऐसी आशंका को दूर करने के वास्ते वह नास्तिक कहता है। हे भीरु! पर के कहने मात्र से नरकादि दुःखों की प्राप्ति के भय से इस लोक के भोगों से निवृत्त होना, एतावता इस लोक में विषयभोग करके यौवन का सुख तो नहीं लेना, अरु परलोक में हम को यौवनादिक फिर मिलेगा, ऐसे परलोक के सुखों की इच्छा करके, तपश्चरणादि कष्टक्रिया का अनुष्ठान करते हुए जो इस लोक के सुखों की उपेक्षा करनी है, सो महा मूढता का चिन्ह है।

यदि कहो कि शुभाशुभ कर्म के वश से इस जीव को परलोक में स्वकर्म हेतुक सुख दुःखादि की वेदना का अवश्य अनुभव करना पड़ेगा। ऐसी आशंका के उत्तर में वह कहता है, कि "समुदयमात्रमिदं कलेवरम्"—चार भूतों का संयोग

मात्र ही यह शरीर है । इन चारों भूतों के संयोग मात्र से अन्य दूसरा भवांतर में जाने वाला, शुभाशुभ कर्म विपाक का भोगने वाला जीव नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है। अरु चारों भूतों का जो संयोग है, सो बिजली के उद्योत की तरें क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है । इस वास्ते परलोक का भय मत कर, और जैसा मन माने, वैसा खा और पी, तथा भोग विलास कर ।

अब इनके प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप कहते हैं:—

पृथ्वी जलं तथा तेजो, वायु र्भूतचतुष्टयम् ।
आधारो भूमिरेतेषां, मानं त्वक्षजमेव हि ॥

[षड्० स०, श्लो० ८३]

अर्थः—१. पृथिवी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, यह चार भूत हैं, अरु इन चारों का आधार पृथ्वी है । यह चारों एकठे होकर चैतन्य को उत्पन्न करते हैं। इन चार्वाकों के मत में प्रमाण तो एक प्रत्यक्ष ही है ।

भूतचतुष्टय से उत्पन्न होने वाली देह में चेतनता कैसे उत्पन्न हो जाती है ? इस शंका का समाधान करने के वास्ते वह नास्तिक कहता है:—

पृथ्व्यादिभूतसंहत्या, तथा देहपरीणतेः ।
मदशक्तिः सुरांगेभ्यो, यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ॥

[षड्० स०, श्लो० ८४]

अर्थः—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, तिन को जो संहतिः—संयोग, तिस करके जो देह की परिणति—परिणाम, तिससे चेतना, जैसे मदिरा के अंगों से—गुड़ धातकी आदिकों से उन्माद शक्ति उत्पन्न होती है, ऐसे ही इस देह में चैतन्य शक्ति उत्पन्न होजाती है, परन्तु देह से अन्य कोई जीव पदार्थ नहीं है। इस वास्ते दृष्ट सुखों का त्याग करना, और अदृष्ट सुखों में प्रवृत्त होना, यह तो लोगों की निरी मूर्खता है। तथा जो शांतरस में मग्न होकर मोक्ष के सुख का वर्णन करते हैं, वे भी महा मूढ़ हैं। क्योंकि काम—मैथुन सेवन से अधिक न कोई धर्म है, न कोई मोक्ष है, और न कोई सुख है।

यह जो ऊपर मत लिखे हैं, इनके जो उपदेशक हैं, वे सर्व कुगुरु हैं। क्योंकि जो इनों के मत हैं, वे युक्ति और प्रमाण से खण्डित हो जाते हैं, तथा इन का कथन पूर्वापर विरोधी है।

प्रश्नः—अहो जैन ! अरिहंत के कहे हुए तत्त्व का तुझ को बड़ा राग है, इस करके तुम अपने मत को तो निर्दोष ठहराते हो, अरु हमारे मतों को पूर्वापर विरोधी कहते हो। परन्तु हमारे मतों में कुछ भी पूर्वापर व्याहतपना नहीं है, क्योंकि हमारे जो मत हैं, सो सर्वथा निर्दोष हैं।

उत्तरः—हे वादियो ! तुम अपने अपने मत का पक्षपात छोड़ कर, मध्यस्थपने को अवलंबन करके अरु निरभिमान हो कर, सुन्दर बुद्धि को धार करके सुनो। हम तुमारे मतों में

पूर्वापर व्याहतपना दिखलाते हैं। प्रथम बौद्ध में पूर्वापर विरोध का उद्भावन करते हैं:—

बौद्धमत में पूर्वापर विरोध

१. प्रथम तो बौद्ध मत में सर्व पदार्थों को क्षणभंगुर कहा और पीछे से ऐसे कहा है—"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषय इति" अर्थात् अर्थ के होते ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थ के बिना नहीं होता, इस प्रकार अनुकृत अन्वयव्यतिरेक वाला अर्थ ज्ञान का कारण है। तथा जिस अर्थ से यह ज्ञान उत्पन्न होती है, तिस कारण रूप अर्थ ही को विषय करता है। इस कहने से अर्थ दो क्षण स्थितिवाला कहा गया। जैसे कि अर्थ रूप कारण से ज्ञान रूप कार्य जो उत्पन्न होता है, वह दूसरे क्षण में उत्पन्न होगा। क्योंकि एक ही समय में कारण और कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा वह ज्ञान अपने जनक अर्थ ही को ग्रहण करता है। "नापरं नाकारणं विषय इति वचनात्"। जब ऐसे हुआ तब तो अर्थ दो समय की स्थिति वाला बलात् हो गया, परन्तु बौद्ध मत में दो समय की स्थिति वाला कोई पदार्थ है नहीं।

२. तथा "नाकारणं विषय इत्युक्त्वा" अर्थात् जो पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है, उस पदार्थ को ज्ञान विषय भी नहीं करता। ऐसे कह कर फिर योगी प्रत्यक्ष

ज्ञान को अतीत अनागत पदार्थों का जानने वाला कहा है। परन्तु अतीत पदार्थ तो नष्ट हो गये हैं, तथा अनागत पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुये हैं। इस वास्ते अतीत अनागत पदार्थ ज्ञान के कारण नहीं हो सकते हैं। तब अकारण को योगी प्रत्यक्ष का विषय कहना विरोधी क्यों नहीं?

३. ऐसे ही साध्य साधन की व्याप्ति के ग्राहक—ग्रहण कराने वाले ज्ञान को, कारणता का अभाव होने पर भी त्रिकालगत अर्थ का विषय कहने वा मानने वाले को क्यों न हीं पूर्वापर व्याघात होगा? क्योंकि कारण ही को प्रमाण का विषय माना है, अकारण को नहीं।

४. तथा पदार्थ मात्र को क्षणविनाशी अंगीकार करने में जिन का भिन्न भिन्न काल है, ऐसे अन्वयव्यतिरेक की प्रतिपत्ति संभव नहीं होती, तब फिर साध्य साधनों के त्रिकाल विषय व्याप्ति ग्रहण को मानने वाले के मत में पूर्वापर व्याहति क्यों नहीं?

५. तथा सर्व पदार्थों को क्षणक्षयी मान कर भी पीछे से बुद्ध ने ऐसे कहा है कि:—

इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥

[या० स०, स्त० ४ श्लो० १२४]

इस श्लोक में क्षणिक वाद के विरुद्ध जन्मान्तर के विषे में 'मे' और 'अस्मि' शब्द का प्रयोग करने वाले बुद्ध के कथन में क्यों कर पूर्वापर विरोध न कहना चाहिये ?

६. ऐसे ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नीलादिक वस्तुओं को सर्व प्रकार करके ग्रहण करता हुआ भी नीलादिक अंश विषयक निर्णय उत्पन्न करता है, परन्तु नीलादि अर्थ-गत क्षणक्षयी अंश के विषय में निर्णय उत्पन्न नहीं करता है, ऐसे सांशता को कहते हुए सौगत के वचन में पूर्वापर विरोध सुबोध ही है।

७. तथा हेतु को तीन रूप वाला माना है, और संशय को दो उल्लेख वाला माना है, अरु फिर कहता है, कि वस्तु सांश नहीं है।

८. तथा परस्पर अनमिले हुये परमाणु निकटता संबंध वाले एकठे होकर घटादि रूप से प्रतिभासित होते हैं, परन्तु आपस में अंगांगीभाव रूप करके किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं करते। यह बौद्धोंका मत है। तिस में यह दूषण है, कि आपस में परमाणुओं के अनमेल से, जब हम घट का एक देश हाथ से पकड़ेंगे, तब सम्पूर्ण घट को नहीं आना चाहिये। तथा घट के उठाने से भी एक देश ही घट का उठना चाहिये, सम्पूर्ण घट नहीं उठना चाहिये। तथा जब हम घट को गले से पकड़ के खैंचेंगे तब भी घट का एक देश

ही हमारे पास आना चाहिये, संपूर्ण घट नहीं । परन्तु जलादि धारण रूप जो घट का अर्थक्रियालक्षण सत्त्व है, उस के अंगीकार करने से सौगतों ने परमाणुओं का मिलना माना है, परन्तु तिन के मत में परमाणुओं का मिलना है नहीं । इत्यादि बौद्ध मत में अनेक पूर्वापर विरोध हैं ।

बौद्ध मत का खण्डन

अथ बौद्ध मत का खण्डन भी थोड़ा सा लिखते हैं । इन बौद्धों का यह मत है, कि सर्व पदार्थ नैरात्म्य हैं, एतावता आत्मस्वरूप-अपने स्वरूपकरके सदा स्थिर रहने वाले नहीं है, ऐसी जो भावना, तिस का नाम नैरात्म्य भावना है । यह नैरात्म्य भावना रागादि क्लेशों के नाश करने वाली है । तथाहि—जब नैरात्म्य भावना होवेगी, तब अपने आप के विषे तथा पुत्र, भाई, भार्या आदि के विषे भी आत्मीय अभिनिवेश नहीं होवेगा । एतावता 'यह मेरे हैं' ऐसा मोह नहीं होवेगा । क्योंकि जो अपना उपकारी है, सो आत्मीय है, अरु जो अपना प्रतिघातक है, सो द्वेषी है । परन्तु जब आत्मा ही नहीं है, किन्तु पूर्वापर टूटे हुए क्षणों का अनुसंधान है । पूर्व पूर्व हेतु करके जो प्रतिबद्ध ज्ञानक्षण है, वही तत्सदृश उत्पन्न होते हैं । तब कौन किसी का उपकर्त्ता या उपघातक है ? क्योंकि क्षण (क्षणिक पदार्थ) क्षणमात्र रहने करके, परमार्थ से उपकार वा अनु-

पकार नहीं कर सकते। इस वास्ते तत्त्ववेत्ताओं को अपने पुत्रादिकों में आत्मीय अभिनिवेश, और वैरियों विषे द्वेष नहीं होता तथा लोगों को, अनात्मीय पदार्थों में जो आत्मीय अभिनिवेश होता है, सो अतत्त्वमूलक होने से अनादि वासना के परिपाक से उत्पन्न हुआ जानना।

प्रश्नः—यदि परमार्थ से उपकार्य उपकारक भाव नहीं, तब तुम कैसे कहते हो कि भगवान् सुगत ने करुणा से सकल जीवों के उपकार वास्ते धर्म देशना दी? और पदार्थों की क्षणिकता भी जेकर एकांत ही है। तो तत्त्ववेत्ता ने एक क्षण के पीछे नष्ट हो जाना है, और तत्त्ववेत्ता यह भी जानता है, कि मैं पीछे नहीं था अरु आगे को मैंने नहीं होना है, तो फिर वह मोक्ष के वास्ते क्यों यत्न करे?

उत्तरः—जो कुछ तुमने कहा है, सो हमारा अभिप्राय न जानने से कहा है, और वह अयुक्त है। भगवान् जो हैं, सो प्राचीन अवस्था विषे अवस्थित हैं, अरु सकल जगत् को राग द्वेषादि दुःखों से व्याप्त जान कर, और मेरे को इस सकल जगत् का दुःख दूर करना योग्य है, ऐसी दया उत्पन्न होने से नैरात्म्य क्षणिकत्वादि को जानता हुआ भी, तिन उपकार्य जीवों में निःक्लेश क्षण उत्पन्न करने के वास्ते, प्रजाहितैषी राजा की तरें, सकल जगत् के साक्षात् करने में समर्थ, अपनी संततिगत विशिष्ट क्षण की उत्पत्ति के वास्ते यत्न का आरम्भ करता है। क्योंकि सकल जगत् के साक्षा-

स्कार करे विना सर्व का उपकार करना अशक्य है। तिस वास्ते समुत्पन्न केवल ज्ञान, पूर्वावस्थापन्न भगवान् सुगत कृतार्थ भी है, तो भी कृपाके विशेष संस्कार वश से देशना देने में प्रवृत्त होता है। तब देशना सुन कर निर्मल बुद्धि के जीवों को, नैरात्म्यतत्त्व का विचार करते हुए भावना के प्रकर्ष विशेष से वैराग्य उत्पन्न होता है, तिस से उन को मुक्ति का लाभ होता है। परन्तु जो आत्मा को मानता है, तिस को मुक्ति का संभव नहीं। क्योंकि परमार्थ से आत्मा के अस्तित्व को मानेंगे तो आत्मदर्शी को आत्मा में अहंरूप स्नेह अवश्य होगा, स्नेह के वश से इस आत्मा को सुखी करने की तृष्णा उत्पन्न होगी। तृष्णा के वशसे फिर सुखों के साधनों में प्रवृत्त होगा, और दोषों का तिरस्कार करके गुणों का आरोप करेगा। जब गुण उत्पन्न हुए, तब गुणों में राग करेगा। तिस राग से यावत्काल आत्माभिनिवेश रहेगा, तावत् काल पर्यन्त संसार है।

ये पश्यंत्यात्मानं, तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति, तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥
गुणदर्शी परितृष्यन्, ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो, यावत्तावत् स संसारः ॥

[षड्० स०, श्लो० ५२ की वृ० वृ०]

तुमारा यह सर्व कहना, तुमारे अन्तःकरण में वास करने वाले मोह का विलास है, क्योंकि आत्मा के अभाव से अर्थात् उसके अस्तित्व का अस्वीकार करने से बंध मोक्षादिकों का * सामानाधिकरण्य—एकाधिकरणत्व नहीं होगा, सोई दिखाते हैं।

हे बौद्धो! तुम आत्मा को तो मानते नहीं हो, किन्तु पूर्वापर टूटे हुए ज्ञान क्षणों की संतान ही को मानते हो। जब ऐसे माना, तब तो अन्य को बंध हुआ, और अन्य को मुक्ति हुई। तथा क्षुधा और को लगी, तृप्ति और को हुई। तैसे ही अनुभविता और हुआ, अरु स्मर्त्ता और हो गया। जुलाब और ने लिया, अरु राज़ी–रोग रहित और हो गया। तपक्लेश तो और ने करा, परन्तु स्वर्गादि का सुख और ने भोगा। एवं पढ़ने का अभ्यास तो किसी और ने करा, परन्तु पढ़ कोई और गया। इत्यादि अनेक अतिप्रसंग होने से यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। जेकर कहो कि सन्तान की अपेक्षा से बंध मोक्षादिकों का एक अधिकरण हो सकता है। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सन्तान ही किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि, सन्तान जो है सो सन्तानी से भिन्न है? या अभिन्न? जेकर कहो कि भिन्न है, तब तो फिर दो विकल्प होते हैं, अर्थात् वह संतान नित्य है? वा अनित्य? जेकर कहो कि नित्य है, तब तो तिस को

*समान अधिकरण अर्थात् एक स्थान में होना।

बन्ध मोक्षादिक का संभव ही नहीं है। क्योंकि सर्वकाल में एक स्वभाव होने से उस की अवस्था में विचित्रता नहीं हो सकती। तथा तुम तो किसी पदार्थ को नित्य मानते नहीं हो, "सर्वं क्षणिकमिति वचनात्"। अथ जेकर कहोगे कि अनित्य–क्षणिक है, तब तो वोही प्राचीन–बन्ध मोक्षादि *वैयधिकरण्य दूषण प्राप्त होगा। जे कर कहोगे कि वह अभिन्न है, तो फिर अभिन्न होने से [तिस के स्वरूप की तरे] संतानी ही सिद्ध हुआ, सन्तान नहीं। तब तो पूर्व का दूषण तद्वस्थ ही रहा। जे कर कहोगे कि क्षणों से अन्य सन्तान कोई नहीं, किंतु कार्य कारण भाव के प्रबन्ध से जो क्षण भाव है, सोई सन्तान है, इस वास्ते उक्त दोष नहीं है। यह भी तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि तुमारे मत में कार्य कारण भाव ही नहीं घटता है। क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद मात्र कार्य कारण भाव है। तब जैसे विवक्षित घटक्षण के अनन्तर अन्य घटक्षण है, तैसे पटादि क्षण भी है, अरु जैसे घट क्षण से पहिला अनन्तर विवक्षित घट क्षण है, तैसे पटादि क्षण भी है। तब तो प्रति नियत कार्य कारण भाव का अवगम कैसे होवे ?

तथा एक और भी दूषण है, वो यह है, कि कारण से उत्पन्न होता हुआ कार्य, सत् उत्पन्न होता है ? अथवा असत् उत्पन्न होता है ? जेकर कहो कि सत् उत्पन्न होता

* भिन्न अधिकरण में होना।

है, तब तो कार्य उत्पत्ति काल में भी सत् होगा, और कार्य कारण की समकालता का प्रसंग होगा। परन्तु एक काल में दो पदार्थों का कार्य कारण भाव माना नहीं है, अन्यथा माता पुत्र का व्यवहार न होवेगा, तथा घट पटादिकों में भी परस्पर कार्य कारण भाव का प्रसंग हो जावेगा। जेकर असत् पक्ष मानोगे, तो वो भी अयुक्त है, क्योंकि जो असत् है, सो कार्य नहीं हो सकता है, अन्यथा खरशृंग भी कार्य होना चाहिये, तथा अत्यंताभाव, और प्रध्वंसाभाव, इन दोनों में कोई विशेषता न होगी, क्योंकि दोनों ही जगे वस्तु सत्ता का अभाव है।

एक और भी बात है, कि "तद्भावे भावः" ऐसे अवगम-प्रतीति में कार्य कारण भाव का अवगम है। परन्तु जो तद्भाव में भाव है, सो क्या प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है ? वा अनुमान करके प्रतीत होता है ? प्रत्यक्ष से तो नहीं, क्योंकि पूर्व वस्तुगत प्रत्यक्ष से पूर्ववस्तु परि-च्छिन्न है। और उत्तर वस्तुगत प्रत्यक्ष करके उत्तर वस्तु परिच्छेद्य है, परन्तु ये दोनों ही परस्पर के स्वरूप को नहीं जानते और इन दोनों का अनुसंधान करने वाला ऐसा कोई तीसरा स्वरूप तुम मानते नहीं हो। इस वास्ते इस के अनंतर इस का भाव है, ऐसे किस तरे अवगम होवेगा ? तथा अनुमान जो है, सो लिंग लिंगी के संबन्ध ग्रहण पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। परन्तु लिंग लिंगी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष

ग्राह्य है। जेकर अनुमान से संबंध ग्रहण करें, तब अनवस्थादूषण आता है। अतः कार्य कारण भाव के विषे में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने से अनुमान की भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान के दोनों क्षणों में भी परस्पर कार्य कारण भाव के अवगम का निषेध हुआ जान लेना। क्योंकि वहां भी स्वसंवेदन करके अपने अपने रूप के ग्रहण करने में, परस्पर स्वरूप के अनवधारण से, तदनंतर मैं उत्पन्न हुआ हूं, तथा इस का मैं जनक हूं, ऐसी अवगति के न होने से, तुमारे मत में इन का कार्य कारण भाव नहीं बनता। इससे सिद्ध हुआ कि एक संतति में पतित होने से बन्ध मोक्ष का एकाधिकरण है, तुमारा यह कथन मिथ्या है। तथा इस कहने से जो यह कहते हैं, कि उपादेयोपादान क्षणों का परस्पर वास्यवासक भाव होने से, उत्तरोत्तर विशिष्ट विशिष्टतर क्षणोत्पत्ति के द्वारा मुक्ति का होना संभव है, सो भी, उक्त रीति से उपादानोपादेय भाव की उपपत्ति न होने से प्रतिक्षिप्त ही जानना। तथा जो वास्यवासक भाव कहा है, सो भी, तिल पुष्पों की तरह एक काल में दोनों हों तब हो सकता है, क्योंकि *"अवस्थिता हि वास्यंते, भावाभावैरवस्थितैः"—विद्यमान भाव ही विद्यमान भावों से वासित होते हैं। तब उपादेयोपादान क्षणों का परस्पर असाहित्य होने से वास्यवासक भाव कैसे होवे?

* [श्लो० वा०, निरालम्बनवाद श्लो० १८५.]

अर्थात् नहीं हो सकता। कहा भी है:—

वास्यवासकयोश्चैव-मसाहित्यान्न वासना।
पूर्वक्षणैरनुत्पन्नो, वास्यते नोत्तरः क्षणः॥
उत्तरेण विनष्टत्वान्न च पूर्वस्य वासना।

[श्लो० वा०, निरा० वा० श्लो० १८२, १८३]

एक और भी बात है, कि वासना वासक से भिन्न है? वा अभिन्न? जेकर कहोगे कि भिन्न है, तब तो वासना करके शून्य होने से, अन्य की भांति उस को भी वासना कदापि वासित नहीं करेगी। जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तब तो वास्य क्षण में वासना का संक्रम कदापि नहीं होवेगा। क्योंकि अभिन्न होने से, वासना वासक का ही स्वरूप होगी। तो जैसे वासक का संक्रम नहीं होता, उसी प्रकार वासना का भी नहीं होगा। यदि वास्यक्षण में वासक की भी संक्रांति मानोगे, तब तो अन्वय का प्रसंग होवेगा। इस वास्ते तुमारा कहना किसी प्रकार से भी काम का नहीं है। तथा जो तुमने राग द्वेषादि से व्याप्त दुःखी जगत् के उद्धार के वास्ते बुद्ध की देशना की बात कही है, वो भी युक्ति युक्त नहीं। क्योंकि तुमारे मत में पूर्वापर त्रुटित क्षण ही परमार्थ से सत् हैं, और क्षणों के रहने का कालमान् मात्र एक परमाणु के व्यतिक्रम जितना है, इस वास्ते उत्पत्ति से व्यतिरिक्त तिन की और कोई स्थायी क्रिया उपपद्यमान

नहीं होती, " *भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते" । इस हेतु से ज्ञान क्षणों का उत्पत्ति के अनन्तर न तो गमन है, न अवस्थान है, और न पूर्वापर क्षणों से अनुगम है । इस वास्ते इन का परस्पर स्वरूपावधारण नहीं । अरु ना ही कोई उत्पत्ति के अनन्तर व्यापार है । तब मेरे सन्मुख यह अर्थ साक्षात् प्रतिभासता है, इस प्रकार अर्थ के निश्चय-मात्र करने में भी अनेक क्षणों का संभव है, रागद्वेषादि दुःख से आकुल सकल जगत् की विचारणा, दीर्घतर काल साध्य-शास्त्रानुसंधान तथा अर्थ चिन्तन करना और मोक्ष के वास्ते सम्यक् उपाय में प्रवृत्त होना, इत्यादि बातों का, क्षणिक वाद में कैसे सम्भव हो सकता है ?

प्रश्नः—यह जो सर्व व्यवहार है, सो ज्ञान क्षणों की सन्तति की अपेक्षा करके है, फिर तुम इस पक्ष में क्यों दूषण देते हो ?

उत्तरः—मालूम होता है कि हमारा कहा हुआ तुमारी समझ में नहीं आया है, क्योंकि ज्ञान क्षण संतति के विषय में भी वोही दूषण है, जो हमने ऊपर कहा है । वैकल्पिक, और अवैकल्पिक, जो ज्ञान क्षण हैं, वो परस्पर में अनुगम के अभाव से परस्पर स्वरूप को नहीं जानते, तथा क्षणमात्र से अधिक ठरहते नहीं । अतः ज्ञान सन्तति के स्वीकार से भी तुमारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, आंखें मीच करके

* इस का अर्थ पृ० २३७ में देखो ।

विचारो तो सही। इससे अधिक बौद्धमत का खण्डन देखना हो, तो नंदीसिद्धांत, सम्मतितर्क, द्वादशारनयचक्र, अनेकांत-जयपताका, स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका प्रमुख शास्त्रों में देख लेना।

अब नैयायिक और वैशेषिक मत में पूर्वापर व्याहतपना दिखलाते हैं। १. पदार्थों में सत्ता के योग से सत्त्व है, ऐसे कह कर सामान्य, विशेष, समवाय, इन पदार्थों को सत्ता के योग विना ही सत् कहते हैं। तो फिर उनका वचन पूर्वापर व्याहत क्यों न होवे ?

नैयायिक मत में पूर्वापर विरोध

२. अपने आप में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान अपने आप को नहीं जानता, ऐसे कह कर फिर कहते हैं, कि ईश्वर का जो ज्ञान है, सो अपने आप को जानता है। इस प्रकार ईश्वर ज्ञान में स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं हैं, तो फिर क्योंकर स्ववचन का विरोध न हुआ ?

३. तथा दीपक जो है, सो अपने आप को आप ही प्रकाश करता है। इस जगह पर स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं, यह पूर्वापर व्याहत वचन है।

४. दूसरों के ठगने वास्ते छल, जाति और निग्रहस्थान आदि का तत्त्वरूप से उपदेश करते हुए अक्षपाद ऋषि का वैराग्य वर्णन ऐसा है, कि जैसा अंधकार को प्रकाश स्वरूप कहना। तब यह क्योंकर पूर्वापर व्याहत वचन नहीं है ?

५. आकाश को निरवयव स्वीकार करते हैं। फिर तिस का गुण जो शब्द है, वह उस के एक देश में ही सुनाई देता है, सर्वत्र नहीं। तब तो आकाश को सांशता-सावयवता प्राप्त हो गई। यह भी पूर्वापर विरोध है।

६. सत्तायोग से पदार्थ को सत्त्व होना है, अरु योग जो है, सो सर्व वस्तुओं में सांशता होने ही से होता है। परन्तु सामान्य को निरंश अरु एक माना है, तब यह पूर्वापर व्याहत वचन क्यों नहीं?

७. समवाय को नित्य और एक स्वभाव मान कर उस का सर्व समवायी पदार्थों के साथ नियत सम्बन्ध स्वीकार करना समवाय को अनेक स्वभाव वाला सिद्ध करता है। तब तो पूर्वापर विरोध हो गया।

८. "अर्थवत्प्रमाणम्"—अर्थ है सहकारी जिस का सो अर्थवत् प्रमाण, यह कह कर फिर योगी प्रत्यक्ष को अतीताद्यर्थ विषयक कहने वाले को अवश्य पूर्वापर विरोध है। क्योंकि अतीतादिक जो पदार्थ हैं, सो विनष्ट तथा अनुत्पन्न होने से सहकारी नहीं हो सकते।

९. तथा स्मृति गृहीतग्राही अरु "अनर्थ जन्यत्वेन"—विना अर्थ के होने करके प्रमाण नहीं है। जब गृहीतग्राही होने से स्मृति को अप्रमाण माना, तब धारावाही ज्ञान भी गृहीतग्राही होने से अप्रमाण होना चाहिए। परन्तु धारावाही ज्ञान को नैयायिक और वैशेषिक प्रमाण मानते हैं। अरु

अनर्थजन्य होने करके स्मृति को जब अप्रमाण माना, तब अतीतानागत अनुमान भी अनर्थजन्य होने करके प्रमाण न हुआ। अरु अनुमान को शब्द की तरें त्रिकाल विषयक मानते हैं। यथा—धूम करके वर्त्तमान अग्नि अनुमेय है। अरु मेघोन्नति करके भविष्यत् वृष्टि, अरु नदी का पूर देखने से अतीत वृष्टि का अनुमान मानते हैं। तो फिर धारावाही ज्ञान, अरु अनर्थजन्य अनुमान, इन दोनों को तो प्रमाण मानना अरु स्मृति को प्रमाण नहीं मानना, यह पूर्वापर विरोध है।

१०—ईश्वर का सर्वार्थ विषय प्रत्यक्ष जो है, सो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हो? वा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मानते हो? जेकर कहोगे कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हैं, तब तो—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम्"—

[न्या० द०, अ० १ आ० १ सू० ४]

इस सूत्र में सन्निकर्षोपादान निरर्थक होवेगा, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान सन्निकर्ष के विना भी हो सकता है। जेकर कहोगे कि ईश्वर प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मानते हैं, तब तो ईश्वर के मन का, अणुमात्र प्रमाण होने से युगपत् सर्व पदार्थों के साथ संयोग न होवेगा। तब तो ईश्वर जब एक पदार्थ को जानेगा, तब दूसरे पदार्थ होते हुओं को भी नहीं

जानेगा। तब तो हमारी तरें तिस ईश्वर को कदापि सर्वज्ञता न होवेगी, क्योंकि सर्व पदार्थों के साथ युगपत् सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। जेकर कहोगे कि सर्व पदार्थों को क्रम करके जानने से सर्वज्ञ है, तब तो बहुत काल करके सर्व पदार्थों के देखने से ईश्वर की तरें हम को भी सर्वज्ञ कहना चाहिये। एक और भी बात है, कि अतीत और अनागत जो पदार्थ हैं, सो विनष्ट तथा अनुत्पन्न होने से, उनका मन के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। यदि हो तो पदार्थों का संयोग भी होगा, परन्तु अतीत अनागत पदार्थ तो तिस अवसर में असत् हैं, तब किस तरें महेश्वर का ज्ञान अतीत अनागत अर्थ का ग्राहक हो सकेगा ? अरु तुम तो ईश्वर का ज्ञान सर्वार्थ का ग्राहक मानते हो, तब तो पूर्वापर विरोध सहज ही में हो गया। ऐसे ही योगियों के सर्वार्थ ग्राहक ज्ञान का भी विरोध जान लेना।

११. कार्य द्रव्य के प्रथम उत्पन्न होने से तिस का जो रूप है, सो पीछे से उत्पन्न होता है, क्योंकि विना आश्रय के गुण कैसे उत्पन्न होवे। यह कह करके पीछे से यह कहते हैं, कि कार्य द्रव्य के विनाश हुए पीछे तिस का रूप नष्ट होता है। यह पूर्वापर विरोध है, क्योंकि जब कार्यद्रव्य का नाश हो गया, तब रूप आश्रय विना पीछे क्योंकर रह सकेगा ?

११. नैयायिक और वैशेषिक जगत् का कर्त्ता ईश्वर को

मानते हैं। यह बात भी एक महामूढता का चिन्ह है, क्योंकि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता है। इस जगत् कर्त्ता का खण्डन दूसरे परिच्छेद में अच्छी तरें विस्तार पूर्वक लिख आये हैं, तो भी भव्य जीवों के ज्ञान के वास्ते थोड़ा सा इहां भी लिख देते हैं।

कई एक कहते हैं कि साधुओं के उपकार वास्ते अरु दुष्टों के संहार वास्ते ईश्वर युग युग में अवतार लेता है*। अरु सुगतादिक कितनेक यह बात कहते हैं, कि मोक्ष को प्राप्त हो करके, अपने तीर्थ को क्लेश में देखकर, फिर भगवान् अवतार लेता है। यथाः—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्।
गत्वागच्छंति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः॥

[षड्० स०, श्लो० ४६ की वृ० वृ०]

जो फिर संसार में अवतार लेता है, वो परमार्थ से मोक्ष को प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि उसके सर्व कर्म क्षय नहीं हुए हैं। जेकर मोहादिक कर्म क्षय हो जाते, तो वो काहे को अपने मत का तिरस्कार देख के पीडा पाता, अरु अवतार

* परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे॥

[भ० गी०, अ० ४ श्लो० ८]

लेता। जेकर साधुओं के उपकारार्थ अरु दुष्टों के संहार वास्ते अवतार लेता है, तब तो वो असमर्थ हुआ, क्योंकि बिना ही अवतार के लिये वो यह काम नहीं कर सकता था। जेकर कर सकता था, तो फिर काहे को गर्भावास में पड़ा? इस वास्ते सर्व कर्म क्षय नहीं हुए, जेकर क्षय हो जाते तो कभी भी अवतार न लेता। यदुक्तम्:—

* दग्धे बीजे यथात्यंतं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥

[तत्त्वा०, अ० १० सू० ७ का भाष्य]

उक्तं च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिगामुकानां प्रबलमोहविजृम्भितम्:-

दग्धेंधनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य,
निर्वाणमप्यनवधारितभीरनिष्टम्।
मुक्तः स्वयं कृततनुश्च परार्थशूर-
स्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम्॥

[द्वि० द्वा० श्लो० १८]

* भावार्थः—जैसे बीज के दग्ध होने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही कर्मबीज के दग्ध होने पर जन्म रूपी अंकुर नहीं होता।

आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने भी मुक्त आत्मा के पुनः संसार में आने को मोह का प्रबल साम्राज्य कहा है। अर्थात् ऐसा मानना सर्वथा अज्ञानता है।

प्रतिवादीः—सुगतादिक ईश्वर मत हों, परन्तु सृष्टि का कर्त्ता तो ईश्वर है, उस को आप क्यों नहीं मानते ?

सिद्धान्तीः—जगत् कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण का अभाव है, इस वास्ते नहीं मानते।

ईश्वर कर्तृत्व का खण्डन

प्रतिवादीः—जगत्कर्त्ता की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है, यथा—पृथिव्यादिक किसी बुद्धिमान् के रचे हुए हैं, कार्यरूप होने से, घटादि की तरे। यह हेतु असिद्ध भी नहीं है, पृथिव्यादिकों के सावयव होने से उन में कार्यत्व प्रसिद्ध है। तथाहि–पृथिवी, पर्वत, वृक्षादिक सर्व सावयव होने से घटवत् कार्यरूप हैं। अरु यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चितकर्तृक घटादिकों में कार्यत्व हेतु प्रत्यक्ष देखने में आता है। तथा जिन आकाशादि का कोई कर्त्ता नहीं है, उन से व्यावृत्त होने से यह कार्यत्व अनैकांतिक भी नहीं है। एवं प्रत्यक्ष तथा आगम करके अबाधित विषय होने से, यह कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है। अतः इस निर्दोष हेतु से जगत् कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है।

सिद्धान्तीः—यहां प्रथम, पृथिवी आदिक किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए हैं, इस की सिद्धि के वास्ते जो तुमने कार्यत्व हेतु कहा था, सो कार्यत्व क्या सावयवत्व को कहते हो ?

वा प्रागसत् का स्वकारण सत्ता समवाय है? वा 'कृतं' ऐसे प्रत्यय का विषय है? वा विकारित्व ही कार्यत्व है? इन चारों विकल्पों में से कार्यत्व हेतु का कौन सा स्वरूप है? जेकर कहो कि उस का सावयवत्व स्वरूप है, तो यह सावयवपना अवयवों के विषे वर्त्तमानत्व है? वा अवयवों करके आरभ्यमाणत्व है? वा प्रदेशवत्व है? अथ 'सावयव' ऐसी बुद्धि का विषय है?

तहां आद्य पक्ष विषे अवयव सामान्य करके यह हेतु अनैकांतिक है, क्योंकि अवयवों के विषे वर्त्तमान अवयवत्व को भी निरवय और अकार्य कहते हैं। तथा दूसरे पक्ष में यह हेतु साध्य के समान सिद्ध होता है। जैसे पृथिव्यादिकों में कार्यत्व साध्य है, वैसे ही परमाणु आदि अवयवारभ्यत्व साध्य है। तथा तीसरे पक्ष में आकाश के साथ हेतु अनैकांतिक है, क्योंकि आकाश प्रदेश वाला तो है, परन्तु कार्य नहीं है। तथा चौथे पक्ष में भी आकाश के साथ हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि जो व्यापक होता है, सो निरवयव नहीं होता है, अरु जो निरवयव होता है, सो परमाणुवत् व्यापक नहीं होता है।

तथा प्रागसत् का स्वकारण में जो सत्तासमवाय तद्रूप भी कार्यत्व नहीं, क्योंकि वह नित्य है। यदि कार्यत्व का ऐसा ही स्वरूप मानोगे, तब तो पृथिव्यादिकों के कार्यत्व को भी

नित्यता का प्रसंग होवेगा। फिर बुद्धिमान् का बनाया हुआ कैसे सिद्ध करोगे ? एक और भी दूषण है। *पक्षान्तर्गत जो योगियों का सम्पूर्ण कर्मक्षय, उसमें यह हेतु प्रविष्ट नहीं होता; इस वास्ते भागासिद्ध है। क्योंकि कर्म क्षय ध्वंसाभावरूप है, उस में सत्ता और स्वकारणसमवाय का अभाव है। अतः स्वकारण सत्तासमवाय रूप कार्यत्व वहां नहीं रहता।

तथा "कृतं" इस प्रत्यय का विषय भी कार्यत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि खनन उत्सेचनादि करके 'कृतमाकाशम्' ऐसे अकार्य आकाश में भी वर्त्तमान होने से, यह अनेकांतिक है।

अथ जेकर विकारि स्वरूप कार्यत्व मानोगे, तब तो महेश्वर को भी कार्यत्व का प्रसङ्ग होगा, अर्थात् वो भी कार्य हो जावेगा, क्योंकि जो अन्यथाभाव है, वोही विकारित्व है। जेकर कहोगे कि ईश्वर विकारी नहीं, तब तो उस में कार्यकारित्व ही दुर्घट है। इस प्रकार कार्य के स्वरूप का विचार करते हुए उस की उपपत्ति न होने से, कार्यत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में जगत्कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। तथा लोक में कार्यत्व की प्रसिद्धि उस में है, जो कि कभी हो और कभी न हो, परन्तु यह जो जगत् है, सो तुमारे महेश्वर की तरे सदा ही सत्स्वरूप है। फिर यह

---

* किंच, योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तःपातिन्यप्रवृत्तत्वेन भागासिद्धोऽयं हेतुः, तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वेन सत्तास्वकारणसमवाययोरभावात्। [स्या० म०, श्लो० ६ की वृ० वृ०]

कार्य रूप कैसे माना जा सकता है ?

प्रतिवादीः—इस जगत् के अंतर्गत तृणादिकों में कार्यत्व होने से यह जगत् भी कार्यरूप है।

सिद्धान्तीः—तब तो महेश्वर के अन्तर्गत बुद्धि आदिकों को, तथा परमाणु आदि के अंतर्गत पाकज रूपादिकों को कार्य रूप होने से, महेश्वर तथा परमाणु आदि को कार्यत्व का अनुषंग होवेगा। और इस ईश्वर के अपर बुद्धिमान् कर्त्ता की कल्पना करने पर अनवस्था दूषण तथा अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग होगा। अस्तु, किसी प्रकार से जगत् को कार्य भी मान लिया जावे, तो भी यहां पर क्या कार्यमात्र को तुमने हेतु माना है ? वा कार्य विशेष को हेतु रूप से स्वीकार किया है ? जेकर आद्य पक्ष मानोगे, तब तो उस से बुद्धिमान् कर्त्ता विशेष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि तिस के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं है। किन्तु कर्तृ सामान्य की सिद्धि होती है। जेकर ऐसे ही मानोगे, तब तो यह हेतु अकिंचित्कर है। और साध्य से विरुद्ध के साधने से हेतु विरुद्ध भी है। इस वास्ते कृतबुद्धि उत्पादक रूप जो कार्यत्व है, सो बुद्धिमान् कर्त्ता विशेष का गमक नहीं हो सकता। जेकर समान रूप होने से कार्यत्व को गमक मान लें, तब तो बाष्पादि को भी अग्नि के गमकत्व का प्रसंग होवेगा। तथा महेश्वर को आत्मत्व रूप से सर्व जीवों के सदृश होने से संसारित्व और अल्पज्ञत्व आदि का प्रसङ्ग भी हो जावेगा।

तुल्य आक्षेपसमाधान न्याय से समान रूपता का यहां पर भी अंगीकार करना पड़ेगा। इस वास्ते बाष्प अरु धूम इन दोनों में किसी अंश करके साम्य भी है, तो भी कोई एक ऐसा विशेष है, जिस से कि धूम ही अग्नि का गमक है, बाष्पादिक नहीं। तैसे ही पृथिव्यादिकों में भी इतर कार्यों की अपेक्षा कुछ विशेष ही अंगीकार करना होगा।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तब तो पक्ष में कार्य विशेष के अभाव से यह हेतु असिद्ध है। यदि मान लें, तो जीर्ण कूप प्रासादादिकों की तरे अक्रिया देखने वाले को भी कृत-बुद्धि की उत्पादकता का प्रसङ्ग होगा। जेकर कहो कि समारोप से प्रसंग नहीं होता है, तो भी दोनों जगे एक सरीखा होने से क्यों नहीं होता है? क्योंकि दोनों जगे कर्त्ता का अतीन्द्रियत्व समान है, यदि कहो कि प्रामाणिक, को यहां कृतबुद्धि है। तो तहां तिस को कृतकत्व का अवगम, क्या इस अनुमान करके अथवा अनुमानांतर करके है? आद्य पक्ष में परस्पर आश्रय दूषण है, तथाहि—सिद्धविशे-षण हेतु से इस अनुमान का उत्थान है, परन्तु तिस के उत्थान होने पर हेतु के विशेषण की सिद्धि है। दूसरे पक्ष में अनुमानांतर का भी सविशेषण हेतु से ही उत्थान होवेगा, तहां भी अनुमानांतर से इस की सिद्धि करोगे, तो अन-वस्था दूषण आवेगा। इस वास्ते कृतबुद्धि उत्पादकत्व रूप विशेषण सिद्ध नहीं। तब यह विशेषणासिद्ध हेतु है।

अरु जो कहते हैं कि खात प्रतिपूरित पृथिवी के दृष्टान्त

करके कृतकों को आत्मविषे कृतबुद्धि उत्पादकत्व का अभाव है, सो भी असत् है। क्योंकि यहां तो इस को अकृत्रिम भूमि के समान समतल होने से, तथा वहां पर उत्पादक के दृष्टिगोचर न होने से, कदाचित् अनुत्पादकत्व की उपपत्ति हो सकती है, अर्थात् देखने वाले में कृतबुद्धि को उत्पन्न नहीं करती। परन्तु पृथिवी आदि के वास्ते तो ऐसी कोई भी अकृत्रिम वस्तु नहीं है, कि जिस की समानता से इस में भी खात पूरित भूमि की तरह अकृत्रिम बुद्धि उत्पन्न हो सके।

यदि कहो कि पृथिव्यादिकों में भी अकृत्रिम संस्थान सारूप्य है, जिस से कि अकृतिमत्व बुद्धि उत्पन्न होती है, तब तो अपसिद्धांत की प्रसक्ति होवेगी। अतः कृतबुद्धि उत्पादकत्व रूप विशेषण को असिद्ध होने से यह हेतु विशेषणासिद्ध है। कदाचित् सिद्ध भी हो, तो भी यहां घटादिकों की तरे शरीरादि विशिष्ट बुद्धिमान् कर्त्ता ही का साधक होने से यह हेतु विरुद्ध है।

प्रतिवादीः—इस प्रकार के दृष्टांत दार्ष्टांतिक के साम्य अन्वेषण में तो सर्व जगे हेतुओं की अनुपपत्ति ही होवेगी?

सिद्धांतीः—ऐसे नहीं है, क्योंकि धूमादि अनुमान में महानस तथा इतर साधारण अग्नि की प्रतिपत्ति होती है। तब तो यहां पर भी बुद्धिमत् सामान्य की प्रसिद्धि से हेतु में विरोध नहीं मानना चाहिये, ऐसे कहना भी अयुक्त

है, क्योंकि दृश्य विशेष में ही कार्यत्व हेतु की प्रसिद्धि है। अदृश्य विशेष में नहीं । खरविषाण आधार वाले सामान्य की भांति ही तिस की तो स्वप्न में भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती । इस वास्ते जैसे कारण से जैसा कार्य उपलब्ध होता है, तैसा ही अनुमान करने योग्य है । यथा यावत् धर्मात्मक अग्नि से यावत् धर्मात्मक धूम की उत्पत्ति सुदृढ प्रमाण से प्रतिपन्न है, तैसे ही धूम से तैसी ही अग्नि का अनुमान होता है । इस कहने से, साध्य साधन की विशेष रूप से व्याप्ति ग्रहण करने पर सब अनुमानों का उच्छेद होजावेगा, इत्यादि कथन का भी खण्डन हो गया ।

तथा बिना बीज के बोये जो तृणादिक उत्पन्न होते हैं, तिन के साथ यह कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है। बहुत से कार्य देखने में आते हैं । उन में से कितनेक तो बुद्धिमान् के करे हुये दीखते हैं, जैसे घटादिक, और कितनेक इस से विपरीत दिखाई देते हैं, जैसे बिना बोये तृण आदिक। जेकर कहोगे कि हम सब को पक्ष में ही लेवेंगे, तब तो *"स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्" इत्यादि भी गमक होने चाहिये। तब तो कोई भी हेतु व्यभिचारी न होवेगा। जहां जहां व्यभिचार होवेगा, तहां तहां तिस क पक्ष में कर लेने से व्यभिचार दूर हो जावेगा । तथा इस हेतु का ईश्वर बुद्धि आदि

* वह श्याम होगा, उस (मित्रा) का पुत्र होने से, दूसरे पुत्र की भान्ति ।

से भी व्यभिचार है। ईश्वर बुद्ध्यादिकों में कार्यत्व के होने पर भी वहां समवायी कारण ईश्वरादि से भिन्न बुद्धिमत्पूर्वकत्व का अभाव है। जेकर यहां भी इसी तरे मानोगे, तब तो अनवस्थादूषण होवेगा। तथा यह कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्टभी है, क्योंकि बिना बोये उत्पन्न हुये तृणादिकों के विषय में बुद्धिमान् कर्त्ता का अभाव, अग्नि के अनुष्णत्व साध्यविषे द्रव्यत्व हेतु की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण से दीख पड़ता है।

प्रतिवादीः—अंकुर तृणादिकों का भी अदृश्य ईश्वर कर्त्ता है।

सिद्धांतीः—यह भी ठीक नहीं, तहां अदृश्य ईश्वर का होना, क्या इसी प्रमाण से है? अथवा और किसी प्रमाणसे है? प्रथम पक्षमें चक्रक दूषण है। इस प्रमाण से तिस का सद्भाव सिद्ध होवे, तब अदृश्य होने से ईश्वर के अनुपलंभ की सिद्धि होवे, तिसकी सिद्धि के होने पर कालात्ययापदिष्ट का अभाव सिद्ध होवे, तिस के पीछे इस प्रमाण की सिद्धि होवे। दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि ईश्वर के भावावेदी किसी प्रमाण का सद्भाव नहीं है। यदि प्रमाण का सद्भाव है, तो भी ईश्वर के अदृश्य होने में क्या शरीर का न होना कारण है? वा विद्यादि का प्रभाव है? वा जाति विशेष है? प्रथम पक्ष में अशरीरी होने से मुक्त आत्मा की भांति कर्त्तापने की उपपत्ति नहीं हो सकती।

प्रतिवादीः—शरीर के अभाव से भी ज्ञान इच्छा और प्रयत्न के आश्रय से शरीर को उत्पन्न करके ईश्वर कर्त्ता हो सकता है।

सिद्धान्तीः—यह भी विना विचार ही का तुमारा कहना है। क्योंकि शरीर सम्बन्ध से ही सृष्टि रचने की प्रेरणा होसकती है। शरीर के अभाव होने पर मुक्त आत्मा की तरे तिस का संभव ही नहीं। तथा शरीर के अभाव से ज्ञानादि के आश्रयत्व का भी सम्भव नहीं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में शरीर निमित्त कारण है। अन्यथा मुक्तात्मा को भी तिस की उत्पत्ति होवेगी। तथा विद्यादि प्रभाव को अदृश्यपने में हेतु मानें तो कदाचित् यह दीखना भी चाहिये। क्योंकि विद्यावान् सदा अदृश्य नहीं रहते। पिशाचादिकों की तरे जाति विशेष भी अदृश्य होने में हेतु नहीं। क्योंकि ईश्वर एक है, एक में जाति नहीं होती है, जाति जो होती है, सो अनेक व्यक्तिनिष्ठ होती है। भले ही ईश्वर दृश्य, अथवा अदृश्य होवे, तो भी क्या सत्ता मात्र करके? वा ज्ञान करके? वा ज्ञान इच्छा और प्रयत्न करके? वा तत्पूर्व व्यापार करके? वा ऐश्वर्य करके, पृथिव्यादिकों का कारण है?

तहां आद्य पक्ष में कुलालादिकों को भी, सत्त्व के अविशेष होने से जगत्कर्तृत्व का अनुषंग होवेगा। दूसरे पक्ष में योगियों को भी जगत् कर्त्ता की आपत्ति होवेगी। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अशरीरी में ज्ञानादि के आश्रयत्व

का पूर्व ही प्रतिषेध कर दिया है । चौथे का भी सम्भव नहीं, क्योंकि अशरीरी को काय वचन के व्यापार का सम्भव नहीं है । तथा ऐश्वर्य भी क्या ज्ञातपना है ? अथवा कर्त्तापना है ? अथवा और कुछ है ? जेकर कहो कि ज्ञातपना है, तब क्या ज्ञातृत्वमात्र है ? अथवा सर्वज्ञातृत्व है ? आद्यपक्ष में ज्ञाता ही होवेगा, ईश्वर नहीं होवेगा। अस्मदादिक अन्य ज्ञाताओं की तरे। दूसरे पक्ष में भी इस को सर्वज्ञता होवेगी परन्तु सुगतादिवत् ईश्वरता नहीं । अथ जेकर कहोगे कि कर्तृत्व है, तब तो अनेक कार्य करने वाले कुम्भकारादिकों को भी ऐश्वर्य की प्रसक्ति होवेगी । तथा इच्छा प्रयत्नादि के बिना और कोई भी वस्तु ईश्वर के ऐश्वर्य का निबंधन-कारण नहीं है।

एक और भी बात है। कि क्या ईश्वर की जगत् बनाने में यथारुचि प्रवृत्ति है ? वा कर्म के वश हो करके ? वा दया करके ? वा क्रीडा करके ? वा निग्रहानुग्राह करने के वास्ते ? वा स्वभाव से ? आद्य विकल्प में कदाचित् और तरें भी सृष्टि हो जावेगी, दूसरे पक्ष में ईश्वर की स्वतन्त्रता की हानि होवेगी। तीसरे पक्ष में सर्व जगत् सुखी ही करना था।

प्रतिवादीः—ईश्वर क्या करे ? जैसे जैसे जीवों ने कर्म करे हैं, तिन कर्मों के वश से ईश्वर तैसा तैसा दुःख सुख देता है ।

सिद्धान्तीः—तो फिर तिस का क्या पुरुषार्थ है ? जब कर्म ही की अपेक्षा से कर्त्ता है, तब तो ईश्वर की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? कर्म ही के बल से सब कुछ हो जावेगा। तथा चौथे पांचमे विकल्प में ईश्वर रागी और द्वेषी हो जावेगा, तब तो ईश्वर क्योंकर सिद्ध होवेगा ? तथाहि क्रीडा करने से बालवत् रागवान् ईश्वर है । तथा निग्रह अनुग्रह करने से भी राजा की तरें ईश्वर राग द्वेष वाला सिद्ध होगा।

जेकर कहो कि ईश्वर का स्वभाव ही जगत् रचने का है । तब तो जगत् को स्वभाव से ही हुआ माना। फिर ईश्वर की कल्पना काहे को करते हो ? इस वास्ते कार्यत्व हेतु, बुद्धिमान् कर्त्ता—ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता। इस वास्ते नैयायिक, वैशेषिक जो जगत् का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, सो मूर्खता का सूचक है। विशेष करके जगत् कर्त्ता का खण्डन देखना होवे, तो सम्मतितर्क ग्रंथ में देखना।

सोलह पदार्थों की समीक्षा

अरु जो नैयायिकों ने सोलां पदार्थ माने हैं, सो भी बालकों की खेल है, क्योंकि सोलां पदार्थ घटते नहीं हैं। वे सोलां पदार्थ यह हैं:—१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टांत, ६. सिद्धांत, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान।

१. हेयोपादेय रूप से जिस करके पदार्थों का परिच्छेद—

ज्ञान किया जावे, उस को प्रमाण कहते हैं*। सो प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द भेद से चार प्रकार का है।

तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति गौतमसूत्रम्" ।

[न्या० द०, अ० १ आ० १ सू० ४]

इस का यह तात्पर्य है, कि इन्द्रिय अरु अर्थ का जो संबंध, तिस से उत्पन्न हुआ जो व्यपदेश और व्यभिचार से रहित, निश्चयात्मक ज्ञान, तिस को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का यह लक्षण ठीक नहीं है। जहां अर्थ ग्रहण के प्रति आत्मा का साक्षात् व्यापार हो, सोई प्रत्यक्ष प्रमाण है, और वह अवधि, मनःपर्यव तथा केवल है। यह जो प्रत्यक्ष नैयायिकों ने कहा है, सो उपाधि द्वारा प्रवृत्त होने से अनुमान की तरे परोक्ष है। यदि इस को उपचार प्रत्यक्ष माने, तब तो हो सकता है। परन्तु तत्त्वचिंता में उपचार का व्यापार नहीं होता।

अनुमान प्रमाण के तीन भेद हैं—१. पूर्ववत्, २. शेषवत्, ३. सामान्यतोदृष्ट। तहां कारण से कार्य का जो अनुमान, सो पूर्ववत्। तथा कार्य से कारण का जो अनुमान, सो शेषवत्, तथा आंब के एक वृक्ष को फूला फला

* तत्र हेयोपादेयप्रवृत्तिरूपतया येन पदार्थपरिच्छित्तिः क्रियते तत् प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। [सू० कृ० श्रु० १ अ० १२ की टीका]

देख कर संसार के अन्य सभी आंब के वृक्ष फूले फले हुए हैं, ऐसा जानना, अथवा देवदत्तादिकों में गति पूर्वक, स्थान से स्थानांतर की प्राप्ति को देख कर सूर्य में भी गति का अनुमान करना, सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। परंतु तहां भी अन्यथानुपपत्ति ही गमक है, कारणादिक नहीं क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के बिना कारण को कार्य के प्रति व्यभिचार होने से, उसी को गमक मानना चाहिये। अरु जहां अन्यथानुपपत्ति है, तहां कार्य कारणादिकों के बिना भी गम्य-गमकभाव देखते हैं, जैसे कृत्तिका के देखने से रोहिणी का उदय होवेगा। तदुक्तं—

* अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

तथा एक और भी बात है, कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण ही नैयायिक का कहा प्रमाण न हुआ, तब प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान जो है, सो क्योंकर प्रमाण होवेगा? तथा "प्रसिद्ध साधर्म्यात्" अर्थात् प्रसिद्ध साधर्म्य से जो साध्य का साधन है, सो

* अन्यथानुपपन्नत्वम्—अविनाभावः। [प्र० मी० १-२-९]

जहां पर अविनाभाव है, वहां पर हेतु की त्रिविधरूपता की क्या आवश्यकता है? और जहां पर अविनाभाव नहीं, वहां पर भी हेतु-त्रैविध्य अनावश्यक है।

तात्पर्य कि जहां पर अविनाभाव है, वहां पर हेतु त्रैविध्य रहे या

उपमान है। यथा—जैसी गौ है तैसा गवय-रोझ है। यहां भी संज्ञा संज्ञी के सम्बन्धी की प्रतिपत्ति ही उपमान का अर्थ है। तब यहां भी अन्यथानुपपत्ति के सिद्ध होने से उपमान भी अनुमान के अन्तर्भूत ही है, पृथक् प्रमाण नहीं। जेकर कहोगे कि यहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है, तब तो व्यभिचारी होने से उपमान प्रमाण ही नहीं है। शब्द भी सर्व ही प्रमाण नहीं है, किंतु जो आप्त प्रणीत आगम है, सोई प्रमाण है। अरु अर्हंत के बिना दूसरा कोई आप्त है नहीं। इस बात का विशेष निर्णय देखना होवे, तो सम्मतितर्क, नंदीसिद्धांत, आप्तमीमांसादि शास्त्र देख लेने। तथा एक और भी बात है, कि यह चारों प्रमाण आत्मा का ज्ञान है, अरु ज्ञान आदि वस्तु के गुणों को पृथक् पदार्थ मानिये, तब तो रूप रसादि को भी पृथक् पदार्थ मानना चाहिये। जेकर कहो कि प्रमेय के ग्रहण में इन्द्रिय और अर्थादि से ये भी ग्रहण किये जाते हैं। तो यह भी तुमारा कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि द्रव्य से पृथक् गुणों का अभाव है, द्रव्य के ग्रहण करने से गुणों का भी ग्रहण

न रहे तो भी हेतु से साध्य का अनुमान हो सकता है। परन्तु जहां पर अविनाभाव नहीं है, वहां पर हेतु त्रैविध्य होने पर भी साध्य की सिद्धि नहीं होती। जैसे—कृत्तिका के दर्शन से रोहिणी के उदय विषयक अनुमान में कार्य कारण भाव का अभाव होने पर भी अविनाभाव से साध्य की सिद्धि हो जाती है। हेतु त्रैविध्य—हेतु का पक्ष तथा सपक्ष में रहना और विपक्ष में न रहना।

सिद्ध है, इस वास्ते इस को पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं।

२. तथा प्रमेय के भेद–१. आत्मा, २. शरीर, ३. इंद्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख, १२. अपवर्ग। तहां आत्मा सर्व का देखने वाला अरु भोक्ता है, अरु इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, ज्ञान, इन करके अनुमेय है। सो तो हम ने जीवतत्त्व में ग्रहण किया है। अरु शरीर जो है, सो आत्मा का भोगायतन है, इन्द्रिय भोगों के साधन हैं, अरु इन्द्रियार्थ भोग्य हैं। ये शरीरादिक भी जीवाजीव के ग्रहण से हमने ग्रहण करे हैं। अरु बुद्धि जो है, सो उपयोग रूप ज्ञान विशेष है, सो बुद्धि जीव के ग्रहण ही में आ गई, एतावता जीव तत्त्व में ही ग्रहण होगई। अरु मन सर्व विषय अंतःकरण है, युगपत् ज्ञान का न होना यह मन का लिंग है। तहां द्रव्यमन तो पौद्गलिक है, सो अजीव तत्त्व में ग्रहण किया है। अरु भावमन जो है सो ज्ञानरूप आत्मा का गुण है, सो जीव तत्त्व में ग्रहण किया है। अरु आत्मा की इच्छा का नाम प्रवृत्ति है, सो सुख दुःखों के होने में कारण है, ज्ञान रूप होने से यह जीव-तत्त्व में ग्रहण करी है। आत्मा के जो अध्यवसाय–राग, द्वेष, मोहादि, सो दोष हैं, यह दोष भी जीव के अभिप्राय रूप होने से जीवतत्त्वमें ही ग्रहण किये हैं, इसवास्ते पृथक् पदार्थ नहीं। प्रेत्य-भाव-परलोक का सद्भाव होना, सोभी जीवाजीव के बिना और कुछ नहीं है। तथा फल-सुख दुःख का भोगना, सोभी जीव

गुणों के अंतर्भूत है। इस वास्ते पृथक् पदार्थ कहना ठीक नहीं। तथा दुःख, यह भी फल से न्यारा नहीं । अरु जन्ममरणादि सर्व प्रकार के दुःखों से रहित होना अपवर्ग-मोक्ष है । सो हम ने नवतत्त्व में माना ही है।

३. तथा यह क्या है ? ऐसे अनिश्चयरूप प्रत्यय को संशय कहते हैं, सो भी निर्णय ज्ञानवत् आत्मा ही का गुण है।

४. तथा मनुष्य जिस से प्रयुक्त हुआ प्रवृत्त होता है, तिस का नाम प्रयोजन है, सो भी इच्छा विशेष होने से आत्मा का ही गुण है।

५. तथा जो विवाद का विषय न हो अर्थात् वादी प्रति-वादी दोनों को संमत हो, सो दृष्टांत है। वो भी जीवाजीव-पदार्थों से न्यारा नहीं है इस वास्ते पृथक् पदार्थ नहीं है। क्योंकि अवयवग्रहण में भी आगे इस का ग्रहण हो जावेगा।

६. तथा सिद्धांत चार प्रकार का है-(१) 'सर्वतंत्राविरुद्धः'-सर्व शास्त्रों में अविरुद्ध, जैसे स्पर्शनादि इन्द्रिय हैं, अरु स्पर्शादि इन्द्रियार्थ हैं, तथा प्रमाणों द्वारा प्रमेय का ग्रहण होता है। (२) समानतंत्रसिद्ध और परतंत्रासिद्ध प्रतितंत्र-सिद्धांत है, जैसे सांख्य मत में कार्य सत् ही उत्पन्न होता है, न्याय वैशेषिक मत में असत् और जैन मत में सदसत् उभयरूप उत्पन्न होता है। (३) जिस की सिद्धि के होने पर और भी अर्थ अनुषंग करके सिद्ध हो जावे, सो अधिक-रणसिद्धांत है । तथा (४) "अपरीक्षितार्थाभ्युपगमत्वात्तद्वि-

शेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धांतः"—जैसे किसी ने कहा शब्द क्या वस्तु है ? कोई एक कहता है कि शब्द द्रव्य है, सो शब्द नित्य है ? वा अनित्य है ? इत्यादि विचार। यह चार प्रकार का सिद्धांत भी ज्ञान विशेष से अतिरिक्त नहीं है। अरु ज्ञानविशेष आत्मा का गुण है, जो गुणी के ग्रहण करने से ग्रहण किया जाता है। इस वास्ते पृथक् पदार्थ नहीं।

७. अथ अवयव–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इन पांचों अवयवों को जेकर शब्दमात्र मानिये, तब तो पुद्गल रूप होने से अजीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं। जेकर ज्ञानरूप मानिये, तब तो जीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं। इस वास्ते पृथक् पदार्थ कहना ठीक नहीं। जेकर ज्ञान विशेष को पृथक् पदार्थ मानिये तब तो पदार्थ बहुत हो जावेंगे, क्योंकि ज्ञानविशेष अनेक प्रकार के हैं।

८. संशय के अनन्तर भवितव्यता प्रत्ययरूप जो पदार्थ पर्यालोचन. तिस को तर्क कहते हैं। जैसे कि, यह स्थाणु अथवा पुरुष ज़रूर होगा। यह भी ज्ञान विशेष ही है। ज्ञानविशेष जो है, सो ज्ञाता से अभिन्न है, इस वास्ते पृथक् पदार्थ कल्पना ठीक नहीं।

९. संशय और तर्क सेती उत्तर काल भावी निश्चयात्मक जो ज्ञान, तिस का नाम निर्णय है। यह भी ज्ञानविशेष है, अरु निश्चयरूप होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अंतर्भूत होने से पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं।

तथा १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितंडा—तहां प्रमाण, तर्क, साधन, उपालंभ, सिद्धांत मे अविरुद्ध पंचावयव संयुक्त पक्ष प्रतिपक्ष का जो ग्रहण करना, तिस का नाम वाद है। सो वाद तत्त्वज्ञान के वास्ते शिष्य अरु आचार्य का होता है। अरु सोई वाद, जिस को जीतना होवे, तिस के साथ छल, जाति, निग्रहस्थान आदि के द्वारा जो साधनोपालंभ—स्वपक्ष स्थापन और पर पक्ष में दूषणोत्पादन करना जल्प कहलाता है। तथा सो वाद ही प्रतिपक्ष स्थापना से रहित वितंडा है। परन्तु वास्तव में इन तीनों का भेद ही नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्त्वचिंता में तत्त्व के निर्णयार्थ वाद करना चाहिये। छल जाति आदिक से तत्त्व का निश्चय ही नहीं होता है। छलादिक जो हैं, सो पर को परास्त करने के वास्ते ही हैं, तिन से तत्त्वनिर्णय की प्राप्ति कदापि नहीं होती। जेकर इन का भेद भी माना जावे, तो भी ये पदार्थ नहीं हो सकते हैं। क्योंकि जो परमार्थ वस्तु है, सोई पदार्थ है। अरु वाद जो है, सो पुरुष की इच्छा के अधीन है, नियतरूप नहीं है। इस वास्ते पदार्थ नहीं। तथा एक और भी बात है, कि बहुत से लोग कुकड़, लाल और मींढे, आदि के वाद में भी पक्ष प्रतिपक्ष का ग्रहण करते हैं। तब तो तिनों को भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनी चाहिये, परन्तु यह तो तुम भी नहीं मानते। इस वास्ते वाद पदार्थ नहीं है।

१३. तथा असिद्ध, अनैकांतिक, विरुद्ध, यह तीनों हेत्वा-

भास हैं। हेतु तो नहीं, परन्तु हेतु की तरें भासमान होते हैं, इस वास्ते इन को हेत्वाभास कहते हैं। जब सम्यक् हेतुओं की ही तत्त्वव्यवस्थिति नहीं, तो हेत्वाभासों का तो कहना ही क्या है? क्योंकि जो नियत स्वरूप करके रहे, सो वस्तु है। परंतु हेतु तो एक साध्य वस्तु में हेतु है, और दूसरे साध्य में अहेतु है, इस वास्ते नियत स्वरूप वाला नहीं।

तथा १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान, यह तीनों पदार्थ नहीं हैं; क्योंकि यह तीनों ही वास्तव में कपट रूप हैं। जिनों ने इनको तत्त्व रूप से कथन किया है, उन के ज्ञान, वैराग्य का तो कहना ही क्या है? तब तो इस संसार में जो चोरी, ठगी, और हाथ फेरी आदि सिखावे, तिस को भी तत्त्वज्ञान का उपदेशक मानना चाहिये। यह नैयायिक मत के सोलां पदार्थों का स्वरूप तथा खण्डन संक्षेप से बतला दिया। जे कर विशेष देखना होवे, तो न्यायकुमुदचन्द्र और सूत्रकृतांग सिद्धांत का बारहवां अध्ययन देख लेना।

छः पदार्थों की समीक्षा

अथ वैशेषिक मत का खण्डन लिखते हैं। वैशेषिकों के कहे हुये तत्त्व भी तत्त्व नहीं हैं। वैशेषिक मत में १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य ५. विशेष, ६. समवाय, यह छे तत्त्व माने है। तहां १. पृथिवी, २. अप्, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिक्, ८. आत्मा, ९. मन, यह नव द्रव्य हैं। परन्तु तिन में पृथिवी, अप्, तेज, और वायु, इन

चारों को भिन्न भिन्न द्रव्य मानने से ठीक नहीं। क्योंकि परमाणु जो हैं, सो प्रयोग और विश्रसा करके पृथिवी आदिकों के रूप से परिणमते हुए भी अपने द्रव्य पन को नहीं त्यागते हैं। तथा अतिप्रसंग होने से, अवस्था भेद करके द्रव्य का भेद मानना भी युक्त नहीं है। आकाश तथा काल को तो हमने भी द्रव्य माना है। दिशा जो है, सो आकाश का अवयवभूत है, इस वास्ते पृथक् द्रव्य नहीं। तथा आत्मा जो कि शरीर मात्र व्यापी और उपयोग लक्षण वाला है, तिस को हम भी द्रव्य मानते हैं। अरु जो द्रव्यमन है, सो पुद्‌गल द्रव्य के अन्तर्भूत है, तथा जो भावमन है, सो जीव का गुण होने से आत्मा के अन्तर्गत है। यद्यपि वैशेषिक कहते हैं, कि पृथिवी पृथिवीत्व के योग से पृथिवी है। परन्तु यह भी उन का कहना स्वप्रक्रिया मात्र ही है, क्योंकि पृथिवी से अन्य दूसरा कोई पृथिवीत्व—पृथिवीपना नहीं है, जिस के योग से पृथिवी पृथिवी होवे। अपि तु सर्व जो कुछ भी है, सो सामान्य विशेषात्मक है, अर्थात् नरसिंहाकारवत् उभय स्वभाव है। तथा चोक्तम्:—

नान्वयः स हि भेदत्वान्न, भेदोऽन्वयवृत्तितः।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग-वृत्तिजात्यंतरं घटः॥
न नरः सिंहरूपत्वा-न्न सिंहो नररूपतः।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यंतरं हि सः॥

[सू० कृ०, श्रु० १ अ० १२ की टीका]

भावार्थः—घट और मृत्तिका का अन्वय—अभेद नहीं है, क्योंकि पृथु, बुध्न, उदराकारादिकों करके इस का भेद है, तथा अन्वयवर्ती होने से घट का मृत्तिका से भेद भी नहीं है, एतावता घट मृत्तिका रूप ही है। तब अन्वय व्यतिरेक इन दोनों के मिलने से घड़ा जो है, सो जात्यंतर रूप है, एतावता मृत्तिका से कथंचित् भेदा भेद रूप है। सिंह रूप होने से नर नहीं है, अरु नररूप होने से सिंह भी नहीं है, तब तो शब्द, विज्ञान, और कार्य के भेद होने से नरसिंह जो है, सो तीसरी जाति है।

२. अथ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, इन की प्रवृत्ति रूपी द्रव्य में है, अरु ये विशेष गुण हैं। तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, ये सामान्य गुण हैं। इन की सर्व द्रव्य में वृत्ति है। तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, ये आत्मा के गुण हैं। तथा गुरुत्व पृथिवी और जल में है। द्रवत्व पृथिवी, जल अरु अग्नि में है। स्नेह जल में ही है। वेग नाम का संस्कार मूर्त्त द्रव्यों में है। अरु शब्द आकाश का गुण है। परन्तु तिन में संख्यादिक जो सामान्य गुण हैं। वे रूपादिवत् द्रव्यस्वभाव होने करके परोपाधि से गुण ही नहीं हैं। क्यों-कि जब गुण, द्रव्य से पृथक् हो जावेंगे, तब द्रव्य के स्वरूप की हानि हो जावेगी। *"गुणपर्यायवद्द्रव्यम्"—इस कहने

* तत्वा० अ०, ५ सू० ३७। द्रव्य, गुण और पर्याय वाला है।

करके गुण जो हैं, सो द्रव्य से न्यारे नहीं हैं। द्रव्य के ग्रहण ही से गुण का ग्रहण करना न्याय्य है, पृथक् पदार्थ मानना युक्त नहीं है। तथा शब्द जो है, सो आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि यह तो पौद्गलिक है, अरु आकाश अमूर्त्त है। शेष जो कुछ वैशेषिक ने कहा है, सो प्रक्रियामात्र है, साधन दूषणों का अंग नहीं है।

३. अरु कर्म भी गुणवत् पृथक् पदार्थ मानना अयुक्त है।

४. अथ सामान्य दो प्रकार के हैं, एक पर, दूसरा अपर। तिन में पर सामान्य महासत्ता का नाम है, वो द्रव्यादि तीन पदार्थों में व्याप्त है। अरु जो अपर है, सो द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादिक है। तिन में महासत्ता को पृथक् पदार्थ मानना अयुक्त है। क्योंकि सत्ता में जो सत् प्रत्यय है, सो क्या और किसी सत्ता के योग से है? वा स्वरूप करके है? जेकर कहोगे कि और सत्ता के योग से है, तब तो तिस सत्ता में जो सत् प्रत्यय है, वह किसी और सत्ता के योग से होना चाहिये। इस प्रकार तो अनवस्था दूषण आता है। जेकर कहोगे कि स्वरूप करके सत् है, तब तो द्रव्यादिक भी स्वरूप करके सत् हैं। तो फिर अजा के गल के स्तनों की तरे निष्फल सत्ता की कल्पना से क्या प्रयोजन है? एक और भी

द्रव्य में परिणाम को उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है, वही इस का 'गुण' है, और गुण से होने वाला परिणाम 'पर्याय' है; गुण कारण है और पर्याय कार्य है।

बात है. कि द्रव्यादिक जो हैं, सो क्या सत्ता के योग होने से सत् कहे जाते हैं ? अथवा सत्ता के सम्बन्ध विना ही सत् स्वरूप हैं ? जेकर कहोगे कि स्वतः ही सत् स्वरूप हैं, तब तो सत्ता की कल्पना करनी व्यर्थ है। जेकर कहोगे कि सत्ता के योग से सत् है, तब तो शशविषाण भी सत्ता के योग से सत् होना चाहिये। तथा चोक्तम्ः—

स्वतोऽर्थाः संतु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मनाम्।
असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथातिप्रसंगतः ॥

[सू० कृ०, श्रु० १ अ० १२ की टीका में संगृहीत]

यही दूषण तुल्य योग क्षेम होने से अपर सामान्य में भी समझ लेने। तथा सामान्य विशेष रूप होने से वस्तु को कथंचित् सामान्यरूप हम भी मानते हैं। इस वास्ते द्रव्य के ग्रहण करने से सामान्य का भी ग्रहण होगया। अतः सामान्य जो है, सो द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं है।

५. अथ विशेष जो हैं, सो अत्यंत व्यावृत्त बुद्धि के हेतु होने करके वैशेषिकों ने माने हैं। तहां यह विचार करते हैं, कि तिन विशेषों में जो विशेष बुद्धि है, सो क्या अपर विशेषों करके है ? वा स्वतः ही-स्वरूप करके है ? अपर विशेषहेतुक तो हो नहीं सकती, क्योंकि अनवस्था दोष आता है, तथा विशेष में विशेष का अंगीकार नहीं है। जेकर कहोगे कि स्वतः ही विशेष बुद्धि के हेतु हैं, तब तो द्रव्यादिक भी स्वतः ही

विशेष बुद्धि के हेतु हो सकते हैं। तो फिर विशेषों को द्रव्य से अतिरिक्त पदार्थ कल्पना व्यर्थ है। और द्रव्यों से अव्यतिरिक्त विशेषों को तो, सर्व वस्तुओं को सामान्य विशेषात्मक होने से हम भी मानते हैं।

६. अरु समवाय—जो अयुतसिद्ध आधार आधेय भूत पदार्थों में, 'इह प्रत्यय' का हेतु हो, उस को समवाय कहते हैं। समवाय जो है, सो नित्य अरु एक है। ऐसे वैशेषिक मानते हैं। परन्तु तिस समवाय के नित्य होने से समवायी भी नित्य होने चाहिये? जेकर समवायी अनित्य हैं, तो समवाय भी अनित्य होना चाहिये? क्योंकि समवाय का आधार समवायी है। तथा समवाय के एक होने से समवायी भी एक ही होने चाहिये। अथवा समवायियों के अनेक होने से समवाय भी अनेक होने चाहियें। तथा जो समवाय पदार्थों का संबंध करता है, वह समवाय उन पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध अपर समवाय के योग से करता है? किंवा आप ही अपना सम्बन्ध करता है? जेकर कहो कि अपर समवाय से करता है, तब तो अनवस्थादूषण है। तथा समवाय भी दूसरा है नहीं। जेकर कहो कि आप ही अपना सम्बन्ध करता है, तब तो गुण क्रियादिक भी द्रव्य से स्वरूप करके तथा अविष्वग्भाव सम्बन्ध करके सम्बद्ध हैं ही। फिर समवाय की कल्पना क्यों करनी?

इस कारण से वैशेषिक मत में भी पदार्थों का कथन

सम्यक्-आलोक नहीं है। तथा नैयायिक और वैशेषिक मत में जो *मोक्ष मानी है, सो भी प्रेक्षावानों—बुद्धिमानों को मानने योग्य नहीं है। क्योंकि ये लोग जब आत्मा ज्ञान से रहित होवे, एतावता जडरूप हो जावे, तब उस आत्मा की मोक्ष मानते हैं। ऐसी मोक्ष को कौन बुद्धिमान् उपादेय कहेगा ? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो सर्व सुख और ज्ञान से रहित पाषाण तुल्य अपनी आत्मा को करना चाहे ? इसी वास्ते किसी ने वैशेषिकों का उपहास भी करा है:—

‡ वरं वृंदावने रम्ये, क्रोष्टृत्वमभिवांछितम् ।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गंतुमिच्छति ॥

[स्या० मं०, (श्लो० ८) में संगृहीत]

---

* न्याय मत में आत्यन्तिक दुःखध्वंसरूप मोक्षमानी है। वैशेषिक मत में भी आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आदि गुणों के आत्यन्तिक विनाश को ही मोक्ष कहा है। इस लिये न्याय और वैशेषिक मत में मोक्ष को ज्ञान और आनन्द स्वरूप अंगीकार नहीं किया। किन्तु उन के सिद्धान्त में यावद् दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही अपवर्ग–मोक्ष है। यथा:—

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" । [न्या० द०, १–१–२२]

इस से सिद्ध है, कि मोक्ष दशा में आत्मा ज्ञान से शून्य और अपने जडस्वरूप में स्थित रहता है।

‡ यह गौतम नाम के किसी विद्वान् विशेष की उक्ति है। वह...

तात्पर्य कि, स्वर्ग के जो सुख हैं, सो सोपाधिक, सावधिक, परिमित आनंद रूप हैं, अरु मोक्ष जो है, सो निरुपाधिक, निरवधिक, अपरमित आनंद ज्ञान सुख स्वरूप है, ऐसे विचक्षण पुरुष कहते हैं। जब कि यह मोक्ष पाषाण के तुल्य है, तब तो ऐसी मोक्ष से कुछ भी प्रयोजन नहीं। इससे तो संसार ही अच्छा है, कि जिस में दुःख करके कलुषित सुख तो भोगने में आता है। ज़रा विचार तो करो, कि थोड़े सुख का भोगना अच्छा है, वा सर्व सुखों का उच्छेद अच्छा है? इत्यादि विशेष चर्चा स्याद्वादमंजरी टीका [श्लो० ८] से जाननी। इस वास्ते नैयायिक मत, अरु वैशेषिक मत उपादेय नहीं है।

सांख्य मत का खण्डन

अथ सांख्य मत का खण्डन लिखते हैं। सांख्य मत का स्वरूप तो ऊपर लिखा है। सो जान लेना। सांख्य का मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर विरोधी और प्रकृति स्वरूप सत्त्व, रज, और तम गुणों का गुणी के बिना एकत्र अवस्थान अर्थात् रहना युक्तियुक्त नहीं है। जैसे कि कृष्ण श्वेतादि गुण गुणी के बिना एकत्र नहीं रह सकते हैं। तथा महदादि विकार के उत्पन्न करने के वास्ते प्रकृति में विषमता उत्पन्न करने में कोई भी कारण नहीं हैं।

कहता है, कि वैशेषिक की मुक्ति की अपेक्षा तो उसे वृन्दावन के किसी रम्य प्रदेश में गीदड़ बन कर रहना अच्छा लगता है।

क्योंकि प्रकृति के बिना और कोई वस्तु तो सांख्य मानते नहीं हैं। तथा आत्मा को अकर्त्ता—अकिंचित्कर मानते हैं। जेकर प्रकृति में स्वभाव से वैषम्य मानोगे, तब निर्हेतुकता होवेगी, अर्थात् या तो पदार्थों में सत्त्व ही होगा और या असत्त्व ही रहेगा। क्योंकि जो कार्य कभी होवे, अरु कभी न होवे, वो हेतु के बिना नहीं हो सकता है, अरु जो खरशृंगादि नित्य असत् हैं, तथा आकाशादि नित्य सत् हैं, सो तो किसी हेतु से होते नहीं हैं। तथाः—

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥

[सू० कृ०, श्रु० १ अ० १२ की टीका में उद्धृत]

तथा स्वभाव प्रकृति से भिन्न है? वा अभिन्न है? भिन्न तो नहीं, क्योंकि प्रकृति बिना सांख्यों ने अपर कोई वस्तु मानी नहीं है, जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तब तो प्रकृति ही है, "न तु स्वभावः"—स्वभाव नहीं है।

तथा एक और भी बात है कि महत् अरु अहंकार को हम ज्ञान से भिन्न नहीं देखते, क्योंकि बुद्धि जो है सो अध्यवसायमात्र है, अरु अहंकार जो है, सो अहं सुखी, अहं दुःखी इस स्वरूप वाला है, तब ये दोनों चिद्रूप होने से आत्मा के ही गुण विशेष हैं, किन्तु जड़ रूप प्रकृति के विकार नहीं हैं।

तथा यह जो आप तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति मानते हैं, जैसे १. गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी, २. रसतन्मात्रा से जल, ३. रूप तन्मात्रा से अग्नि, ४. स्पर्श तन्मात्रा से वायु, और ५. शब्द तन्मात्रा से आकाश। यह भी मानना युक्तियुक्त नहीं है। जेकर बाह्य भूतों की अपेक्षा से कहते हो, तो वो भी अयुक्त है। इन बाह्य पांच भूतों के सदा ही विद्यमान रहने से, इन की उत्पत्ति ही नहीं है। "न कदाचिदनीदृशं जगत् इति वचनात्" अर्थात् यह जगत् प्रवाह करके अनादि काल से सदा ऐसा ही चला आता है।

जेकर कहोगे कि प्रतिशरीर की अपेक्षा हम उत्पत्ति कहते हैं। तिन में त्वचा, अस्थि लक्षण कठिन पृथिवी है। श्लेष्म, रुधिर लक्षण द्रव अप्-जल है। पक्ति लक्षण अग्नि है। पानापान लक्षण वायु है। शुषिर अर्थात् पोलाड़ लक्षण आकाश है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तिन में भी कितनेक शरीरों की उत्पत्ति पिता के शुक्र, अरु माता के रुधिर से होती है, तहां तन्मात्राओं की गन्ध भी नहीं है। अरु अदृष्ट वस्तु को कारण कल्पने में अतिप्रसंग दूषण है। तथा अण्डज, उद्भिज्ज, अंकुरादिकों की उत्पत्ति अपर ही वस्तु से होती दीख पड़ती है। इस वास्ते महदहंकारादिकों की उत्पत्ति जो सांख्यों ने अपनी प्रक्रिया से मानी है, सो युक्ति रहित मानी है। केवल अपने मत के राग से ही यह मानना है। तथा आत्मा को अकर्त्ता माने हैं। तब

तो कृतनाश अरु अकृताभ्यागम दूषण होंगे, अरु बन्ध मोक्ष का भी अभाव होगा, एवं निर्गुण होने से आत्मा ज्ञान शून्य हो जावेगी। इस वास्ते यह सर्व पूर्वोक्त बालप्रलापमात्र है।

अब सांख्यमत के मोक्ष का विचार करते हैं, "प्रकृति-पुरुषांतरपरिज्ञानात् मुक्तिः" अर्थात् प्रकृति पुरुष से अन्य है, ऐसा जब ज्ञान होता है, तब मुक्ति होती है। यथा—

शुद्धचैतन्यरूपोऽयं, पुरुषः पुरुषार्थतः।
प्रकृत्यंतरमज्ञात्वा, मोहात्संसारमाश्रितः॥

[षड्० स०, श्लो० ४३ की बृ० वृ० में संगृहीत]

भावार्थः—पुरुष जो है, सो परमार्थ से शुद्ध चैतन्यरूप है, अपने आपको प्रकृति से एकमेक-अभिन्न समझता है, यही मोह है, इस मोह से ही संसार के आश्रित हो रहा है। अतः सुख दुःख स्वभावरूप प्रकृति को विवेक ज्ञान के द्वारा जब तक अपने से अलग नहीं समझेगा तब तक मुक्ति नहीं। इस वास्ते विवेक ख्यातिरूप केवल ज्ञान के उदय होने से मुक्ति होती है। परन्तु यह भी असत् है, क्योंकि आत्मा एकांत नित्य है, अरु सुखादि जो हैं, सो उत्पाद व्यय स्वभाव वाले हैं। तब तो विरुद्ध धर्म के संसर्ग से आत्मा-से प्रकृति का भेद प्रतीत ही है। तो फिर मुक्ति क्यों नहीं? संसारी पुरुष यही तो विचार नहीं करता, इसी वास्ते उस की मुक्ति नहीं। तब तो तुमारे कहने से कदापि

मुक्ति नहीं होवेगी। क्योंकि विवेकाध्यवसाय संसारी को कदापि नहीं हो सकता। जहां लग संसारी है, तहां लग विवेक परिभावना करके संसारी पना दूर नहीं होता है। इस वास्ते विवेकाध्यवसाय के अभाव से कदापि संसार से छूटना नहीं होगा।

एक और भी बात है, कि इस सृष्टि से पहले केवल आत्मा है, ऐसे तुम मानते हो। तब फिर आत्मा को संसार कहां से लिपट गया? जे कर कहोगे कि निर्मल आत्मा को संसार लिपट जाता है, तब तो मोक्ष होने के पीछे फिर भी संसार लिपट जायगा, तब तो मोक्ष भी क्या एक विडंबना खडी हो गई।

प्रतिवादी—सृष्टि से पहिले आत्मा को दिदृक्षा हुई, और तिस दिदृक्षा के वश से वह प्रधान के साथ अपना एक रूप देखने लगा, तब संसारी हो गया। अरु जब प्रकृति की दुष्टता उस के विचार में आई, तब प्रकृति से वैराग्य हुआ, फिर प्रकृति विषे दिदृक्षा नहीं रही, तब संसार भी नहीं।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना स्वकृतांत विरोध होने से अयुक्त है। क्योंकि दिदृक्षा—देखने की अभिलाषा का नाम है, सो अभिलाषा पूर्व देखे हुए पदार्थों में स्मरण से होती है। परन्तु प्रकृति तो पुरुष ने पूर्व कदापि देखी नहीं है, तब कैसे तिस विषे स्मरण अभिलाषा होवे? जेकर कहोगे कि अनादि वासना के वश से प्रकृति में ही स्मरण

अभिलाषा है। सो भी असत् है, क्योंकि वासना भी प्रकृति का विकार होने करके प्रकृति के पहिले नहीं थी। जेकर कहोगे कि वासना जो है, सो आत्मा का स्वरूप है, तब तो आत्मस्वरूपवत् वासना का कदापि अभाव नहीं होवेगा, अरु मोक्ष भी कदापि नहीं होवेगा। तब तो सांख्य का मत भी बालकों का खेल जैसा हो जायगा।

अथ मीमांसक मत का खण्डन लिखते हैं। इस मत का स्वरूप ऊपर लिख आये हैं। अरु वेदांतियों के ब्रह्म—अद्वैत का खण्डन भी ईश्वरवाद में अच्छी तरे से कर चुके हैं, इस वास्ते यहां नहीं लिखा।

अथ जैमिनीय मत का खण्डन लिखते हैं। जैमिनीय ऐसे कहते हैं, कि जो * "हिंसा गार्ध्यात्०"—

वेदविहित हिंसा

अर्थात् इन्द्रियों के रस वास्ते अथवा कुव्यसन से कीजाय सोई हिंसा अधर्म का हेतु है; क्योंकि शौनिक लुब्धकादिकों की तरें, वो प्रमाद से की जाती है। अरु वेदों में जो हिंसा कही है, सो हिंसा नहीं है; किंतु देवता, अतिथि और पितरों के प्रति प्रीतिसंपादक होने से तथाविध पूजा उपचार की भांति धर्म का हेतु है। अरु यह प्रीतिसम्पादकत्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि कारीरी

* या हिंसा गार्द्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुबन्धहेतुः प्रमादसम्पादितत्वात् शौनिकलुब्धकादीनामिव, इत्यादि।

[स्या० मं०, श्लो० ११]

प्रभृति यज्ञों के स्वसाध्य विषे वृष्ट्यादि फलों का अव्यभिचारी पना है। सो यज्ञ करने से जो देवता तृप्त होते हैं, वो वृष्ट्यादिकों के हेतु हैं। ऐसे ही * "त्रिपुरार्णववर्णितछगल" अर्थात् त्रिपुरार्णव में वर्णन किये गये बकरे के मांस का होम करने से परराष्ट्र का जो वश होना है, सो भी उस मांस की आहुतियों से तृप्त हुए २ देवताओं का ही अनुभाव है। अरु अतिथि की प्रीति भी "मधुसंपर्कसंस्कारादिसमास्वादजा"— मधुपर्क से प्रत्यक्ष ही दीख पड़ती है, अरु पितरों के वास्ते जो श्राद्ध करते हैं, उस करके तृप्त हुए पितर, स्वसंतान की वृद्धि करते हुए प्रत्यक्ष ही दीखते हैं। अरु इस बात में आगम भी प्रमाण है, आगम में देवप्रीत्यर्थ अश्वमेध, नरमेध, गोमेधादिक करने कहे हैं। अरु अतिथि विषय में †"महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेदिति" ऐसा कहा है। अरु पितरों की प्रीति के वास्ते यह श्लोक हैं:—

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः, शाकुनेनाथ पंच वै॥
षण्मासान् छागमांसेन, पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन, रौरवेण नवैव तु॥

---

* यह वाम सम्प्रदाय का मन्त्र शास्त्र है।

† या० व० स्मृ०, आचाराध्याय० १०९।

दशमासांस्तु तृप्यंति, वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन, मासानेकादशैव तु ॥
संवत्सरं तु गव्येन, पयसा पायसेन च ।
वाध्रीणसस्य मांसेन, तृप्ति र्द्वादशवार्षिकी ॥

[म० स्मृ०, अ० ३ श्लो० २६८–२७१]

भावार्थः—जेकर पितरों को मत्स्य का मांस देवे, तो पितर दो मास लग तृप्त रहते हैं । जेकर हरिण का मांस पितरों को देवे, तो पितर तीन मास लग तृप्त रहते हैं। जेकर मींढे का मांस पितरों को देवे, तब चार मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर जंगली कुकड़ का मांस पितरों को देवे, तो पितर पांच मास तक तृप्त रहते हैं। जेकर बकरे का मांस देवे, तो पितर छमास लग तृप्त रहते हैं । जेकर पृषत—बिंदु करके युक्त जो हरिण, उस को पार्षत कहते हैं, तिस का मांस जो पितरों को देवे, तो पितर सात मास लग तृप्त रहते हैं। जेकर एण मृग का मांस देवे, तो आठ मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर सूअर अरु महिष का मांस देवे, तो दश मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर शश अरु कच्छु, इन दोनों का मांस देवे, तो ग्यारह मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर गौ का दूध अथवा खीर देवे, तो बारह मास लग पितर तृप्त रहते हैं, तथा वाध्रीण–जो अति बूढ़ा बकरा होवे, तिस का मांस देवे, तो बार वर्ष लग पितर तृप्त

रहते हैं। यह मीमांसक मानते हैं।

वेदविहित हिंसा का प्रतिवाद

अब इस का खण्डन लिखते हैं। हे मीमांसक ! वेदों में जो हिंसा कही है, सो धर्म का हेतु कदापि नहीं हो सकती है। क्योंकि हिंसा को कहने में प्रगट ही स्ववचन विरोध है। तथाहि, जेकर धर्म का हेतु है, तब तो हिंसा क्योंकर है ? अरु जेकर हिंसा है, तो धर्म का हेतु क्योंकर हो सकती है ? कहा भी है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥

इस वास्ते हिंसा को धर्म नहीं कह सकते। क्योंकि एक स्त्री माता भी है, अरु वंध्या भी है, ऐसा कभी नहीं होता है।

प्रतिवादीः—हिंसा कारण है, अरु धर्म तिस का कार्य है।

सिद्धांतीः—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जो जिस के साथ अन्वय व्यतिरेक वाला होता है, सो तिस का कार्य होता है। जैसे मृत्पिंडादि का घटादिक कार्य है। अर्थात् जिस प्रकार मृत्पिंड और घट इन दोनों में अन्वय व्यतिरेक का सम्बन्ध होने से घट मृत्पिंड का कार्य सिद्ध होता है, उस प्रकार हिंसा और धर्म का आपस में अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् हिंसा करने से ही धर्म होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि अहिंसारूप

तप, दान, और अध्ययन आदिक भी धर्म के कारण हैं।

प्रतिवादीः—हम सामान्य हिंसा को धर्म नहीं कहते, किंतु विशिष्ट हिंसा को धर्म कहते हैं। सो विशिष्ट हिंसा वोही है, जो वेदों में करनी कही है।

सिद्धांतीः—जे कर वेद की हिंसा धर्म का हेतु है, तो क्या जो जीव यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मरते नहीं हैं, इस वास्ते धर्म है? अथवा उन के आर्त्तध्यान का अभाव है, इस वास्ते धर्म है? अथवा जो यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मर के स्वर्ग को जाते हैं, इस वास्ते धर्म है? इस में आद्य पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि प्राण त्यागते हुए तो वो जी प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। तथा दूसरा पक्ष भी असत् है, क्योंकि दूसरे के मन का ध्यान दुर्लक्ष है, इस वास्ते आर्त्तध्यान का अभाव कहना, यह भी परमार्थ शून्य वचन-मात्र है। आर्त्तध्यान का अभाव तो क्या होना था। बल्कि, हा! हम बड़े दुःखी हैं! है कोई करुणारस भरा दयालु जो हम को इस घोर यातना से छुड़ावे! इस प्रकार अपनी भाषा में हृदय द्रावक आक्रन्दन करते हुए मूक प्राणियों के मुख की दीनता और नेत्रों की सरलता आदि के देखने से स्पष्ट उन विचारों के आर्त्तध्यान की उपलब्धि होती है।

प्रतिवादीः—जैसे लोहे का गोला पानी में डूबने वाला भी है, तोभी तिस के सूक्ष्म पत्र कर दिये जायं तो जल के ऊपर तरेंगे, डूबेंगे नहीं। तथा विष जो है सो मारने वाला

भी है, तो भी मन्त्रों करके संस्कार करा हुआ गुण ही करता है। तथा जैसे अग्नि दाहक स्वभाव वाली भी है, तो भी सत्य शीलादिक के प्रभाव से दाह नहीं करती। ऐसे ही वेद मन्त्रादिकों करके संस्कार करी हुई जो हिंसा सो दोष का कारण नहीं। अरु वैदिकी हिंसा निंदनीय भी नहीं है, क्यों कि तिस हिंसा के करने वाले याज्ञिक ब्राह्मणों को जगत् में पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।

सिद्धांतीः—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जितने दृष्टान्त तुम ने कहे है, सो सब विषम हैं, इस वास्ते तुमारे अभीष्ट की कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकते। लोहे का पिंड जो पत्रादि रूप होने से जल के ऊपर तरता है, सो परिणामांतर होने से तरता है। परंतु वेद मंत्रों से संस्कार करके जब पशु को मारते हैं, तब उस में क्या परिणामांतर होता है? क्या उस परिणामांतर से उन पशुओं को मारते समय दुःख नहीं होता? दुःख को तो वे अरराट शब्द से प्रकट ही करते हैं। तो फिर लोह पत्र का दृष्टांत कैसे समीचीन हो सकता है?

प्रतिवादीः—जो पशु यज्ञ में मारे जाते हैं, वो सर्व देवता हो जाते हैं। यह यज्ञ करने में परोपकार है।

सिद्धांतीः—इस बात में कौन सा प्रमाण है? प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय संबद्ध वर्त-

मान वस्तु का ही ग्राहक है—"*संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेति वचनात्" । अरु अनुमान भी नहीं है, क्योंकि यहां पर तत्प्रतिबद्ध लिंग [अनुमान का साधक हेतु] कोई भी नहीं दीखता है । अरु आगम प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि आगम तो विवादास्पद—झगड़े का घर है, जो कि आज तक सिद्ध नहीं हुआ है । तथा अर्थापत्ति अरु उपमान यह दोनों अनुमान के ही अंतर्गत हैं । तो अनुमान के खण्डन से यह भी दोनों खण्डित हो गये ।

जिनमन्दिर की स्थापना

प्रतिवादीः—जैसे तुम जिनमंदिर बनाते हुये पृथिवीकायादि जीवों की हिंसा को विशेष करके पुण्य का हेतु कल्पते हो । ऐसे हम भी यज्ञ में जो हिंसा करते हैं, सो पुण्य के वास्ते है । क्योंकि वेदोक्त विधि-विधान में भी परिणाम विशेष के होने से पुण्य ही होता है ।

सिद्धांतीः—परिणाम विशेष वे ही पुण्य का कारण होते हैं, जहां और कोई उपाय न होवे, अरु यत्न से प्रवृत्ति होवे । ऐसी प्रवृत्ति जिनमंदिर में हो सकती है, क्योंकि श्रीभगवान् की प्रतिमा जिनमंदिर के बिना रहती नहीं । जहां पर प्रतिमा रहेगी उसी का नाम जिनमंदिर है । जे कर कहो कि जिन-प्रतिमा के पूजने से क्या लाभ है ? तो हम तुम को पूछते हैं, कि जो पुस्तक में ककारादि अक्षर लिखते हो, इन के

* [मीमांसा श्लो० वा० ४—८४]

लिखने से क्या लाभ है ? जे कर कहोगे कि ककारादि अक्षरों की स्थापना देखने से वस्तु का ज्ञान होता है, तो तैसे ही जिन प्रतिमा को देखने से भी श्रीजिनेश्वर देव के स्वरूप का ज्ञान होता है। जेकर कहो कि प्रतिमा तो कारीगर ने पाषाण की बनाई है, इस से क्या ज्ञान होता है ? तो हम पूछते हैं कि वेद, कुरान, इंजील, आदि पुस्तक लिखारियों ने स्याही और काग़ज़ों के बनाए हैं, इन से क्या ज्ञान होता है ? जेकर कहोगे कि ज्ञान तो हमारी समझ से होता है, अक्षरों की स्थापना तो हमारे ज्ञान का निमित्त है। तैसे ही जिनेश्वर देव का ज्ञान तो हमारी समझ से होता है, परन्तु उस के स्वरूप का निमित्त प्रतिमा है। क्योंकि जो बुद्धिमान् पुरुष किसी का प्रथम नक़शा नहीं देखेगा, अर्थात् चित्र नहीं देखेगा, वो कभी उस वस्तु का स्वरूप नहीं जान सकेगा। इस वास्ते जो बुद्धिमान् है, वो स्थापना को अवश्य मानेगा। जेकर कहो कि परमेश्वर तो निराकार, ज्योतिः-स्वरूप, सर्व व्यापक है, तिसकी मूर्त्ति क्योंकर बन सकती है? यह तुमारा कहना बड़े उपहास्य का कारण है। क्योंकि जब तुमने परमेश्वर का रूप आकार—मूर्त्ति नहीं मानी, तब तो वेद, इंजील, कुरान, इन को परमेश्वर का वचन मानना भी क्योंकर सत्य हो सकेगा ? क्योंकि विना मुख के शब्द कदापि नहीं हो सकता है। जेकर कहोगे कि ईश्वर विना ही मुख के शब्द कर सकता है। तो इस बात के कहने में कोई

प्रमाण नहीं है। इस वास्ते जो साक्षर शब्द है, सो मुख के विना नहीं, अरु शरीर के विना मुख नहीं हो सकता। इस वास्ते जो कोई वादी किसी पुस्तक को ईश्वर का वचन मानेगा, वो ज़रूर ईश्वर का मुख और शरीर भी मानेगा। अरु जब शरीर माना, तब भगवान् की प्रतिमा भी ज़रूर माननी पड़ेगी। जब प्रतिमा सिद्ध हो गई, तब मन्दिर भी ज़रूर बनाना पड़ेगा। इस वास्ते जिन मन्दिर का बनाना जो है, सो आवश्यक है। अरु जो बनाने वाला है, सो यत्न पूर्वक बनाता है। अरु पृथिवी कायादिक के जो जीव हैं, सो अस्पष्ट चैतन्य वाले हैं। उन की हिंसा में अल्प पाप अरु जिन मन्दिर बनाने से बहुत निर्जरा है। तथा तुमारे पक्ष में तो श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि में यम नियमादिकों के अनुष्ठान से भी स्वर्ग की प्राप्ति कही है। तो फिर कृपण, दीन, अनाथ, ऐसे पंचेंद्रिय जीवों का वध यज्ञ में काहे को करते हो? इस से तो यही सिद्ध होता है, कि जो तुम निरपराध, कृपण, दीन, अनाथ जीवों को यज्ञादिकों में मारते हो। उस के कारण तुम अपने संपूर्ण पुण्य का नाश करके अवश्य दुर्गति में जाओगे, और शुभपरिणाम का होना तुम को बहुत दुर्लभ है।

जेकर कहो कि जिनमंदिर के बनाने में भी हिंसा होती है, इस वास्ते जिनमंदिर बनाने में भी पुण्य नहीं है।

यह तुमारा कहना भी अयुक्त है । क्योंकि जिनमंदिर और जिनप्रतिमा के देखने से, उनके दर्शन से भगवान् के गुणानुराग करके कितनेक भव्य जीवों को बोधि का लाभ होता है । अरु पूजातिशय देखने से मनःप्रसाद होता है, मनःप्रसाद से समाधि होती है । इसी प्रकार क्रम करके निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है । तथा च भगवान् पंचलिंगीकारः—

* पुढवाइयाण जइवि हु, होइ विणासो जिणालयाहिं तो ।
तव्विसयावि सुदिट्ठिस्स, नियमओ अत्थि अणुकंपा ॥१॥
एआहिंतो बुद्धा, विरया रक्खंति जेण पुढवाई ।
इत्तो निव्वाणगय, अबाहिया आभवमणंतं ॥२॥
रोगिसिरावेहो इव, सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ता ओ ।
परिणामसुन्दर च्चिय, चिट्ठा से बाहजोगेवि ॥३॥

* छायाः—

पृथिव्यादीनां यद्यपि भवत्येव विनाशो जिनालयादिभ्यः ।
तद्विषयापि सुदृष्टे र्नियमतोऽस्त्यनुकम्पा ॥१॥
एतेभ्यो बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन् ।
अतो निर्वाणगता अबाधिता आभवमनंतम् ॥२॥
रोगिशिरावेध इव सुवैद्यक्रियेव सुप्रयुक्ता तु ।
परिणामसुन्दर इव चेष्टा सा बाधायोगेऽपि ॥३॥

[जिनेश्वरसूरिकृत पं० लिं०, गा० ५८-६०]

अर्थः—१. यद्यपि जिनमन्दिर बनाने में पृथिवी आदिक जीवों की हिंसा होती है, तोभी सम्यक्दृष्टि की तिन जीवों पर निश्चय ही अनुकंपा है। २. इन की हिंसा से निवृत्त होकर ज्ञानी निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। कैसे निर्वाण को? जो अव्याहत, और अनंत काल तक रहने वाला है। ३. जैसे रोगी की नाड़ी को वैद्य बड़े यत्न से वींधता है। उस वैद्य के ऐसे अच्छे परिणाम हैं, कि कदाचित् वो रोगी मर भी जावे, तो भी वैद्य को पाप नहीं। तैसे ही जिन मंदिर के बनाने में यत्नपूर्वक प्रवर्त्तमान पुरुषों को उन जीवों के ऊपर अनुकंपा ही है। परन्तु वेद के कहे मूजब वध करने में हम किंचित् मात्र भी पुण्य नहीं देखते।

प्रतिवादीः—ब्राह्मणों को पुरोडाशादि [हवन के बाद का बचा हुआ द्रव्य] प्रदान करने से पुण्यानुबंधी पुण्य होता है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना ठीक नहीं। क्योंकि पवित्र सुवर्णादि प्रदान मात्र से भी पुण्योपार्जन का सम्भव हो सकता है। फिर जो कृपण, दीन, अनाथ, पशु गण को मारना और उन के मांस का दान करना, यह तुमारी केवल निर्दयता अरु मांस लोलुपता ही का चिन्ह है।

प्रतिवादीः—हम केवल प्रदान मात्र ही पशुवध क्रिया का फल नहीं कहते हैं, किंतु भूत्यादिक, अर्थात् लक्ष्मी आदि भी प्राप्त होती है। यदाह श्रुतिः—"श्वेतवायव्यमजमालभेत भूतिकाम इत्यादि"-[श० ब्रा०] भावार्थः—भूति-ऐश्वर्य

आदि की इच्छा वाला, श्वेतवर्ण के, जिस का वायु देवता-स्वामी है, बकरे को आलभेत-हिंसेत् अर्थात् मारे ।

सिद्धांतीः—तुमारा यह कथन भी व्यभिचार रूप पिशाच करी ग्रस्त होने से अप्रामाणिक है, क्योंकि भूति जो है, सो अन्य उपाय करके भी साध्यमान हो सकती है ।

प्रतिवादीः—यज्ञ में जो छागादि मारे जाते हैं, वे मर कर देव गति को प्राप्त होते हैं। यज्ञ करने में यह जीवों पर उपकार है।

सिद्धांतीः—यह भी तुमारा कहना प्रमाण के अभाव से वचन मात्र ही है, क्योंकि यज्ञमें मारे गये पशुओं में से सद्गति का लाभ होने से मुदित मन हो कर कोई भी पशु पीछे आकर अपने स्वर्ग के सुखों का निरूपण नहीं करता ।

प्रतिवादीः—हमारे इस कहने में आगम प्रमाण है। यथा—

ओषध्यः पशवो वृक्षा-स्तिर्यंचः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः, प्राप्नुवंत्युच्छ्रितं पुनः ॥

[म० स्मृ०, अ० ५ श्लो० ४०]

भावार्थः—औषधियें, अजादिक पशु, किंजल्कादि पक्षी, ये यज्ञ में मृत्यु को प्राप्त होकर फिर उच्छ्रित अर्थात् उच्च गति को प्राप्त होते हैं ।

सिद्धांतीः—यह भी तुमारा कहना ठीक नहीं । तुमारा आगम पौरुषेय अपौरुषेय विकल्पों करके हम आगे खण्डन

करेंगे ; तथा श्रौत विधि से पशुओं को मारने पर यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती होवे, तब तो कसाई—खटीक प्रमुख सभी स्वर्गवासी हो जावेंगे । तथा च पठंति *पारमर्षाः—

† यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते ॥

[सां० का० २ की मा० वृ० में उद्धृत]

एक और भी बात है । यदि अपरिचित, अस्पष्ट चैतन्य अनुपकारी पशुओं के मारने से त्रिदिव पदवी प्राप्त होती होवे, तब तो परिचित, स्पष्ट चैतन्य, परमोपकारी, माता पितादिकों के मारने से याज्ञिकों को उस से भी अधिकतर पद की प्राप्ति होनी चाहिये ।

प्रतिवादीः—‡"अचिंत्यो हि मणिमंत्रौषधीनां प्रभाव" इति

---

* सांख्य मतानुयायी विद्वान् ।

† सांख्य कारिका की माठर वृत्ति में "यूपं" के स्थान पर "वृक्षान्" पाठ है, जो कि अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । यज्ञ में पशुओं को बांधने के स्तम्भ का नाम यूप है । तब वृत्तिस्थ पाठ के अनुसार इस श्लोक का भावार्थ यह है कि—वृक्षों को काट कर, पशुओं को मार और रुधिर से कीचड़ करके, यदि स्वर्ग प्राप्त होता है, तो फिर नरक के लिये कौनसा मार्ग है ? इस प्रकार के वैध हिंसा के निषेधक अनेक वचन उपनिषद् और महाभारत आदि सद्ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिन का दिग्दर्शन मात्र परिशिष्ट नं० २ के ख विभाग में कराया गया है ।

‡ मणि मंत्र और औषधि का प्रभाव अचिन्त्य है ।

वचनात्—इस वास्ते वैदिक मंत्रों की अचिंत्य शक्ति होने से उन मंत्रों से संस्कार किये हुए पशु को मारने से उस को अवश्य स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

सिद्धांतीः—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैदिक विधि के अनुसार किये जाने वाले विवाह, गर्भाधान, जात-कर्मादि संस्कारों के विषे तिन मंत्रों का व्यभिचार देखने में आता है। विवाह के अनंतर ही स्त्री विधवा हो जाती है। तथा बहुत से मनुष्य अल्पायु, और दरिद्रतादि उपद्रवों करके पीडित होते हुए देखने में आते हैं। एवं वेद मंत्रों के संस्कार विना भी कितनेक विवाह करने वाले सुखी, धनी और नीरोग दीखते हैं। अतः वैदिक विधि से वध किये जाने वाले पशुओं को स्वर्गप्राप्ति का कथन करना केवल कल्पना मात्र है। इस वास्ते अदृष्ट स्वर्गादि में इस के व्यभि-चार का अनुमान सुलभ है।

प्रतिवादीः—जहां विवाहादि में विधवादि हो जाती हैं, तहां क्रिया की विगुणता से विसंवाद—विफलता होती है।

सिद्धांतीः—तुमारे इस कहने में तो यह संशय कभी दूर ही नहीं होवेगा। कि वहां पर क्रिया का वैगुण्य विसं-वाद का हेतु है? किंवा वेदमन्त्रों की असमर्थता विसंवाद-विषमता का हेतु है?

प्रतिवादीः—जैसे तुमारे मत में *"आरुग्गबोहिलाभं

* आ० चतु० स्त० गा ६। छाया—आरोग्यबोधिलाभं समाधिव-

समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इत्यादि वचनों का कालांतर में ही फल मिलना कहा जाता है। ऐसे ही हमारे अभिमत वेद वचनों का भी इस लोक में नहीं किंतु लोकांतर में ही फल होता है। इस वास्ते विवाहादि के उपालंभ का अवकाश नहीं है।

सिद्धांतीः—अहो वचन वैचित्री ! जैसे वर्त्तमान जन्म विषे विवाहादि में प्रयुक्त मंत्र, संस्कारों का फल आगामी जन्म में स्वीकार करते हैं। ऐसे ही द्वितीय तृतीयादि जन्म में भी विवाहादि में प्रयुक्त मन्त्रों का फल मानने से अनंत भवों का अनुसन्धान होवेगा। तब तो कदापि संसार की समाप्ति नहीं होवेगी। तथा किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। इस से यही सिद्ध हुआ, कि वेद ही अपर्य-वसित संसार वल्लरी का मूल है। तथा आरोग्यादि की जो प्रार्थना है, सो तो असत्य अमृषा भाषा के द्वारा परिणामों की विशुद्धि करने के वास्ते है, दोष के वास्ते नहीं। क्योंकि तहां भाव आरोग्यादि की ही विवक्षा है। तथा जो आरोग्य है, सो चातुर्गतिक संसार लक्षण भाव रोग परिक्षय रूप होने से उत्तम फल है। अतः इस विषय की जो प्रार्थना है,सो विवेकी जनों को किस प्रकार से आदरणीय नहीं ? तथा ऐसे भी मत कहना कि परिणामशुद्धि से फल की प्राप्ति

रमुत्तमं ददतु। अर्थात् हे भगवन् ! आरोग्य, बोधिलाभ—सम्यत्व तथा उत्तम समाधि को प्रदान करें।

नहीं होती, क्योंकि भावशुद्धि से फल प्राप्ति में किसी का विवाद नहीं है, तथा ऐसे भी मत कहना कि वेदविहित हिंसा बुरी नहीं, क्योंकि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान संपन्न, आर्चिमार्ग के अनुगामी वेदांतवादियों ने भी इस हिंसा की निन्दा की है।

* तथा च तत्त्वदर्शिनः पठंतिः—

देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नंति जंतून् गतघृणा घोरां ते यांति दुर्गतिम् ॥

= वेदांतिका अप्याहुः—

अंधे तमसि मज्जामः, पशुभि र्ये यजामहे।
हिंसा नाम भवेद्धर्म्मो, न भूतो न भविष्यति ॥

तथाः—

× अग्नि र्मामेतस्मात् हिंसाकृतादेनसो मुंचतु [छांदसत्वान्मोचयतु इत्यर्थः।]

* तत्त्वदर्शी लोगों ने कहा हैः—

जो निर्दय पुरुष देवों की प्रसन्नता और यज्ञ के बहाने से पशुओं का बध करते हैं, वे घोर दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

= वेदान्तियों ने भी कहा हैः—

यदि हम पशुओं के द्वारा यज्ञ करें, तो घोर अन्धकार में पड़ेंगे। हिंसा न कभी धर्म हुआ, न है, और न होगा।

× अग्नि मुझे इस हिंसाजनित पाप से छुड़ावे।

* व्यासेनाप्युक्तम्:—

ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्यदयांभसि ।
स्नात्वातिविमले तीर्थे, पापपंकापहारिणि ॥१॥
ध्यानाग्नौ जीवकुंडस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपै रग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥२॥
कषायपशुभि र्दुष्टै धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममंत्रहुतै र्यज्ञं, विधेहि विहितं बुधैः ॥३॥
प्राणिघाताच्च यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वांछति सुधावृष्टिं, कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥४॥

---

* व्यास भी कहते हैं:—

ज्ञान रूप चादर से आच्छादित, ब्रह्मचर्य और दयारूप जल से परिपूर्ण, पापरूप कीचड़ को दूर करने वाले, अति निर्मल तीर्थ में स्नान करके, तथा जीवरूप कुण्ड में दमरूप पवन से प्रदीप्त ध्यानरूप अग्नि में अशुभ कर्मरूप काष्ठ का प्रक्षेप करके उत्तम अग्निहोत्र को करो ॥१-२॥

धर्म, अर्थ और काम को नष्ट करने वाले कषायरूप दुष्ट पशुओं का शमादि मंत्रों के द्वारा यज्ञ करो ॥३॥

जो मूढ पुरुष प्राणियों का घात करके धर्म की इच्छा करता है, वह मानो काले सांप की बांबी से अमृत की वर्षा की इच्छा कर रहा है ॥४॥

अरु जो यज्ञ करने वालों की पूजनीयता के विषय में कहा है, सो भी अयुक्त है। क्योंकि अबुध जन ही उन को पूजते हैं, विवेकी, और बुद्धिमान् नहीं। अरु मूर्खों का जो पूजन है, सो प्रामाणिक नहिं, क्योंकि मूर्ख तो कुत्ते और गधे को भी पूजते हैं।

तथा जो तुमने कहा था कि देवता, अतिथि और पितृ की प्रीति का संपादक होने से वेदविहित हिंसा दोषावह नहीं। सो यह भी झूठ है, क्योंकि देवताओं को तो उन के संकल्प मात्र से ही अभिमत आहार के रस का स्वाद प्राप्त हो जाता है। तथा देवताओं का शरीर वैक्रियरूप है। सो तुमारी जुगुप्सित पशुमांसादि की आहुति के लेने को उन की इच्छा ही नहीं हो सकती है। क्योंकि औदारिक शरीर वाले ही इन मांसादिकों के ग्राहक हैं। जेकर देवताओं को भी कवल आहारी—अग्नि में आहुति रूप से दिये हुए द्रव्य का भक्षक मानोगे, तब तो देवताओं का शरीर जो तुमने मंत्रमय माना है, तिस के साथ विरोध होवेगा। अरु अभ्युपगम की बाधा होगी। देवताओं का मंत्रमय शरीर होना तुमारे मत में सिद्ध ही है, *"चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता" इति जैमिनीयवचन-प्रामाण्यात्। †तथा च मृगेंद्रः—

* सम्प्रदान विभक्ति वाला पद ही देवता है।

† मृगेन्द्र नाम का विद्वान् भी कहता है, कि यदि देवता लोग मन्त्रमय शरीर के धारक न होकर हम लोगों की भांति मूर्त्त शरीर

शब्देतरत्वे युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु ।
न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत् ॥

तथा जिस वस्तु की आहुति देवताओं को देते हैं, वो तो अग्नि में भस्मीभूत हो जाती है। तो फिर देवता क्या उस भस्म अर्थात् राख को खाते हैं ? इस वास्ते तुमारा यह कहना प्रलापमात्र है।

तथा एक और भी बात है, कि यह जो * त्रेताग्नि है, सो तेतीस कोटि देवताओं का मुख है, §"अग्नि-मुखा वै देवा" इति श्रुतेः। तब तो उत्तम, मध्यम, अधम, सर्व प्रकार के देवता एक ही मुख से खाने वाले सिद्ध हुए, और सब आपस में जूठ खाने वाले बन गये। तब तो वे तुरकों से भी अधिक हो गए। क्योंकि तुरक भी एक पात्र में एकठे तो खाते हैं, परन्तु सब एक मुख से नहीं खाते। तथा एक और भी बात है, एक शरीर में अनेक मुख हैं, यह बात तो हम सुनते थे, परन्तु अनेक शरीरों का एक मुख, यह तो बड़ा ही आश्चर्य है।

के धारण करने वाले हों, तो जैसे हम लोग एक समय में बहुत से स्थानों पर नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता भी एक साथ अनेक यज्ञस्थानों में नहीं जा सकेंगे।

* त्रेताग्नि—दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य, ये तीन अग्नि।

§ [आश्व० गृ० सू०, अ० ४. कं० ८ सू० ६] 'अग्निमुखा वै देवा पाणिमुखाः पितर' इति ब्राह्मणम्।

जब सर्व देवताओं का एक ही मुख माना, तो जब किसी पुरुष ने एक देवता की पूजादि से आराधना की, अरु अन्य देवता की निंदादि से विराधना की। तब तो एक मुख करके युगपत् अनुग्रह और निग्रह वाक्य के उच्चारण में संकरता का अवश्य प्रसंग होवेगा। तथा एक और भी बात है कि, मुख जो है सो देह का नवमा भाग है। तो जब उन देवताओं का मुख ही दाहात्मक है, तब एक एक देवता का शरीर दाहात्मक होने से तीनों भवन ही भस्मीभूत हो जाने चाहिये।

तथा जो कारीरी यज्ञ के अनुष्ठान से वृष्टि के होने में, आहुति से प्रसन्न हुए देवता का अनुग्रह कहते हो, सो भी अनैकांतिक है। क्योंकि किसी जगे पर उक्त यज्ञ के अनुष्ठान से भी वृष्टि नहीं होती। अरु जहां व्यभिचार नहीं अर्थात् वृष्टि होती भी है, तहां भी आहुति के भोजन करने से अनुग्रह नहीं, किन्तु वह देवताविशेष अतिशय ज्ञानी है, इस वास्ते अवधिज्ञान से अपने उद्देश से किये गये पूजा के उपचार को देखकर अपने स्थान में बैठा हुआ ही पूजा करने वाले के प्रति प्रसन्न होकर उस का कार्य, अपनी इच्छा से ही कर देता है। तथा जेकर उस का पूजा की तरफ़ उपयोग न हो अथवा पूजक का भाग्य मंद हो, तो जानता हुआ भी वह कार्य नहीं करता। क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि सहकारियों से कार्य का होना दीख पड़ता है। अरु जो पूजा उपचार है, सो केवल पशुओं के मारने ही से नहीं हो

सकता, दूसरी तरे से भी हो सकता है। तो फिर केवल पाप मात्र फल रूप इस शौनिकवृत्ति—हिंसकवृत्ति के अनुकरण करने से क्या लाभ है ?

तथा छगल अर्थात् बकरे के मांस का होम करने से पर राष्ट्र को वश करने वाली सिद्धया देवी के परितोष होने का जो अनुमान है, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि कोई क्षुद्र देवता इस से प्रसन्न भी हों, तो वे अपनी पूजा को देख अरु जान कर ही राज़ी हो जाते हैं, परंतु मलिन—बीभत्स मांस के खाने से राज़ी नहीं होते। जेकर होम करी हुई वस्तु को वे खाते हैं, तब तो हूयमान-हवन किये जाने वाले निंब पत्र, कड़ुवा तेल, आरनाल, धूमांशादि द्रव्य भी तिन का भोजन हो जावेगा। वाह तुमारे देवता क्या ही सुंदर भोजन करते हैं !

अतः वास्तव में द्रव्य, क्षेत्र, आदि सहकारी कारणों से युक्त उपासक की भावपूर्ण उपासना ही विजय आदि अभीष्ट फल की उत्पत्ति में कारण है, यही मानना युक्तियुक्त है। जैसे कि अचेतन होने पर भी चिन्तामणि रत्न, मनुष्यों के पुण्योदय से ही फलप्रद होता है। तथा अतिथि आदि की प्रीति भी संस्कार संपन्न पक्वान्नादिक से हो सकती है, फिर तिन के वास्ते महोक्ष, महाजादि की कल्पना करना निरी मूर्खता है।

श्राद्ध का निषेध

तथा श्राद्धादि के करने से पितरों की तृप्ति का होना भी अनैकांतिक है। क्योंकि बहुतों के श्राद्ध करने पर भी सन्तान नहीं होती, और कितनेक श्राद्ध नहीं भी करते, तो भी तिन के गर्दभ, शूकर आदि की तरह संतान की वृद्धि देखते हैं। तिस वास्ते श्राद्धादि का विधान केवल मुग्ध जनों को विप्रतारण-ठगना मात्र ही है। जो पितर लोकांतर को प्राप्त हुए हैं, वे अपने शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार देव नरकादि गतियों में सुख दुःख भोग रहे हैं। जब ऐसा है, तो फिर पुत्रादि के दिये हुये पिंडों को वे क्योंकर भोगने की इच्छा कर सकते हैं ? तथा च *युष्मद्यूथिनः पठंतिः—

मृतानामपि जंतूनां, श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
तन्निर्वाणप्रदीपस्य, स्नेहः संवर्द्धयेच्छिखाम्॥

---

* आप के साथियों ने भी कहा है—यदि श्राद्ध मरे हुए प्राणियों की प्रसन्नता का कारण हो सकता है, तो तैल को भी बुझे हुए दीपक की शिखा-लाट के बढ़ाने का कारण मानना चाहिये। तात्पर्य कि, जिस प्रकार बुझे हुए दीपक को तेल नहीं जला सकता, उसी प्रकार श्राद्ध भी परलोक गत पितरों की तृप्ति नहीं कर सकता। तथा माधवाचार्य प्रणीत सर्वदर्शनसंग्रह में संगृहीत इस श्लोक का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—"गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्"—अर्थात् मरे हुए प्राणियों की यदि श्राद्ध से तृप्ति हो, तो परदेश में जाने वालों को साथ में खाना ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि घर में श्राद्ध करने से वे

तथा श्राद्ध करने से उत्पन्न होने वाला पुण्य परलोक गत पितरों के पास कैसे चला जाता है ? क्योंकि वो पुण्य तो और ने करा है, तथा पुण्य जो है, सो जड़रूप और गति रहित है। जे कर कहो कि उद्देश तो पितरों का है, परंतु पुण्य श्राद्ध करने वाले पुत्रादिकों को होता है। यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि पुत्रादि का इस पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् पुत्रादि के मन में यह वासना ही नहीं कि हम पुण्य करते हैं, और इस का फल हम को मिलेगा। तो बिना पुण्य की भावना से पुण्य फल होता नहीं है। इस वास्ते श्राद्ध करने का फल न तो पितरों को अरु न पुत्रादिकों को होता है, किंतु *त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटका रहता है। [अर्थात् जैसे वासिष्ठ ऋषि के शिष्यों के शाप से चंडालता को प्राप्त होने के बाद त्रिशंकु नाम का राजा, विश्वामित्र के द्वारा कराये जाने वाले यज्ञ के प्रभाव से जिस समय स्वर्ग को जाने लगा, और इन्द्र ने उसे स्वर्ग में आने नहीं दिया, तो उस समय वह स्वर्ग और पृथिवी के बीच में ही लटका रह गया। वैसे ही श्राद्ध से उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल न तो पितरों को प्राप्त हो

सब तृप्त हो जावेंगे। तथा यह श्लोक चार्वाक—नास्तिक मत के निरूपण में अनेक प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में संगृहीत हुआ है, परन्तु इस के मूल का कुछ पता नहीं चला है।

* त्रिशंकु की कथा के लिये देखो वाल्मी० रा० कां० १ सर्ग ५८-६०

सकता है, और न ही पुत्रादि को मिल सकता है, किंतु बीच में ही लटकता रहता है, अर्थात् निरर्थक है।]

तथा पापानुबन्धी जो पुण्य है, वो तत्त्व से पाप रूप ही है। जे कर कहो कि ब्राह्मणों को खिलाया हुआ उन को—पितरों को मिलता है। तो इस कथन में तुम को ही सत्यता प्रतीत होती होगी। वास्तव में तो ब्राह्मणों ही का उदर मोटा दिखलाई देता है। किंतु उन के पेट में प्रवेश करके खाते हुए पितर तो कदापि दिखाई नहीं देते। क्योंकि भोजनावसर में ब्राह्मणों के उदर में प्रवेश करते हुए पितरों का कोई भी चिन्ह हम नहीं देखते, केवल ब्राह्मणों ही को तृप्त होते देखते हैं।

तथा जो तुमने कहा था, कि हमारे पास आगम प्रमाण है, सो तुमारा आगम पौरुषेय है ? वा अपौरुषेय ? जे कर कहो कि पौरुषेय है, तो क्या सर्वज्ञ का करा हुआ है ? वा असर्वज्ञ का रचा हुआ है ? जे कर आद्य पक्ष मानोगे, तब तो तुमारे ही मत की व्याहति होगी। क्योंकि तुमारा यह सिद्धांत है:—

* अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः॥

---

* अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात् द्रष्टा—देखने वाला इस संसार में कोई नहीं, इस लिये नित्य वेद वाक्यों से ही उन की यथार्थता का निश्चय होता है।

दूसरे पक्ष में असर्वज्ञ-दोष युक्त के रचे हुए शास्त्र का विश्वास नहीं हो सकता। जेकर कहो कि अपौरुषेय है, तब तो संभव ही नहीं हो सकता है। वचन रूप जो क्रिया है, सो पुरुष के द्वारा ही सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं। और जहां पर पुरुषजन्य व्यापार के बिना भी वचन का श्रवण हो, वहां पर अदृश्य वक्ता की कल्पना कर लेनी होगी। इस वास्ते सिद्ध हुआ, कि जो साक्षर वचन है, सो पौरुषेय ही है, कुमारसंभवादि वचनवत्। वचनात्मक ही वेद है, अतः पौरुषेय है। तथा चाहुः—

* ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,
वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः॥

तथा श्रुति को अपौरुषेय अंगीकार करके भी तुमने उस के व्याख्यान को पौरुषेय ही अंगीकार करा है। अन्यथा—श्रुति के अर्थ का व्याख्यान यदि पौरुषेय न माना जाय तो †"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस का किसी

* यह निश्चित है, कि वर्णों का समुदाय ताल्वादि से उत्पन्न होता है। और वेद वर्णात्मक है, यह भी स्फुट है। तथा ताल्वादि स्थान पुरुष के ही होते हैं। इसलिये वेद अपौरुषेय है, यह कैसे कह सकते हैं।

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्निहोत्र यज्ञ संबन्धी आहुति देवे,

नियामक के न होने से "श्वमांसं भक्षयेत्" यह अर्थ भी क्यों न हो जावे ? इस वास्ते शास्त्र को पौरुषेय मानना ही उचित है। यदि तुमारे हठ से वेद को अपौरुषेय भी मानें, तो भी तिस को प्रमाणता नहीं हो सकती । क्योंकि प्रमाणता जो है, सो आप्त पुरुषाधीन है । जब वेद प्रमाण न हुये, तब तिन वेदों का कहा हुआ तथा वेदानुसारी स्मृति भी प्रमाण भूत नहीं । इस वास्ते हिंसात्मक याग और श्राद्धादि विधि प्रमाण्य विधुर ही है।

प्रतिवादी:—जो तुमनें कहा है कि *"न हिंस्यात् सर्वा भूतानीत्यादि" इस श्रुति करके जो हिंसा का निषेध है, सो औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य विधि है। अरु वेदविहित जो हिंसा है, सो अपवाद विधि है अर्थात् विशेष विधि है। तब अपवाद करके उत्सर्ग बाधित होने से वैदिकी हिंसा दोष का कारण

इस श्रुतिवाक्य का—अग्निहा श्वा तस्य उत्रं मांसं—अग्निहोत्रं, ऐसा विग्रह करके कुत्ते के मांस की आहुति देवे, ऐसा अर्थ किया जा सकता है। क्योंकि श्रुति के अर्थ का व्याख्याता, यदि किसी पुरुष को न माना जाय, तो उस में किसी प्रकार का नियम न रहने से, अपनी इच्छा के अनुसार जैसे चाहो, वैसा अर्थ करने में कोई प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। इस से सिद्ध हुआ कि श्रुति के अर्थ की तरह श्रुति—वेद को भी पौरुषेय—पुरुष प्रणीत मानना ही युक्तिसंगत है।

* किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

नहीं *"उत्सर्गापवादयोरपवादविधिर्बलीयानिति न्यायात् ।" और तुमारे जैनों के मत में भी हिंसा का एकांत—सर्वथा निषेध नहीं है, कितनेक कारणों के उपस्थित होने से पृथिव्यादिक जीवों की हिंसा करने की आज्ञा है। तथा जब कोई साधु रोग से पीड़ित होता है, "असंस्तरे" अर्थात् असमर्थ होता है, तब ‖ आधाकर्मादि आहार के ग्रहण करने की भी आज्ञा है। ऐसे ही हमारे मत में याज्ञिकी हिंसा जो है, सो देवता और अतिथि की प्रीति के वास्ते पुष्टालंबनरूप होने से अपवाद रूप है। इस वास्ते उस के करने में दोष नहीं।

सिद्धांती:—अन्यकार्य के वास्ते उत्सर्ग वाक्य, अरु अन्य कार्य के वास्ते अपवाद कहना, यह उत्सर्ग अपवाद कदापि नहीं हो सकता। किन्तु जिस अर्थ के वास्ते शास्त्र में उत्सर्ग कहा है। उसी अर्थ के वास्ते अपवाद होवे, तब ही उत्सर्ग अपवाद हो सकता है। तभी ये दोनों उन्नत निम्नादि व्यवहारवत् परस्पर सापेक्ष होने से एकार्थ के

* उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में अपवाद विधि बलवान् होती है, इस न्याय से—सर्व सम्मत विचार से।

‖ साधु के निमित्त जो खान पानादि वस्तु तैयार की जावे, उस को आधाकर्मिक कहते हैं। उत्सर्गमार्ग में साधु को इस प्रकार के आहार को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं, परन्तु अपवाद मार्ग में रोगादि की अवस्था में उस के ग्रहण करने की साधु को आज्ञा है।

साधक होसकते हैं। जैसे जैनों के यहां संयम पालने के वास्ते नवकोटि विशुद्ध आहार का ग्रहण करना उत्सर्ग है। तैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आपत्ति के समय में गत्यंतर के अभाव से पंचकादि यतना से अनेषणीयादि आहार का ग्रहण करना अपवाद है, सो भी संयम ही के पालने के वास्ते है। तथा ऐसे भी मत कहना कि जिस साधु को मरण ही एक शरण है, तिस को गत्यंतर अभाव की असिद्धि है। क्योंकि आगम में कहा है किः—

+ सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही न याविरई ॥
[ओ० नि० गा० ४६]

भावार्थः—सर्वत्र संयम का संरक्षण करना। परन्तु जेकर संयम के पालने में प्राण जाते होवें, तो संयम में दूषण लगा कर भी अपने प्राणों की रक्षा करनी। क्योंकि प्राणों के रहने से प्रायश्चित्त के द्वारा उस पाप से छूट कर शुद्ध भी हो जावेगा, अरु अविरति भी नहीं रहेगी। तथा आयुर्वेद में भी जो वस्तु किसी रोग में किसी अवस्था में अपथ्य है, सोई वस्तु उसी रोग में किसी अन्य अवस्था में पथ्य है। तथा जैसे बलवान् पुरुष को ज्वर में लंघन पथ्य है, परन्तु क्षीण-

+ छाया—सर्वत्र संयमं संयमादात्मानमेव रक्षेत्।
मुच्यतेऽतिपातात् पुनर्विशुद्धि र्नचाविरतिः ॥

धातु को ज्वर में वही लंघन कुपथ्य हो जाता है। इसी प्रकार किसी देश में ज्वर के रोगी को दधि खिलाना पथ्य समझा जाता है, तथा किसी दूसरे देश में वही कुपथ्य माना गया है।

† तथाच वैद्याः—

कालाविरोधि निर्दिष्टं, ज्वरादौ लंघनं हितम्।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोध—शोककामकृतज्वरात ॥

जैसे प्रथम तो अपथ्य का परिहार करना, अरु तहां ही अवस्थांतर में तिस का भोगना, सो दोनों ही जगे रोग के दूर करने का प्रयोजन है। इस से सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही एक वस्तु विषयक हैं।

परन्तु तुमारे तो उत्सर्ग और अर्थ के वास्ते है, तथा

---

† वैद्यों का कथन है कि—

वायु, श्रम, क्रोध, शोक और काम से उत्पन्न हुए ज्वर को छोड़ कर अन्य ज्वरों में काल—वसन्त, ग्रीष्मादि ऋतु के अनुसार लंघन कराना हितकर है। इस श्लोक से अर्थ में तो सर्वथा समानता रखता हुआ चरक संहिता चिकित्सा स्थान का यह निम्न लिखित श्लोक है। और उद्धृत श्लोक इसी की प्रतिच्छायाः रूप प्रतीत होता है।

ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥

[अ० ३ श्लो० ३८]

अपवाद और अर्थ के वास्ते है। क्योंकि तुमारे तो "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" यह जो उत्सर्ग है, सो तो दुर्गति के निषेध के वास्ते है। अरु जो अपवाद हिंसा है, सो देवता, अतिथि और पितरों की प्रीति संपादन के निमित्त है। इस वास्ते परस्पर निरपेक्ष होने से यह उत्सर्ग अपवाद विधि नहीं हो सकती है। तब तुमारा यह हिंसा विधायक अपवाद, अहिंसा का प्रतिपादन करने वाली उत्सर्ग विधि को किसी प्रकार भी बाध नहीं सकता।

यदि कहो कि वैदिक हिंसा की जो विधि है, सो भी स्वर्ग का हेतु होने से दुर्गति के निषेधार्थ ही है। सो यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि वैदिक हिंसा स्वर्ग का हेतु नहीं है। यह हम ऊपर अच्छी तरह से लिख आये हैं। तथा वैदिक हिंसा के विना भी स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। और अपवाद गत्यंतर के अभाव में ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह बात हम ही नहीं कहते, किन्तु तुमारे व्यास जी भी कहते हैं। तथाहिः—

पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण संपदः।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥

यहां पर अग्निकार्य शब्द वाच्य यागादिविधि को उपायांतर साध्य संपदा मात्र का हेतु कहने से आचार्य ने उसे सुगति का हेतु नहीं माना। तथा "ज्ञानपाली" आदि श्लोकों

से उसी व्यास ऋषि ने भाव अग्निहोत्र—भाव यज्ञ का पहले ही प्रतिपादन कर दिया है।

चार्वाक मत व आत्मसिद्धि

अथ चार्वाक मत का खण्डन लिखते हैं :—चार्वाक कहता है, कि जब शरीर से भिन्न आत्मा ही नहीं है, तब ये मतावलंबी पुरुष, किस वास्ते शोर करते हैं ? वास्तव में जैन, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, जैमिनीय जो षड् दर्शन हैं, सो केवल लोगों को भ्रम में डाल कर उन से भोग विलास वृथा ही छुड़ा देते हैं। वास्तव में तो आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इस वास्ते हमारा मत ही सब से अच्छा है। जेकर आत्मा है, तो कैसे तिस की सिद्धि है ?

सिद्धान्तीः—प्रति प्राणी स्वसंवेदन प्रमाण चैतन्य की अन्यथानुपपत्ति से सिद्धि है। तथाहि यह जो चैतन्य है, सो भूतों का धर्म नहीं है। जेकर भूतों का धर्म होवे, तब तो पृथ्वी की कठिनता की तरे इस का सर्वत्र सर्वदा उपलंभ होना चाहिये परन्तु सर्वत्र सर्वदा उपलंभ होता नहीं। क्योंकि लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती।

प्रतिवादीः—लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में भी चैतन्य है। परन्तु केवल शक्ति रूप करके है, इस वास्ते उपलब्ध नहीं होता।

सिद्धांतीः—यह तुमारा कहना अयुक्त है। वो शक्ति, क्या

चैतन्य से विलक्षण है ? अथवा चैतन्य ही है ? जे कर कहो कि विलक्षण है, तब तो शक्तिरूप करके चैतन्य है, ऐसा मत कहो, क्योंकि पट के विद्यमान होने पर पटरूप करके घट नहीं रहता। आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपिः—

रूपांतरेण यदि त-त्तदेवास्तीति मारटीः।
चैतन्यादन्यरूपस्य, भावे तद्विद्यते कथम् ॥

जे कर दूसरा पक्ष मानोगे, तब तो चैतन्य ही वो शक्ति है, तो फिर क्यों नहीं उपलब्ध होती ? जे कर कहो कि आवृत होने से उपलब्ध नहीं होती तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि आवृति नाम आवरण का है। सो आवरण क्या विवक्षित-विशिष्ट कायाकार परिणाम का अभावरूप है ? अथवा परिणामांतर है ? अथवा भूतों से अतिरिक्त और वस्तु है ? उस में विवक्षित परिणाम का अभाव तो नहीं है। क्योंकि एकान्त तुच्छ रूप होने से विवक्षित परिणाम के अभाव में आवरण करने की शक्ति नहीं है। अन्यथा अतुच्छ रूप होने से वो भी भावरूप हो जावेगा। अरु जब भावरूप हुआ, तब तो पृथिवी आदि में से अन्यतम हुआ। क्योंकि "पृथिव्यादीन्येव भूतानि तत्त्वम्" इति वचनात्। तथा पृथिवी आदिक जो भूत हैं, सो चैतन्य के व्यंजक हैं, आवरक नहीं। तब उन को आवरकत्व कैसे सिद्ध होवे ? अथ जेकर कहो कि परिणामांतर है, सो भी अयुक्त है। क्योंकि

परिणामांतर भूत स्वभाव होने से भूतों की तरे चैतन्य का व्यंजक ही हो सकता है, आवरक नहीं। जे कर कहो कि भूतों से अतिरिक्त वस्तु है, तो यह कहना बहुत ही असंगत है। क्योंकि भूतों से अतिरिक्त वस्तु मानने से "चत्वार्येव पृथ्व्यादिभूतानि तत्त्वमिति" इस कहने में तत्त्व संख्या का व्याघात हो जावेगा।

एक और भी बात है, कि यह जो चैतन्य है, सो एक एक भूत का धर्म है ? वा सर्व भूत समुदाय का धर्म है ? एक एक भूत का धर्म तो है नहीं । क्योंकि एक एक भूत में दीखता नहीं, और एक एक परमाणु में संवेदन की उपलब्धि नहीं होती । जेकर प्रति परमाणु में होवे, तब तो पुरुष सहस्र चैतन्य वृंद की तरे परस्पर भिन्न स्वभाव होवेगा, परंतु एक रूप चैतन्य नहीं होवेगा । अरु देखने में एक रूप आता है । "अहं पश्यामि" अर्थात् मैं देखता हूं, मैं करता हूं, ऐसे सकल शरीर का अधिष्ठाता एक उपलब्ध होता है।

जे कर समुदाय का धर्म मानोगे, सो भी प्रत्येक में अभाव होने से असत् है। क्योंकि जो प्रत्येक अवस्था में असत् है, वो समुदाय में भी असत् ही होगा, सत् नहीं हो सकता है; जैसे वालु कणों में तेल की सत्ता नहीं है। जेकर कहो कि प्रत्येक मद्यांग में तो मद शक्ति नहीं है, परन्तु समुदाय में हो जाती है। ऐसे चैतन्य भी हो जावे, तो क्या

दोष है ? यह भी अयुक्त है, क्योंकि मद के प्रत्येक अंग में मद शक्त्यनुयायी माधुर्यादि गुण दीखते हैं। इक्षुरस में माधुर्य और धातकी फूलों में थोड़ी सी विकलता उत्पादक शक्ति जैसे दीखती है, ऐसे सामान्य प्रकार से भूतों में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती। तब फिर भूत समुदाय कैसे चैतन्य हो सकता है ? जे कर प्रत्येक अवस्था में रहा हुआ असत समुदाय में सत् हो जावे, तब तो सर्व समुदाय से सर्व कुछ हो जाना चाहिये।

एक और भी बात है, कि जे कर तुमने चैतन्य को धर्म माना है, तब तो धर्मी भी अवश्य धर्म के अनुरूप ही मानना चाहिये। जेकर अनुरूप न मानोगे, तब तो जड़ अरु कठिनता इन दोनों को भी धर्म धर्मी मानना चाहिये। तथा ऐसे भी मत कहना, कि भूत ही धर्मी हैं, क्योंकि भूत चैतन्य से विलक्षण हैं। तथाहि, चैतन्य बोध स्वरूप, अरु अमूर्त्त है, परंतु भूत इस से विलक्षण हैं। तब इनका कैसे परस्पर धर्म धर्मी भाव हो सकता है ? तथा यह चैतन्य भूतों का कार्य भी नहीं है, क्योंकि अत्यन्त वैलक्षण्य होने से इन का कार्य कारण भाव कदापि नहीं होता है। उक्तंच:—

काठिन्याबोधरूपाणि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः।
चेतना च न तद्रूपा, सा कथं तत्फलं भवेत्॥
[शा० स०, स्तु० १ श्लो० ४३]

एक और भी बात है कि, जे कर भूतों का कार्य चेतना होवे, तब तो सकल जगत् प्राणिमय ही हो जावे। जेकर कहो कि परिणति विशेष का सद्भाव न होने से सकल जगत् प्राणिमय नहीं होता है। तो वो परिणति विशेष का सद्भाव सर्वत्र किस वास्ते नहीं होता है ? क्योंकि वह परिणति भी भूतमात्र निमित्तक ही है। तब कैसे उस का किसी जगे होना और किसी जगे न होना सिद्ध होवे ? तथा वो परिणति विशेष किस स्वरूप वाली है ? जे कर कहो कि कठिनत्वादि रूप है, क्योंकि काष्ठादि में घुणादि जंतु उत्पन्न होते हुये दीखते। हैं तिस वास्ते जहां कठिनत्वादि विशेष है, सो प्राणिमय है, शेष नहीं। परन्तु यह भी व्यभिचार देखने से असत् है। अवशिष्ट भी कठिनत्वादि विशेष के होने पर कहीं होता है, और कहीं नहीं होता, अरु किसी जगे कठिनत्वादि विशेष बिना भी संस्वेदज घने आकाश में संमूर्छिम उत्पन्न होते हैं।

एक और भी बात है कि कितनेक समान योनिके जीव भी विचित्र वर्ण संस्थान वाले दीखते हैं। गोवर आदि एक योनि वाले भी कितनेक नीले शरीर वाले हैं, अपर पीत शरीर वाले हैं, अन्य विचित्र वर्ण वाले हैं, अरु संस्थान भी इन का परस्पर भिन्न है। जे कर भूत मात्र निमित्त चैतन्य होवे, तब तो एक योनिक सब एक वर्ण संस्थान वाले होने चाहिये; परन्तु सो तो होते हैं नहीं। तिस वास्ते आत्मा ही तिस तिस

कर्म के वश तैसे उत्पन्न होती है, यही सिद्ध मानना चाहिये।

जेकर कहो कि आत्मा होवे तो फिर जाता आता क्यों नहीं उपलब्ध होता? केवल देह के होने पर ही संवेदन उपलब्ध होता है, अरु देह के अभाव होने पर भस्म अवस्था में नहीं दीखता है। तिस वास्ते आत्मा नहीं, किंतु संवेदन मात्र ही एक है। सो संवेदन देह का कार्य है, और भीत के चित्र की भांति देह ही में आश्रित है। चित्र भीत के बिना नहीं रह सकता है, अरु दूसरी भीत पर उस का संक्रमण भी नहीं होता है। किंतु भीत पर उत्पन्न हुआ है, अरु भीत के साथ ही विनाश हो जाता है। संवेदन भी ऐसे ही जान लेना। यह कहना भी असत् है। क्योंकि आत्मा स्वरूप करके अमूर्त्त है, अरु आंतर शरीर भी अति सूक्ष्म है, इस वास्ते दृष्टिगोचर नहीं होता। तदुक्तम्ः—

अंतराभावदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
निष्क्रामन् प्रविशन् वात्मा, नाभावोऽनीक्षणादपि॥

तिस वास्ते सूक्ष्म शरीर युक्त होने से आत्मा आता जाता हुआ भी नहीं दीखता। परन्तु लिंग से उपलब्ध होता है। तथाहि—तत्काल उत्पन्न हुआ भी कृमि जीव अपने शरीर विषे ममत्व रखता है, घातक को जान कर दौड़ जाता है। जिस का जिस विषे ममत्व है, सो पूर्व ममत्व के अभ्यास से जन्य है, तैसे ही देखने से। अरु जितना चिर किसी वस्तुके

गुण दोष नहीं जानता, उतना चिर उस वस्तु में किसी को भी आग्रह नहीं होता है । तब तो जन्म की आदि में जो शरीर का आग्रह है, सो शरीर परिशीलन के अभ्यास पूर्वक संस्कार का कारण है । इस वास्ते आत्मा का जन्मांतर से आना सिद्ध हुआ । उक्तं चः—

शरीराग्रहरूपस्य, चेतसः संभवो यदा ।
जन्मादौ देहिनां दृष्टः किन्न जन्मांतरागतिः ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

जब आगति (आगमन) नहीं दीखती है, तब कैसे तिस का अनुमान से बोध होवे ? यह तुमारा कहना कुछ दूषण नहीं । क्योंकि अनुमेय अर्थ विषे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । परस्पर विषय का परिहार करके ही प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति बुद्धिमान् मानते हैं । तब यह तुमारा दूषण कैसे है ? आह चः—

अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्ष–मिति कैवात्र दुष्टता ।
अध्यक्षस्यानुमानस्य, विषयो विषयो नहि ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

अरु जो चित्र का दृष्टांत तुमने कहा था, सो भी विषम होने से अयुक्त है । क्योंकि चित्र जो है सो अचेतन है, अरु गमन स्वभाव रहित है । परन्तु आत्मा जो है, सो चेतन है

अरु कर्मों के वश से गति आगति करता है। तब कैसे दृष्टांत अरु दार्ष्टान्त की साम्यता होवे? जैसे देवदत्त किसी विवक्षित ग्राम में कितनेक दिन रह कर फिर ग्रामांतर में जा रहता है, तैसे ही आत्मा भी विवक्षित भव में देह को त्याग कर भवांतर में देहांतर रच कर रहता है।

अरु जो तुमने कहा था कि संवेदन देह का कार्य है, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होने से चाक्षुष आदि संवेदन कथंचित् देह से भी उत्पन्न होता है। परन्तु जो मानस ज्ञान है, वो कैसे देह का कार्य हो सकता है? तथाहि—सो मानस ज्ञान देह से उत्पद्यमान होता हुआ इन्द्रियरूप से उत्पन्न होता है? वा अनिन्द्रिय रूप से उत्पन्न होता है? वा केशनखादि लक्षण से उत्पन्न होता है? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं, जेकर इंद्रियरूप से उत्पन्न होवे, तब तो इंद्रिय ज्ञानवत् वर्त्तमान अर्थ का ही ग्राहक होना चाहिये। क्योंकि इंद्रिय ज्ञान जो है, सो वर्त्तमान अर्थ ही ग्रहण कर सकता है। इस की सामर्थ्य से उपजायमान मानस ज्ञान भी इन्द्रिय ज्ञानवत् वर्त्तमान अर्थ का ही ग्रहण कर सकेगा। अथ जब चक्षु रूपविषय में व्यापार करता है, तब रूपविज्ञान उत्पन्न होता है, शेष काल में नहीं। तब वो रूपविज्ञान वर्त्तमानार्थ विषय है, क्योंकि वर्त्तमानार्थ विषय ही चक्षु का व्यापार होने से। अरु रूपविषय वृत्ति के अभाव में मनोज्ञान है, तिस वास्ते नियत

काल विषयक नहीं हैं। ऐसे ही शेष इन्द्रिय में भी जान लेना। तब कैसे मनोज्ञान को वर्त्तमानार्थ ग्रहण प्रसक्ति होवे ? उक्तं चः—

अक्षव्यापारमाश्रित्य, भवदक्षजमिष्यते॥
तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्षभवं भवेत्॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

अथ अनिंद्रिय रूप से है, सो भी तिस को अचेतन होने से अयुक्त है। अरु केश नखादिक तो मनोज्ञान करके स्फुरत चिद्रूप उपलब्ध नहीं होते हैं। तब कैसे तिन सेती मनोज्ञान होवे ? आह चः—

चेतयंतो न दृश्यंते केशश्मश्रुनखादयः।
ततस्तेभ्यो मनोज्ञानं, भवतीत्यतिसाहसम्॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

जेकर केश, नखादिकों से प्रतिबद्ध मनोज्ञान होवे, तब तो तिनों के उच्छेद हुए मूल से ही मनोज्ञान नहीं होवेगा। अरु केश, नखादिकों का उपघात होने से ज्ञान भी उपहत होना चाहिये। परन्तु सो तो होता नहीं, इस वास्ते यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं।

एक और भी बात है, कि मनोज्ञान के सूक्ष्म अर्थ भेतृत्व अरु स्मृतिपाटवादि जो विशेष हैं, सो अन्वयव्यतिरेक

करके अभ्यासपूर्वक देखे जाते हैं। तथाहि—वोही शास्त्र जेकर ऊहापोहादि करके वार वार विचारिये, तब सूक्ष्म सूक्ष्मतर अर्थावबोध का उल्लास होता है, अरु स्मृति पाटव की अपूर्व वृद्धि होती है। ऐसे एक शास्त्रविषे अभ्यास से सूक्ष्मार्थ भेतृत्व शक्ति के होने से, अरु स्मृतिपाटव के होने से अन्य शास्त्रों में भी सहज से ही सूक्ष्मार्थावबोध, अरु स्मृतिपाटव का उल्लास हो जाता है। ऐसे अभ्यास हेतुक सूक्ष्मार्थ भेतृत्वादिक मनोज्ञान के विशेष कार्य देखे जाते हैं, अरु किसी को अभ्यास के विना भी देखते है। जिस वास्ते उस में अवश्य परलोक का अभ्यास हेतु है। क्योंकि कारण के साथ कार्य का अन्वय व्यतिरेकपना है। इस प्रतिबंध से अदृष्ट और उस के कारण की भी सिद्धि हो जाती है। इस वास्ते जीव का परलोक में जाना प्रमाण सिद्ध है।

तथा देह क्षयोपशम का हेतु है, इस वास्ते देह भी हम कथंचित् ज्ञान का उपकारी मानते हैं। देह के दूर होने से सर्वथा ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। जैसे अग्नि से घट को कुछ विशेषता है, परन्तु अग्नि की निवृत्ति होने पर घट का मूल से उच्छेद नहीं हो जाता है, केवल कछुक विशेष दूर हो जाता है, जैसे सुवर्ण की द्रवता। ऐसे इहां भी देह की निवृत्ति होने से कोई एक ज्ञान विशेष तत्प्रतिबद्ध ही निवृत्त होता है, परन्तु समूल ज्ञान का उच्छेद नहीं होता है। जेकर देह ही ज्ञान का निमित्त मानोगे, अरु देह की निवृत्ति से ज्ञान को

निवृत्ति वाला मानोगे। तब तो स्मशान में देह के भस्म होने पर ज्ञान न होवे, परन्तु देह के विद्यमान होते हुए मृत अवस्था में किस वास्ते ज्ञान नहीं होता ?

जेकर कहो कि प्राण, अपान भी ज्ञान के हेतु हैं, तिन के अभाव से ज्ञान नहीं होता है। यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्राणापान ज्ञान के हेतु नहीं हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान ही से तिन की प्रवृत्ति होती है। तथाहि, जब प्राणापान का करने वाला मंद इच्छा करता है, तब मंद होता है। अरु जब दीर्घ की इच्छा करता है, तब दीर्घ होता है। जेकर देह मात्र नैमित्तिक प्राणापान होवे, अरु प्राणापान नैमित्तिक विज्ञान होवे, तब तो इच्छा के वश से प्राणापान की प्रवृत्ति न होवेगी। क्योंकि जिनका निमित्त देह है, ऐसी जो गौरता और श्यामता, वो इच्छा के वश से प्रवृत्त नहीं होती हैं। जेकर प्राणापान ज्ञान का निमित्त होवे, तब तो प्राणापान के थोड़े वा बहुते के होने से ज्ञान भी थोड़ा वा बहुत होना चाहिये। क्योंकि जिस का कारण हीन अथवा अधिक होवेगा, उस का कार्य भी हीन अथवा अधिक ज़रूर होवेगा। जैसे माटी का पिंड जब बड़ा किंवा छोटा होवेगा, तब घट भी बड़ा अरु छोटा होवेगा, अन्यथा वो कारण भी नहीं। तुमारे भी तो प्राणापान के न्यून अधिक होने से ज्ञान न्यून अधिक नहीं होता है, किन्तु विपर्यय होता तो दीखता है। क्योंकि मरणावस्था में प्राणापान अधिक भी होते हैं, तो भी विज्ञान घट जाता है।

जेकर कहो कि मरणावस्था में वात पित्तादि दोषों से देह के विगुणी हो जाने से, प्राणापान के बढ़ने पर भी चैतन्य की वृद्धि नहीं होती है, अत एव मृतावस्था में भी देह के विगुणी होने से चेतनता नहीं रहती। यह भी असमीचीन है। जेकर ऐसे होवे, तब तो मरा हुआ भी ज़िंदा होना चाहिये। तथाहि—"मृतस्य दोषाः समीभवंति" अर्थात् मरण पीछे वात पित्तादि दोष सम होजाते हैं। और ज्वरादि विकार के न देखने से दोषों का सम होना प्रतीत ही होता है। अरु जो दोषों का समपना है, सोई आरोग्य है, "तेषां समत्वमारोग्यं, त्तयवृद्धी विपर्यये" इति वचनात्। तब तो आरोग्य लाभ से देह को फिर ज़िंदा होना चाहिये, अन्यथा देह कारण ही नहीं। चित्त के साथ देह का अन्वय व्यतिरेक नहीं। जेकर मरा हुआ जी उठे, तो हम देह को कारण भी मान लेवें।

प्रतिवादीः—यह फिर जी उठने का प्रसंग तुमारा अयुक्त है। क्योंकि यद्यपि दोष देह का वैगुण्य करके निवृत्त हो गये हैं, तो भी तिन का किया हुआ वैगुण्य निवृत्त नहीं होता है। जैसे अग्नि का करा हुआ काष्ठ में विकार अग्नि के निवृत्त होने से भी निवृत्त नहीं होता है।

सिद्धान्तीः—यह तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि विकार भी दो प्रकार का है। एक *अनिवर्त्य होता है और दूसरा

* जो दूर न किया जा सके, वह 'अनिवर्त्य' और जो हटाया जा सके, वह 'निवर्त्य' है।

निवर्त्य होता है। अनिवर्त्य विकार जैसे काष्ठ में अग्नि की करी हुई श्यामता मात्र, अरु निवर्त्य विकार जैसे अग्निकृत सुवर्ण में द्रवता। वायु आदिक जो दोष हैं, सो निवर्त्य विकार के जनक हैं, क्योंकि उन की चिकित्सा देखी जाती है। जेकर वायु आदि दोष से भी अनिवर्त्य विकार होवें, तब तो चिकित्सा विफल होजावेगी। ऐसे भी मत कहना कि मरने से पहिले दोष निवर्त्य विकार के आरंभक हैं, अरु मरण काल में अनिवर्त्य विकार के आरंभक हैं। क्योंकि एक ही एक जगे दो विरोधी विकारों का जनक नहीं हो सकता।

प्रतिवादीः—व्याधि दो प्रकार की लोक में प्रसिद्ध है, एक साध्य, दूसरी असाध्य। उस में साध्य जो है, सो चिकित्सा से दूर हो सकती है, अरु दूसरी असाध्य जो दूर नहीं होती है। और व्याधि दोषों की विषमता से होती है। तो फिर दोष उक्त दो प्रकार के विकारों के आरम्भक—जनक क्यों नहीं ?

सिद्धान्तीः—यह भी असत् है, क्योंकि तुमारे मत में असाध्य व्याधि ही नहीं हो सकती है, तथाहि—व्याधि का जो असाध्यपना है, सो आयु के क्षय होने से होता है। क्योंकि तिसी व्याधि में समान औषध वैद्य के योग से भी कोई मर जाता है, कोई नहीं मरता है। अरु जो प्रतिकूल कर्मों के उदय करके श्वित्रादि व्याधि है, वो हजार औषध से भी साधी नहीं जाती है। यह दोनों प्रकार की व्याधि परमेश्वर के वचनों के जानने वालों के मत में ही

सिद्ध होती है; परन्तु तुमारे भूतमात्र तत्त्व वादियों के मत में नहीं हो सकती है। कोई एक असाध्य व्याधि इस वास्ते हो जाती है, कि दोषकृत विकार के दूर करने में समर्थ औषधि अरु योग्य वैद्य नहीं मिलता। तब औषधि अरु वैद्य के अभाव से व्याधि वृद्धिमान् होकर सकल आयु को उपक्रम करती है, अर्थात् क्षय कर देती है। तथा कोई एक दोषों के उपशम होने से अकस्मात् मर जाता है। अरु कोई एक अति दुष्ट दोषों के होने से भी नहीं मरता है। यह बात तुमारे मत में नहीं हो सकती है। आह चः—

दोषस्योपशमेऽप्यस्ति, मरणं कस्यचित्पुनः।
जीवनं दोषदुष्टत्वेऽप्येतन्न स्याद्भवन्मते॥

[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

हमारे मत में तो जहां लगि आयु है, तहां लगि दोषों करके पीडित भी जीता रहता है, अरु जब आयु क्षय हो जाता है, तब दोषों के विकार विना भी मर जाता है। इस वास्ते देह ज्ञान का निमित्त नहीं है।

एक और भी बात है, कि देह जो तुम ज्ञान का कारण मानते हो, सो सहकारी कारण मानते हो ? वा उपादान कारण मानते हो ? जेकर सहकारी कारण मानते हो, तब तो हम भी देह को क्षयोपशम का हेतु होने से कथंचित् विज्ञान का हेतु मानते हैं। जेकर उपादान कारण मानो, तब

तो अयुक्त है। उपादान वो होता है, कि जिस के विकारी होने से कार्य भी विकारी होवे, जैसे मृत्तिका घट का कारण है। परन्तु देह के विकार से संवेदन विकारी नहीं होता, अरु देह विकार के विना भी भय शोकादिकों करके संवेदन को विकारी देखते हैं। इस वास्ते देह संवेदन का उपादान कारण नहीं। उक्तं चः—

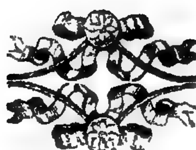
अविकृत्य हि यद्वस्तु, यः पदार्थो विकार्यते।
उपादानं न तत्तस्य, युक्तं गोगवयादिवत् ॥

[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

इस कहने से, जो यह कहते हैं, कि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान कारण है, सो भी खण्डित हो गया। तहां माता पिता के विकारी होने से पुत्र विकारी नहीं होता है। अरु जो जिसका उपादन होता है, सो अपने कार्य से अभिन्न होता है, जैसे माटी और घट। यदि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान होवे, तो माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य के साथ अभेद रूप होगा। तब तो पुत्र का चैतन्य भी माता पिता के चैतन्य से अभिन्न होना चाहिये। इसी वास्ते तुमारा कहना किसी काम का नहीं है। इस हेतु से भूतों का धर्म वा भूतों का कार्य चैतन्य नहीं है। इस वास्ते आत्मा सिद्ध है। विशेष करके चार्वाक मत का खण्डन देखना होवे, तो सम्मतितर्क, स्याद्वाद-

रत्नाकरादि शास्त्र देख लेने। इस परिच्छेद में जो कुगुरु के लक्षण कहे हैं, वे लक्षण चाहे जैन के साधु में होवें, चाहे अन्य मत के साधु में होवें, उन सर्व को कुगुरु कहना चाहिये।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनंदविजय–आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे चतुर्थः परिच्छेदः संपूर्णः



पंचम परिच्छेद।

अब पंचम परिच्छेद में धर्मतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:— धर्म उस को कहते हैं, जो दुर्गति में जाते हुए आत्मा को धार रक्खे, एतावता दुर्गति में न जाने देवे। तिस धर्म के तीन भेद हैं—१. सम्यक् ज्ञान, २. सम्यक् दर्शन, ३. सम्यक् चारित्र। इन तीनों में से प्रथम ज्ञान का स्वरूप संक्षेप से लिखते हैं:—

धर्म तत्त्व का स्वरूप

यथावस्थिततत्त्वानां, संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥

[यो॰ शा॰, प्र॰ १ श्लो॰ १६]

अर्थः—यथावस्थित—नय प्रमाणों करके प्रतिष्ठित है स्वरूप जिन का, ऐसे जो जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष रूप सप्त तत्त्व, तथा प्रकारांतर में पुण्य पाप के अधिक होने से नव तत्त्व होते हैं: इन का जो अवबोध अर्थात् ज्ञान, सो सम्यक् ज्ञान जानना। वह ज्ञान क्षयोपशम के विशेष से किसी जीव को संक्षेप से अरु किसी जीव को विस्तार से होता है। इन नव तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व जो जीव है, तिस को आत्मा भी कहते हैं। अर्थात् जीव कहो अथवा आत्मा कहो, दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं।

प्रश्नः—जैन मत में आत्मा का क्या लक्षण है ?

उत्तरः—चैतन्य लक्षण है।

प्रश्नः—जैन मत में जीव-प्राणी-आत्मा किस को कहते हैं ?

यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥

[शा० स०, स्त० १ श्लो० ९०]

जीव तत्त्व का स्वरूप

उत्तरः—इस श्लोक से जान लेना। इस का भावार्थ कहते हैं—जो मिथ्यात्वादि करके कलुषित अर्थात् मैला हो कर वेदनीयादिक कर्मों का कर्त्ता-करने वाला, अरु तिन अपने करे हुये कर्मों का जो फल—सुख दुःखादिक, तिन को भोगने वाला, तथा कर्म विपाक के उदय से नारकादि भवों में भ्रमण करने वाला, अरु सम्यक् दर्शनादि तीन रत्नों के उत्कृष्ट अभ्यास से संपूर्ण कर्मांश को दूर करके निर्वाण रुप होने वाला ही आत्मा है, वोही प्राण धारण करने से प्राणी और जीव है। *यह

* यो मिथ्यात्वादिकलुषिततया वेदनीयादिकर्मणामभिनिर्वर्त्तकस्तत्फलस्य च सुखदुःखादेरुपभोक्ता नारकादिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं संसर्त्ता सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाचाशेषकर्मांशापगमतः परिनिर्वाता स प्राणान् धारयति स एव चात्मेत्यभिधीयते ।

नोटः—विशेष के लिए देखो श्री मलयगिरिसूरि कृत वृत्ति में से जीवसत्तासिद्धि का प्रकरण ।

नंदी सूत्र में लिखा है। आत्माकी सिद्धि चार्वाक मतके खण्डन में लिख आये हैं। जे कर आत्मा की सिद्धि विशेष करके देखनी होवे, तो गंधहस्ती महाभाष्य देख लेना। तथा यह आत्मा सर्व व्यापी भी नहीं, और एकांत नित्य, तथा कूटस्थ भी नहीं है। एवं एकांत अनित्य–क्षणिक भी नहीं है। किंतु शरीर मात्र व्यापी कथंचित् नित्यानित्य रूप है। इन का अधिक खण्डन मण्डन देखना हो, तो स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका और अनेकांतजयपताका आदि शास्त्रों से देख लेना। मैंने इस वास्ते नहीं लिखा है, कि ग्रन्थ बड़ा भारी हो जावेगा, अरु पढ़ने वाले आलस करेंगे।

तहां जीव जो हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक मुक्त रूप, दूसरे संसारी, यह दोनों ही प्रकार के जीव स्वरूप से अनादि अनंत हैं, अरु ज्ञान दर्शन इन का लक्षण है। तथा जो मुक्त स्वरूप आत्मा है, वो सर्व एक स्वभाव है। अर्थात् जन्मादि क्लेशों करके वर्जित, अनंत दर्शन, अनंतवीर्य, और अनंत आनंदमय स्वरूप में स्थित, निर्विकार निरंजन और ज्योतिः स्वरूप है।

अरु जो संसारी जीव हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक स्थावर, दूसरे त्रस। उस में स्थावर के पांच भेद हैं—१. पृथिवीकाय, २. अप्काय, ३. तेजःकाय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय। तथा त्रस जीव के चार भेद हैं—१. दो इन्द्रिय, २. तीन इन्द्रिय, ३. चार इन्द्रिय, ४. पांच इन्द्रिय। तथा

स्थावर जो हैं, सो सर्व एक ही—स्पर्शेंद्रिय वाले हैं । कृमि, गंडोआ, जोक, सुंडी, इत्यादि जीव एक स्पर्शन अर्थात् शरीर इंद्रिय, दूसरी रसनेंद्रिय अर्थात् मुख, इन दो इन्द्रिय वाले हैं । कीड़ी, जूं, सुसरी, ढोरा, इत्यादि जीव दो पूर्वोक्त अरु एक नासिका, यह तीन इंद्रिय वाले हैं । माखी, भ्रमर, सहत की माखी, भिड़, धमोड़ी, बिच्छू, इत्यादि जीव तीन पूर्वोक्त अरु चौथा नेत्र, इन चार इंद्रिय वाले हैं । नारक, तिर्यंच, मनुष्य, अरु देवता, ये पंचेंद्रिय जीव हैं । अर्थात् ये सब स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र और कान, इन पांच इंद्रिय वाले हैं । स्थावर जीव भी दो तरे के हैं, एक सूक्ष्म नाम कर्म के उदय वाले सूक्ष्म, दूसरे बादर नाम कर्म के उदय वाले बादर । यह स्थावर अरु त्रस जीव समुच्चय रूप से छे पर्याप्ति वाले हैं । इन छे पर्याप्तियों के नाम यह हैंः— १. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति, ६. मनः पर्याप्ति ।

अथ पर्याप्ति का स्वरूप लिखते हैं । आहार—भोजन, तिस के ग्रहण करने की जो शक्ति, तिस का नाम आहार पर्याप्ति कहते हैं । शरीर रचने की जो शक्ति, तिस का नाम शरीर पर्याप्ति है । इन्द्रिय रचने की शक्ति, इंद्रिय पर्याप्ति है । ऐसे ही सर्वत्र जान लेना । जिस जीव की पूर्वोक्त छे पर्याप्तियें अधूरी हैं, उस को अपर्याप्ति कहते हैं । स्थावर जीवों में आदि की चार पर्याप्ति हैं । अरु दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौरिंदिय,

इन जीवों में एक मन के बिना पांच पर्याप्ति हैं । पंचेंद्रिय जीवों में छे ही पर्याप्ति हैं। पृथिवीकाय, जलकाय, तेजः-काय, वायुकाय, इन चारों में असंख्य जीव हैं । तथा वनस्पतिकाय में से जो प्रत्येक वनस्पति है, उस में तो असंख्य जीव हैं: परंतु साधारण वनस्पति में अनंत जीव हैं । इन स्थावर अरु त्रस जीवों के जघन्य तो चौदह भेद हैं, मध्यम ५६३ भेद हैं, अरु उत्कृष्ट-अनंत भेद हैं । तिन में मध्यम चौदह भेद नरक वासियों के हैं । अडतालीस भेद तिर्यंच गति वालों के हैं, और तीन सौ तीन भेद मनुष्य गति वालों के हैं, १९८ भेद देवगति वालों के हैं, यह सर्व मध्यम भेद ५६३ हैं । इन का पूरा विचार देखना होवे, तो प्रज्ञापना सिद्धांत तथा जीव समास प्रकरणादि शास्त्रों से देख लेना।

प्रश्नः—हे जैन ! दो इन्द्रियादिक जीव तो जीव लक्षण संयुक्त होने से जीव सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु पृथिवी आदि पांच स्थावरों में जीव हम कैसे मान लेवें ? क्योंकि पृथिवी आदि में जीव का कोई भी चिन्ह उपलब्ध नहीं होता है।

स्थावर जीव की सिद्धि

उत्तरः—यद्यपि पृथिवी आदि में जीव के होने का प्रकट चिन्ह नहीं दीखता, तो भी इन में अव्यक्त रूप से जीव के चिन्ह दिखलाई देने से जीव सिद्ध होता है । जैसे धत्तूरे तथा मदिरा के नशे करके मूर्च्छित हुये जीवों में व्यक्त लिंग के अभाव होने से जीवपना है। तैसे ही पृथिवी आदि

को भी सजीव मानना चाहिये।

प्रश्नः—मदिरा की मूर्च्छा में उच्छ्वासादि के देखने से अव्यक्त रूप में भी चेतना लिंग है। परंतु पृथिवी आदिकों में चेतनता का तैसा लिंग कोई भी नहीं, फिर तिन को कैसे चेतन माना जावे ?

उत्तरः—जो तुमने कहा है, सो ठीक नहीं। क्योंकि पृथिवी काय में प्रथम स्व स्व आकार में रहे हुये लवण, विद्रुम, पाषाणादिकों में, अर्श मांस अंकुर की तरे समान जातीय अंकुर उत्पन्न करने की योग्यता है। यह वनस्पति की तरे चैतन्यपने का चिन्ह है। इस वास्ते अव्यक्त उपयोगादि लक्षण के होने से पृथिवी सचेतन है, यह सिद्ध हुआ।

प्रश्नः—विद्रुम पाषाणादि पृथिवी कठिन रूप है, तो फिर कठिन रूप होने से पृथिवी सचेतन कैसे हो सकती है ?

उत्तरः—जैसे शरीर में जो अस्थि अर्थात् हाड अनुगत है, सो कठिन है, तो भी सचेतन है, ऐसे जीवानुगत पृथिवी का शरीर सचेतन है। अथवा पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, इन के शरीर जीव सहित हैं, छेद्य, भेद्य, उत्क्षेप्य, भोग्य, घ्रेय, रसनीय, स्पृश्य द्रव्य होने से, सास्ना विषाणादि संघातवत्। इस अनुमान से इन में जीव सिद्ध है। और पृथिवी आदिकों में जो छेद्यत्वादि दिखते हैं, तिन को कोई भी छिपा नहीं सकता है। तथा यह भी मत कहना कि पृथिवी आदि को जीव का शरीर सिद्ध करना है, सो अनिष्ट

है। क्योंकि हम सर्व पुद्गल द्रव्य को द्रव्य शरीर मानते हैं। उस में जीव सहित तथा जीव रहित जो विशेषपना है, सो ऐसे है—शस्त्र करके अनुपहत जो पृथिवी आदिक हैं, सो हाथ पग के संघातवत् संघात न होने से वे कदाचित् सचेतन हैं, ऐसे ही कदाचित् शस्त्रोपहत होने से हाथादिकों की तरे अचेतन भी हैं।

प्रश्नः—प्रश्रवणवत् अर्थात् मूत्र की तरे जीव का लक्षण न होने से जल जीव नहीं है।

उत्तरः—तुमारा यह हेतु असिद्ध होने से ठीक नहीं है। तथाहि—हाथी के शरीर में कलल अवस्था में द्रवपना अरु सचेतन पना देखते हैं, ऐसे ही जल में भी चेतनता जाननी। तथा अंडे में रस मात्र है, अवयव कोई उत्पन्न हुआ नहीं, और व्यक्त—हाथ पग आदिक भी नहीं, तो भी वह सचेतन है। इसी प्रकार जल भी सचेतन है। यह इस में प्रयोग है—शस्त्र करके अनुपहत हुआ जल सचेतन है, द्रवरूप होने से, हस्तिशरीर के उपादान भूत कललवत्। इस हेतु में विशेषण के उपादान से अर्थात् ग्रहण से प्रश्रवण और दुग्ध आदि में व्यभिचार नहीं। तथा अनुपहत द्रव होने से अण्डे में रहे कललवत् सात्मक जल है। तथा हिमादि किसी एक अवस्था में अप्काय होने से इतर उदकवत् सचेतन है। तथा किसी जगे भूमि खनने से मेंडक की भांति स्वाभाविक संभव—उत्पन्न होने से [illegible]

आकाश में बादल आदिक विकार से उत्पन्न हुआ जल स्वतः ही अर्थात् आप ही उत्पन्न हो कर पड़ने से मत्स्यवत् सचेतन है । तथा शीतकाल में बहुत शीत के पड़ते हुए नदी आदिकों में अल्प जल के हुए अल्प अरु बहुतके हुए बहुत उष्मा देखते हैं, सो उष्मा सजीव हेतुक ही है। अल्प या बहुत प्रमाण में मिलित मनुष्यों के शरीरों से जैसे अल्प या बहुत उष्मा उत्पन्न होती है । जल में शीत स्पर्श ही है, ऐसे वैशेषिक कहते हैं। तथा शीतकाल में शीत के बहुत पड़ने से प्रातःकाल में तलावादिक के पश्चिम दिशा में खडे होकर जब तलावादि को देखिये, तो तिस के जल से बाष्प का समूह निकलता हुआ दीखता है, सो भी जीव-हेतुक ही है । इस का प्रयोग ऐसे है—शीतकाल में जो बाष्प है, सो उष्ण स्पर्श वाली वस्तु से उत्पन्न होता है, बाष्प होने से, शीत काल में शीत जल करके सींचे हुए मनुष्य शरीर के बाष्पवत् । अरु जो कूड़े कचरे में से धूआं-बाष्प निकलता है, तहां भी हम पृथ्वीकाय के जीव मानते हैं । इन सब हेतुओं से जल सजीव सिद्ध होता है ।

प्रश्नः—तेजःकाय में जीव किस तरे सिद्ध होता है ?

उत्तरः—जैसे रात्रि में खद्योत का शरीर जीव शक्ति से बना हुआ प्रकाशवाला है, ऐसे अंगारादिक भी प्रकाशमान होने से सचेतन हैं । तथा जैसे ज्वर की उष्मा जीव के प्रयोग विना नहीं होती, ऐसे ही अग्नि में भी गरमी जीवों के

बिना नहीं है; क्योंकि मृतक के शरीर में ज्वर कदापि नहीं होता है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक करके अग्नि सचित्त जाननी। यहां यह प्रयोग है—अंगार आदि का प्रकाश आत्मा के संयोग से प्रगट हुआ है, प्रकाश परिणाम शरीरस्थ होने से, खद्योत देह के परिणामवत्। तथा आत्मा के संयोग पूर्वक शरीरस्थ होने से ज्वरोष्मवत् अंगारादिकों में उष्णता है। तथा ऐसे भी मत कहना कि सूर्य की उष्मा के साथ यह हेतु अनैकांतिक है; क्योंकि सूर्यादिकों में जो उष्मा है, उस को भी आत्मसंयोग पूर्वक ही हम मानते हैं। तथा अग्नि सचेतन है, क्योंकि यथायोग्य आहार के करने से पुरुष के शरीर की तरह उस में वृद्धि आदि विकार की उपलब्धि होती है। इत्यादि लक्षणों करके अग्नि की सचेतनता है।

प्रश्नः—वायुकाय—पवन में सचेतनता की सिद्धि कैसे करोगे?

उत्तरः—जैसे देवता का शरीर शक्ति के प्रभाव करके, अरु मनुष्यों का शरीर अंजनादि विद्या मंत्र के प्रभाव करके अदृश्य हो जाने पर नेत्रों से नहीं दीखता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। ऐसे ही सूक्ष्म परिणाम होने से परमाणु की तरे वायुकाय भी नेत्रों से नहीं दीखता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। अग्नि करके दग्ध पाषाण खण्डगत अग्नि की भांति वह स्पष्ट उपलब्ध नहीं होता। प्रयोग यह है—कि वायु चेतनावान् है, दूसरों की प्रेरणा के विना नियम

करके तिर्यग्गति होने से, गवाश्वादिवत् । तिर्यग्गति का नियम करने से, परमाणु के साथ व्यभिचार नहीं। इस प्रकार शस्त्र करके अनुपहत वायु सचेतन है ।

अरु वनस्पति में तो प्रत्यक्ष प्रमाण से जीव सिद्ध ही है। इस वास्ते यहां विस्तार से नहीं लिखा। तथा सर्वज्ञ का कथन करा हुआ आगम भी पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन अरु वनस्पति में जीव का होना कहता है। कोई २ पुरुष द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय अरु पंचेंद्रिय में भी जीव नहीं मानते; परन्तु तिन के न मानने से कुछ हानि नहीं'। यह संक्षेप से जीवों का स्वरूप लिखा है। जब विस्तार से देखना होवे, तब जैनमत के सिद्धांत-आगम ग्रन्थ देख लेने ।

अजीव तत्त्व का स्वरूप

अथ दूसरा अजीव तत्त्व लिखते हैं । अजीव उस को कहते हैं, कि जो जीव के लक्षणों से विपरीत होवे—जो ज्ञान से रहित होवे, और जो रूप, रस, गंध, अरु स्पर्शवाला होवे, नर अमरादि भव में न जावे, अरु ज्ञानावरणीयादिक कर्म का कर्त्ता न होवे, अरु तिनों के फल का भोगने वाला न होवे, जडस्वरूप होवे। सो अजीव द्रव्य पांच प्रकार के हैं— १. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. पुद्गलास्तिकाय, ५. काल ।

तिन में पहला जो धर्मास्तिकाय है, सो लोकव्यापी है, नित्य है, अवस्थित है, अरूपी है, असंख्य प्रदेशी है, जीव अरु

पुद्गल की गति में उपष्टंभक-सहायक है। यद्यपि जीव अरु पुद्गल स्वशक्ति से चलते हैं, तो भी चलने में धर्मास्तिकाय अपेक्षित कारण है। जैसे मच्छी जल में तरती तो अपनी शक्ति से है, परन्तु अपेक्षित कारण जल है। ऐसे ही जीव अरु पुद्गल की गति में सहायक धर्मास्तिकाय है। जहां लगि यह धर्मास्तिकाय है, तहां लगि लोक की मर्यादा है। जेकर धर्मास्तिकाय न मानिये, तो लोकालोक की मर्यादा न रहेगी। अरु जहां लगि धर्मास्तिकाय है, तहां लगि जीव पुद्गल गति करते हैं। इस का पूरा स्वरूप जैनमत के ग्रन्थ पढ़े बिना नहीं जाना जा सकता।

दूसरा अधर्मास्तिकाय द्रव्य है। इस का सर्व स्वरूप धर्मास्तिकाय की तरे जानना। परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य, जीव पुद्गल की स्थिति में सहायक है। जैसे पथिक जन जब चलता चलता थक जाता है, तब किसी वृक्षादिक की छाया में बैठता है, सो बैठता तो वो आप ही है, परन्तु आश्रय बिना नहीं बैठ सकता है। ऐसे ही जीव, पुद्गल स्थित तो आप ही होते हैं, परन्तु अपेक्षित कारण अधर्मास्तिकाय है।

तीसरा आकाशास्तिकाय द्रव्य है, इस का स्वरूप भी धर्मास्तिकायवत् जानना। परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य लोकालोक सर्वव्यापी है, अरु अवगाह दान लक्षण है—जीव पुद्गल के रहने में अवकाश दाता है। यह तीनों द्रव्य

आपस में मिले हुए हैं। जहां लगि आकाश में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय है, तहां लगि लोक है। अरु जहां केवल एकला आकाश ही है, और कोई वस्तु नहीं, तिस का नाम अलोक है।

चौथा पुद्गलास्तिकाय द्रव्य है, पुद्गल नाम परमाणुओं का भी है, अरु परमाणुओं के जो घट पटादि कार्य हैं, उन को भी पुद्गल ही कहते हैं। एक परमाणु में एक वर्ण है, एक रस है, एक गंध है, दो स्पर्श हैं। कार्य ही इन का लिंग--गमक है। ये वर्ण से वर्णांतर, रस से रसांतर, गंध से गंधांतर, स्पर्श से स्पर्शांतर हो जाते हैं। यह परमाणु पदार्थ द्रव्यरूप करके अनादि अनंत है, पर्यायस्वरूप करके सादि सांत है। इन परमाणुओं का जो कार्य है, उस में कोई तो प्रवाह से अनादि अनंत है, अरु कोई सादि सांत भी है। जो कुछ यह जड जगत् दीखता है, सो सब इन परमाणुओं का ही कार्य है। सूखी हुई सर्व वनस्पति अरु अग्नि आदिक शस्त्रों करके परिणामांतर को प्राप्त हुए पृथिव्यादिक सर्व पुद्गल हैं। समुच्चय पुद्गल द्रव्य में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान हैं। उस में काला, नीला, रक्त, पीत और शुक्ल, यह पांच तो वर्ण हैं। तीक्ष्ण, कडुआ, कषाय, खट्टा, मीठा, यह पांच रस हैं। सुगंध, दुर्गंध, यह दो प्रकार की गंध है। खरखरा अर्थात् कठोर, सुकोमल, हलका, भारी, शीत, उष्ण, चिकना, रूखा यह आठ स्पर्श

हैं। इन से अधिक जो वर्णादि हैं, सो सब इन ही के मिलने से हो जाते हैं। इन पुद्गलों में अनंत शक्तियां, अनंत स्वभाव हैं। इन के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि निमित्तों के मिलने से विचित्र परिणाम हो जाते हैं।

पांचमा कालद्रव्य है, सो प्रसिद्ध है। यह पांच द्रव्य अजीव हैं। निमित्त पांच हैं, वे जैनश्वेतांबराचार्य श्रीसिद्ध-सेन दिवाकरकृत सम्मतितर्क ग्रंथ में लिखे हैं *। १. काल, २. स्वभाव, ३. नियति, ४. पूर्वकृत कर्म, ५. पुरुषकार। इन पांचों में से मात्र एक को मानना तो मिथ्याज्ञान अरु मिथ्यात्व है, तथा इन पांचों के समवाय को मानना सम्यक्ज्ञान अरु सम्यक्त्व है। इन पांच निमित्तों में से काल, स्वभाव, नियति, इन तीनों निमित्तों का स्वरूप क्रियावादी के मत के निरूपण में लिख आए हैं। अरु चौथे पूर्वकृत कर्म, का स्वरूप आगे कर्मों के स्वरूप में लिखेंगे। अरु पांचमा पुरुषकार, सो जीव के उद्यम का नाम है। इन पांचों निमित्तों से जगत् की प्रवृत्ति और निवृत्ति हो रही है। इन निमित्तों ही

* कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्तं॥

काल–स्वभाव–नियति–पूर्वकृत–पुरुषकारणरूपा 'एकान्ताः' सर्वेऽपि एकका मिथ्यात्वम् त एव 'समुदिताः' परस्पराऽजहद्वृत्तयः सम्यक्त्व-रूपतां प्रतिपद्यन्ते इति तात्पर्यार्थः।

[सं० त० टी०, कां० ३ गा०५३]

से नरकादि गतियों में जीव जाते हैं, अरु सुख दुःख का फल भोगते हैं। इन निमित्तों के विना फल का दाता अन्य ईश्वरादिक कोई भी नहीं। जेकर कोई वादी इन पांचों निमित्तों के समवाय को ईश्वर माने, तब तो हम भी उस ईश्वर को कर्त्ता मान लेवेंगे। क्योंकि जैनमत की तत्त्वगीता में लिखा है, कि अनादि द्रव्य में जो द्रव्यत्व शक्ति है, सोई सर्व पदार्थों को उत्पन्न करती है, और लय भी करती है। सो शक्ति चैतन्याऽचैतन्यादि अनंत स्वभाव वाली है, तिस को कर्त्ता-ईश्वर मानने से जैनमत की कुछ भी हानि नहीं है।

३. अथ पुण्यतत्त्व लिखते हैं-प्रथम तो पुण्य उपार्जन करने के नव कारण हैं, उक्तं च स्थानांगसूत्रेः—

अन्नपुण्णे पाणपुण्णे वत्थपुण्णे लेणपुण्णे सयणपुण्णे मणपुण्णे वयपुण्णे कायपुण्णे नमोक्कारपुण्णे। [ठा०९ सू० ६७६]

पुण्य तत्त्व का स्वरूप

व्याख्याः—१. पात्र के प्रति अन्न का दान करने से तीर्थंकर नामादि पुण्य प्रकृति का जो बंध होवे है, तिस का नाम अन्न पुण्य है। ऐसे ही २. पीने का जल देवे, ३. वस्त्र देवे, ४. रहने को स्थान देवे, ५. सोने बैठने को आसन देवे, ६. गुणिजन को देख कर मन में हर्ष करे, ७. वचन करके गुणिजनों की प्रशंसा करे, ८. काया करके पर्युपासन अर्थात् सेवा करे और ९. गुणिजन को नमस्कार करे। तथा

यह जो पुण्य की बात कही है, सो कुछ जैनियों को ही दान देने के वास्ते नहीं। किन्तु किसी मत वाला भी क्यों न हो, जो कोई भी अनुकंपा करके किसी को दान देवेगा, वो पुण्य का उपार्जन करेगा। परन्तु इतना विशेष है, कि पात्र को जो दान देना है, सो तो पुण्य अरु मोक्ष दोनों का ही हेतु है। तथा जो अनुकंपा करके सर्वजनों को देवेगा, सो केवल पुण्य का ही उपार्जन करेगा। जैनमत के किसी शास्त्र में पुण्य करने का निषेध नहीं। जैनमत के ऋषभदेवादि चौवीस तीर्थंकर भये हैं, उन्हों ने दीक्षा लेने से पहिले एक करोड़, आठ लाख सोनैये दिन दिन प्रति एक वर्ष तक दिये हैं। इसी कारण से जैनमत में प्रथम स्थान दान धर्म का है। तथा जैन मत के शास्त्रों में और भी कई तरे से पुण्य का उपार्जन करना लिखा है।

४२ प्रकार का पुण्य

अथ पुण्य का फल बैतालीस प्रकार करके भोगने में आता है। सो बैतालीस प्रकार लिखते हैं:—१. जिस के उदय से जीव साता-सुख भोगता है, सो सातावेदनीय। २. जिस के उदय से जीव क्षत्रियादि उच्च कुल में उत्पन्न होता है, सो उच्च गोत्र। ३. जिस के उदय से जीव मनुष्य गति में उत्पन्न होता है, सो मनुष्य गति। ४. जिस के उदय से जीव देव गति में उत्पन्न होता है, सो देवगति। ५. जिस के उदय से जीव अपांतराल गति में नियत देश—अनुश्रेणी

गमन करता है, अरु नियत मर्यादा पूर्वक अंगों का विन्यास, अर्थात् स्थापन करने वाली नाम कर्म की प्रकृति को *आनुपूर्वी कहते हैं. उस में जो मनुष्य गति आने वाली, जीव के उदय में है, सो मनुष्यानुपूर्वी। ऐसे ही ६. देवानुपूर्वी। ७. जिस के उदय से जीव पंचेंद्रियता को पाता है, सो पंचेंद्रिय जाति। अथ पांच शरीर कहते हैं। ८. जिस के उदय से जीव औदारिक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके औदारिक शरीर की रचना करता है, अर्थात् औदारिक शरीर के रूप में परिणमन करता है, सो औदारिक शरीर नाम कर्म की प्रकृति है। ऐसे ही ९. वैक्रियक, १०. आहारक, ११. तैजस, १२. कार्मण, इन पांचों शरीरों की प्रकृतियों का अर्थ कर लेना। तथा अंगोपांग तीन हैं, उस में अंग— शिर प्रमुख, उपांग—अंगुली प्रमुख हैं, शेष अंगोपांग हैं। यथा शिर, छाती, पेट, पीठ, दो बाहु, दो साथलां, यह आठ

* जीव की स्वाभाविक गति श्रेणी के अनुसार होती है। आकाश-प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। एक शरीर को छोड़ दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव समश्रेणी से अपने उत्पत्ति-स्थान के प्रति जाने लगता है, तब आनुपूर्वीनामकर्म, उसे, उस के विश्रेणी-पतित उत्पत्ति-स्थान पर पहुंचा देता है। जीव का उत्पत्ति-स्थान यदि सम श्रेणी में हो, तो आनपूर्वीनामकर्म का उदय नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वक्र गति में आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है, ऋजुगति में नहीं। [कर्म० १ (हिं०) पृ० ८९]

अंग हैं। तथा अंगुल्यादि उपांग हैं। शेष नखादि अंगोपांग हैं। जिस के उदय से जीव को आदि के तीन शरीरों में अंगोपांग की उत्पत्ति होवे, तिस का नाम तिन शरीर के अंगोपांग है। सो यह है—१३. औदारिक अंगोपांग, १४. वैक्रिय अंगोपांग, १५. आहारक अंगोपांग। १६. जिस के उदय से जीव आदि का संहनन—वज्रऋषभनाराच पाता है, सो वज्रऋषभनाराचसंहनन नामकर्म। तहां वज्र नाम कीलिका, अरु ऋषभ नाम परिवेष्टन-पट्ट अर्थात् ऊपर लपेटने का हाड़, तथा नाराच-मर्कटबंध है। इन तीनों रूपों करके जो उपलक्षित है, तिस को वज्रऋषभनाराचसंहनन कहते हैं। हाड के संचय सामर्थ्य का नाम संहनन है। यह संहनन औदारिक शरीर वालों में ही होता है। १७. जिस के उदय से जीव को आदि के समचतुरस्र संस्थान की प्राप्ति होवे। सो समचतुरस्र संस्थाननामकर्म की प्रकृति जाननी। तहां सम हैं चारों अस्र जिस के अर्थात् तुल्य शरीर लक्षण युक्त प्रमाण सहित, ऐसा आद्य संस्थान सुन्दराकार मनोहर होवे। अब वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, यह चारों कहते हैं। तिन में जिस के उदय से १८. वर्ण-कृष्णादिक, १९. रस-तिक्तादिक, २०. गंध-सुरभ्यादिक, २१. स्पर्श-मृदु आदिक, यह चारों शुभ होवे, सो वर्णादि चार प्रकृति जाननी। २२. जिस कर्म प्रकृति के उदय से जीव का शरीर न तो भारी होवे—जिस को जीव उठा न सके, अरु न तो हलका होवे—जो

पवन करके उड़ जावे, तिस का नाम अगुरु लघु है, तिस की प्राप्ति होवे, सो अगुरुलघु नाम कर्म । २३. जिस के उदय से प्राणी परको हने, अरु शरीर की आकृति ऐसी होवे, कि जिस के देखने से दूसरों का अभिभव होवे, सो पराघात नामकर्म । २४. जिस के उदय से उच्छ्वासन लब्धि अर्थात् उच्छ्वास लेने की शक्ति, आत्मा को होती है, सो उच्छ्वास नामकर्म । २५. जिस के उदय से जीव प्रकाश अरु आतप शरीर को पावे, तिस का नाम आतप नामकर्म । २६. जिस के उदय से जीव, उष्ण प्रकाश रूप उद्योत वाला शरीर पाता है, सो उद्योत नामकर्म । २७. जिस कर्म के उदय से जीव-को विहायोगति [विहाय नाम आकाश का है; तिस में जो गति सो विहायोगति] एतावता राजहंस सरीखी गति होवे, सो सुविहायोगति नामकर्म । २८. जिस के उदय से जीव के शरीर के अंगोपांगादिकों अर्थात् नसा, जाल, माथे की खोपड़ी के हाड़, आंख, कान के पड़दे, केश, नखादि सर्व शरीर के अवयवों की व्यवस्था होवे, सो निर्माणनामकर्म, यह सूत्रधार के समान है । २९. जिस के उदय से जीवों को त्रस रूप की प्राप्ति होवे, अर्थात् उष्णादि करके तप्त हुए विवक्षित स्थान से छायादिक में जाना, और दो इन्द्रियादिक पर्याय का फल भोगना, आदि प्राप्त करे सो त्रस नाम कर्म । ३०. जिस के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूल शरीर वाला होना है, सो बादर नामकर्म । ३१. जिस कर्म के उदय

से जीव पीछे कही हुई छे पर्याप्ति पूर्ण करता है, सो पर्याप्त नामकर्म। ३२. जिस के उदय से प्रत्येक—एक एक जीव के एक एक शरीर होता है, सो प्रत्येक नामकर्म। ३३. जिस के उदय से जीव के हाड़ आदि अवयव स्थिर निश्चल होते हैं, सो स्थिर नामकर्म। ३४. जिस के उदय से जीव के शिर प्रमुख अवयव शुभ होते हैं, सो शुभ नामकर्म। ३५. जिस के उदय से जीव सौभाग्यवान् होता है, सो सुभग नामकर्म। ३६. जिस के उदय से जीव का स्वर कोकिलावत् रमणीक होवे, सो सुस्वर नामकर्म। ३७. जिस के उदय से जीव का उपादेय वचन होवे—जो कुछ कहे, सो हो जावे, सो आदेय नामकर्म। ३८. जिस के उदय से जीव की विशिष्ट कीर्त्ति-यश जगत् में विस्तरे—फैले, सो यशोनामकर्म। ३९. जिस के उदय से जीव की चौसठ इन्द्र पूजा करते हैं, अरु उपदेश द्वारा धर्म तीर्थ का कर्त्ता होवे, सो तीर्थंकर नामकर्म। ४०. तिर्यंचों का आयु। ४१. मनुष्यायु। ४२. देवायु। आयु उस को कहते हैं, कि जिस के उदय से जीव तिर्यंचादि भव में जाता है। जिस से यह पूर्वोक्त तीन आयु की जीव को प्राप्ति होती है, सो तीन आयु की प्रकृति जाननी। यह बैतालीस प्रकार करके पुण्य का फल भोगने में आता है।

४. अथ चौथा पापतत्त्व लिखते हैं। पाप उस को कहते हैं, कि जो आत्मा के आनंद रस को पीवे, अर्थात् नाश करे। यह पाप जो है, सो पुण्य से विपरीत, नरकादि फल का

प्रवर्त्तक होने से अशुभ है, आत्मा के साथ संबद्ध कर्म पुद्गल रूप है।

यद्यपि बंधतत्त्व के अंतर्भूत ही पुण्य पाप है, तो भी न्यारे जो कहे हैं, सो पुण्य पाप के विषे नानाविध परमत भेद के निरासार्थ है। सो परमत यह हैं। कोई एक मत वालों का यह कहना है, कि एक पुण्य ही है, पाप नहीं। तथा कोई एक मत वाले कहते हैं, कि एक पाप ही है, पुण्य नहीं। तथा कोई एक कहते हैं कि पाप पुण्य दोनों आपस में अनुविद्ध स्वरूप हैं, मेचक मणि सरीखे, मिश्र सुख दुःख फल के हेतु हैं। इस वास्ते साधारण रूप से पुण्य पाप एक ही वस्तु है। कोई एक ऐसे कहते हैं कि मूल से कर्म नहीं है, सर्व जगत् में स्वभाव से ही विचित्रता सिद्ध है। यह सर्व पूर्वोक्त मत मिथ्या हैं, क्योंकि सुख दुःख दोनों न्यारे न्यारे अनुभव में आते हैं। तिस वास्ते तिन के कारणभूत पुण्य पाप भी स्वतन्त्र ही अंगीकार करने योग्य हैं, अकेला पाप वा अकेला पुण्य वा मिश्रित मानने ठीक नहीं।

तथा जो कर्माभाववादी नास्तिक अरु वेदांतिक कहते हैं, कि पुण्य पाप जो हैं, सो आकाश के फूल सदृश असत् जानने; सत् नहीं। तो फिर पुण्य पाप के फल भोगने के स्थान—नरक स्वर्ग क्योंकर माने जावें?

पुण्य पाप के अभाव से सुख दुःख निर्हेतुक उत्पन्न होने चाहियें, सो तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। सोई

पुण्य और पाप की सिद्धि

दिखाते हैं। सब में मनुष्यपना सदृश है, तो भी कोई स्वामी है, कोई दास है; कोई अपना ही नहीं किन्तु औरों का भी उदर भरते हैं, कोई अपना ही उदर नहीं भर सकते हैं। कोई देवता की नरे निरन्तर सुख भोग रहे हैं। इस वास्ते अनुभूयमान सुख दुःखों के निबंधन-कारण भूत पुण्य पाप ज़रूर मानने चाहियें। जब पुण्य पाप माने, तब तिनों के उत्कृष्ट फल भोगने के स्थान जो नरक स्वर्ग हैं, सो भी माने गये। जेकर न मानोगे, तब अर्द्ध जरतीय न्याय का प्रसंग होवेगा—आधा शरीर बूढ़ा, आधा जुवान। इस में यह प्रयोग अर्थात् अनुमान भी है—सुख दुःख कारणपूर्वक हैं, अंकुरवत् कार्य होने से। ये पुण्य पाप सुख दुःख के कारण हैं, इस वास्ते मानने चाहियें। जैसे अंकुर का बीज कारण है।

प्रतिवादीः—नीलादिक जो मूर्त्त पदार्थ हैं, वे नीलादिक जैसे स्वप्रतिभासी अमूर्त्त ज्ञान के कारण हैं। ऐसे ही अन्न, फूल, माला, चन्दन, स्त्री आदिक मूर्त्त-दृश्यमान ही अमूर्त्त सुख के कारण होवेंगे, तथा सर्प, विष और कंडे आदिक दुःख के कारण हैं। तो फिर अदृष्ट पुण्य पाप की कल्पना काहे को करते हो?

सिद्धांतीः—यह तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि इस कहने में व्यभिचार है। तथाहि—दो पुरुषों के पास तुल्य साधन भी हैं, तो भी फल में बड़ा भेद दिखता है। तुल्य

अन्नादिक भोगने में भी किसी को आह्लाद अर्थात् हर्ष दिखता है अरु दूसरे को रोगोत्पत्ति देखते हैं । यह फलभेद अवश्य सकारण है, नहीं तो नित्य सत्, नित्य असत् होना चाहिये । क्योंकि जो वस्तु-कार्य कदे होवे, कदे न होवे सो कारण के बिना नहीं होता है । अथवा कारणानुमान से पुण्य पाप जाने जाते हैं । तहां कारणानुमान यह है—दानादि शुभक्रिया अरु हिंसादि अशुभ क्रिया का कोई फलभूत कार्य है, इनके कारण रूप होने से, कृष्यादि क्रियावत् । जो इन क्रियायों का फलभूत कार्य है, सो पुण्य पाप जानना । जैसे कि खेती करनेवाले की क्रिया का फल शालि, यव, और गेहूं आदिक हैं ।

प्रतिवादीः—जैसे कृष्यादि क्रिया का दृष्ट फल शाल्यादिक है, तैसे दानादिक और पशु हिंसादिक क्रिया का भी श्लाघा और निन्दा [यह दानी धर्मात्मा दयालु है, वह मांसभक्षी निर्दय है] आदि दृष्ट फल ही है । तो फिर काहे को धर्माधर्म का अदृष्ट फल कल्पना करना ? क्योंकि लोक जो हैं, सो बहुलता करके दृष्ट फल में ही प्रवृत्त होते हैं । इसी वास्ते खेती वाणिज्यादि हिंसादि क्रिया में बहुत लोग प्रवृत्त होते हैं, अरु अदृष्ट फल वाली दानादि क्रिया में थोड़े लोक प्रवृत्त होते हैं । इस वास्ते कृषि हिंसादि अशुभ क्रियायों का अदृष्टफल पापरूप हम नहीं मानते ।

सिद्धान्तीः—जेकर तुमारा कहना ठीक होवे, तब तो परभव में फल के अभाव से मरण के अनंतर ही सर्व जीव

विना यत्न के मोक्ष हो जावेंगे, और प्रायः संसार शून्य हो जावेगा। तब संसार में दुःखी कोई भी न होवेगा। दानादि शुभ क्रिया के करने वाले तथा तिस का शुभ फल भोगने वाले ही रहने चाहिये। परन्तु संसार में दुःखी बहुत दीखते हैं, अरु सुखी थोड़े दीखते हैं। इस से जाना जाता है कि जो कृषि, वाणिज्य, हिंसादिक्रिया निबंधन अदृष्ट पाप का फल दुःखी जीवों को है, अरु सुखी जीवों को दानादि निबन्धन अदृष्ट धर्म का फल है।

प्रतिवादीः—जो सुखी है, वो हिंसादि क्रिया से है, अरु जो दुःखी है, वो धर्म दानादिक के फल से है, ऐसे क्यों न माना जावे ?

सिद्धांतीः—ऐसे नहीं होता, क्योंकि अशुभ क्रिया–हिंसादि के करने वाले ही संसार में बहुत हैं, अरु शुभ क्रिया दानादिक के करने वाले थोड़े हैं। यह कारणानुमान है। अथ कार्यानुमान कहते हैं—जीवो में आत्मत्व के अविशेष होने पर भी नर पशु आदि के शरीरों के कार्यरूप होने से उन की विचित्रता का कोई कारण है; जैसे घट का दण्ड, चक्र, चीवरादि सामग्री संयुक्त कुम्भकार। तथा ऐसे भी मत कहना कि दृष्ट माता पिता ही इस देह के कारण हैं, न कि पुण्य पाप। क्योंकि माता पिता एक सरीखे भी हैं, तो भी पुत्रों के शरीर में विचित्रता देखते हैं, सो विचित्रता अदृष्ट-शुभाशुभ कर्म के विना नहीं हो सकती। इस वास्ते जो शुभ

देह है, सो पुण्य का कार्य है, अरु जो अशुभ देह है, सो पाप का कार्य है; यह कार्यानुमान है। और सर्वज्ञ के वचन प्रमाण से तो पुण्य पाप की सत्ता सिद्ध ही है। विशेषार्थ के वास्ते विशेषावश्यक की टीका देख लेनी।

पाप अठारह प्रकार से बंधाता है, और ब्यासी प्रकार से भोगने में आता है। यथा—पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय, नव दर्शनावरण, मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृति, नामकर्म की चौतीस प्रकृति, एक असातावेदनीय, एक नरकायु, एक नीचगोत्र, यह सब मिल कर ब्यासी भेद होते हैं। अब इन का विवरण लिखते हैं:—

ज्ञानावरण कर्म की पांच प्रकृति—प्रथम * ज्ञान पांच

* मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ।

[तत्त्वा० अ० १ सू० ९]

१. जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मन से होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

२. जो ज्ञान मतिपूर्वक है, और जिस में शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना रहती है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है।

इन दोनों ज्ञानों की समानता इस अंश में है, कि वे अपनी उत्पत्ति में इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु इन का भेद यह है कि मतिज्ञान शब्दोल्लेख रहित और श्रुतज्ञान शब्दोल्लेख सहित होता है। इन के सूक्ष्म विवेचन के लिये देखो पं. सुखलाल जी की बनाई हुई तत्त्वार्थ सूत्र की गुजराती व्याख्या।

पंच ज्ञानावरण

प्रकार का है। उस में मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान, ए दोनों अभिलाप-प्लावितार्थ-ग्रहणरूप ज्ञान हैं। तीसरा इन्द्रियों की अपेक्षा के विना आत्मा को साक्षात् अर्थ का ग्रहण कराने वाला ज्ञान, अवधि-ज्ञान चौथा मन में चिन्तित अर्थ का साक्षात् करने वाला ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, तथा पांचमा केवल-संपूर्ण निष्कलंक जो ज्ञान, सो केवल ज्ञान है। इन पांचों ज्ञानों का जो आव-रण सो ज्ञानावरण है। यथा—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। १. जिस के उदय से जीव निर्मति निष्प्रतिभ होता है, सो मतिज्ञानावरण, २. जिसके उदय से पठन करते भी जीव को कुछ न आवे, सो श्रुतज्ञानावरण, ३. जिस के उदय से अवधि ज्ञान न होवे, सो अवधिज्ञानावरण, ४. जिस के उदय से मनःपर्यवज्ञान न होवे, सो मनःपर्यवज्ञानावरण, ५. जिस के उदय से केवलज्ञान न होवे, सो केवलज्ञानावरण। यह पांच प्रकृति पापरुप हैं।

---

३. इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये विना, मर्यादा पूर्वक जिस से रूपी द्रव्य का ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४. इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये विना, मर्यादा पूर्वक जो सज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता है, वह मनःपर्याय (पर्यव) ज्ञान है।

५. जिस के द्वारा संसार के त्रिकालवर्ती सभी पदार्थ सर्वथा एक साथ जाने जाते हैं, वह केवलज्ञान होता है।

पञ्च अन्तराय

अथ अन्तराय कर्म की पांच प्रकृति कहते हैं। १. जिस के उदय से, देने वाली वस्तु भी है, गुणवान् पात्र भी है, दान का फल भी ज्ञात है, परन्तु दान नहीं दे सकता, सो दानांतराय। २. जिस के उदय से, देने योग्य वस्तु भी है, अरु दाता भी बहुत प्रसिद्ध है, तथा मांगने वाला भी मांगने में बड़ा कुशल है, तो भी मांगने वाले को कुछ भी न मिले, सो लाभांतराय। ३. जिस के उदय से, एक वार भोगने योग्य वस्तु जो आहारादिक, सो विद्यमान भी हैं, तो भी भोग नहीं सकता, सो भोगान्तराय। ४. जिस के उदय से, वारंवार भोगने योग्य वस्तु जो शयन अंगनादि, सो विद्यमान भी है, तो भी भोग नहीं सकता, सो उपभोगांतराय। ५. जिस के उदय से अनुपहत पुष्टांगवाला भी शक्ति विकल हो जाता है, सो वीर्यांतराय। यह पांच प्रकृति भी पापरूप हैं।

नव दर्शनावरण

अथ दर्शनावरण कर्म की नव प्रकृति लिखते हैं। जो सामान्य बोध है, तिस का नाम दर्शन है, अरु जो विशेष बोध है, सो ज्ञान है। तहां ज्ञान का जो आवरण, सो ज्ञानावरण। सो पूर्व लिख आये हैं। अरु जो दर्शन का आवरण है, सो दर्शनावरण। इस के नव भेद हैं। तिन में जो आदि के चार भेद हैं, सो मूल से ही दर्शनलब्धियों के आवरक होने से आवरण शब्द करके कहे जाते हैं। जैसे १. चक्षुर्दर्शनावरण, २. अचक्षुर्द-

र्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण ४. केवल दर्शनावरण। अरु निद्रा आदि जो पांच हैं, सोदर्शनावरण के क्षयोपशम करके लब्धात्मलाभ दर्शन लब्धियों का आवरक है। इस का भावार्थ यह है, कि चक्षु करके सामान्यग्राही जो बोध, सो चक्षुर्दर्शन, सो जिस के उदय करके तिस की लब्धि का विघात होवे, सो चक्षुर्दर्शनावरण। ऐसे ही अचक्षु करके-चक्षु को वर्ज के शेष चार इन्द्रिय तथा पांचमा मन, इन करके जो दर्शन, सो अचक्षुर्दर्शन, तिस का जो आवरण, सो अचक्षुर्दर्शनावरण। तथा रूपी पदार्थों का जो मर्यादा-पूर्वक देखना-सामान्यार्थका ग्रहण करना, सो अवधिदर्शन; तिस का जो आवरण, सो अवधिदर्शनावरण। तथा वर-प्रधान ज्ञायक होने से केवल, अनंत ज्ञेयके होने से जो अनंत दर्शन, सो केवलदर्शन, तिस का जो आवरण, सो केवल-दर्शनावरण। अरु जो चैतन्य का सर्व ओर से अति कुत्सित-पना करे, सो निद्रा। अर्थात् दर्शन उपयोग-सामान्य ग्रहण रूप, तिस का विघ्न करने वाली, सो निद्रा जाननी। तिस निद्रा के पांच भेद हैं। १. निद्रा, २. निद्रा निद्रा, ३. प्रचला, ४. प्रचलाप्रचला, ५. स्त्यानर्द्धि। तहां १. निद्रा उस को कहते हैं, कि जो चपटी-चुटकी बजाने से जाग उठे, सो सुखप्रतिबोध निद्रा। जिस के उदय से ऐसी निद्रा आवे तिस का नाम निद्रा है। तथा २. अतिशय करके जो निद्रा होवे, उस का नाम निद्रानिद्रा है, जैसे कि बहुत हलाने से

जागे, कपड़े खैंचने से जागे। जिस के उदय से ऐसी निद्रा आवे, तिस कर्म प्रकृति का नाम निद्रानिद्रा है। तथा ३. बैठे को, खडे को जो निद्रा आवे, तिस का नाम प्रचला है। जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आवे, तिस कर्म का नाम प्रचला है। तथा ४. जो चलते को निद्रा आवे, तिस का नाम प्रचलाप्रचला है। जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आवे, तिस कर्म की प्रकृति का नाम भी प्रचलाप्रचला है। तथा ५. स्त्यान नाम है पिंडीभूत का। सो पिंडीभूत है ऋद्धि-आत्मा की शक्ति जिस निद्रा में सो स्त्यानर्द्धि। तिस नींद में वासुदेव के बल से आधा बल होता है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे, तिस का नाम स्त्यानर्द्धिकर्म है। इस निद्रा में कितनेक कार्य भी कर लेता है। परन्तु उस को कुछ खबर नहीं रहती है।

मोहकर्म की २६ पाप प्रकृति

अथ मोहकर्म की प्रकृति लिखते हैं। मोहे-तत्त्वार्थ श्रद्धानको विपरीत करे, सो मोहनीय है। उस में मिथ्यात्वरूप जो मोह, सो मिथ्यात्व-मोहनीय कहिये। मोहकर्म की उत्तर-प्रकृति मिथ्यात्व है। यद्यपि यह मिथ्यात्व अभिग्रहिक, अनभिग्रहिक, सांशयिक, अभिनिवेशिक, और अनाभोगादि अनेक प्रकार से है; तो भी यथावस्थित वस्तुतत्त्व के अश्रद्धान से सर्व भेदों को एक ही मिथ्यात्व रूप में गिना जाता है। यह प्रथम मिथ्यात्व मोह कर्म की प्रकृति है।

अरु कषायमोहनीय के सोलां भेद हैं । क्योंकि यह क्रोधादिक भी तत्त्वश्रद्धान से भ्रष्ट कर देते हैं। सो सोलां भेद इस प्रकार से हैं। १. अनंतानुबंधी क्रोध, २. अनंतानुबंधी मान, ३. अनंतानुबंधी माया, ४. अनंतानुबंधी लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसे ही प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसे ही संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । यह सर्व सोलह भेद कषायमोहनीय के हैं।

ये क्रोधादिक अनंत संसार के मूल कारण हैं । अनंतानुबंधी क्रोध का स्वभाव ऐसा है, कि जैसी पत्थर की रेखा। तात्पर्य कि जिस के साथ क्लेश हो जावे, फिर जहां लगि जीवे, तहां लगि रोष न छोड़े, सो अनंतानुबंधी क्रोध है। तथा मान पत्थर के स्तंभ सरीखा, कदापि नमे नहीं। तथा माया बांस की जड समान—कदापि सरल न होवे। तथा लोभ, कृमि के रंग के समान—कदापि दूर न होवे। इस प्रकार क्रोध, मान, माया, अरु लोभ करके युक्त जो परिणाम है तिस का नाम अनंतानुबंधी क्रोधादिक कर्म प्रकृति है। तथा अप्रत्याख्यान यहां नञ् अल्पार्थ का सूचक है, सो थोड़ा भी प्रत्याख्यान, जिस के उदय होने से नहीं होता है, उस को अप्रत्याख्यान कहते हैं । अब इस का स्वरूप कहते हैं । क्रोध पृथ्वी की रेखा समान, मान हाड़ के स्तंभ समान, माया मेष के सींग समान, लोभ कर्दम के दाग

समान है, और एक वर्ष तक रहता है। तथा जिस के उदय से जीव को सर्व विरतिपना न आवे, सो प्रत्याख्यानावरण कषाय है। उस में क्रोध रेणु की रेखा समान, मान काष्ठ के स्तंभ समान, माया गौ के मूत्र के समान, लोभ खंजन के रंग समान है। इस की चार मास तक रहने की स्थिति है। संज्वलन रूप जो चार कषाय हैं उन में क्रोध, पानी की लकीर के समान, मान तिनिसलता के स्तम्भ समान, माया बांस की छिल्ल के समान, लोभ हरिद्रा के रंग के समान है। यह चारों एक पक्ष की स्थिति वाले हैं। यह सोलां कषाय का स्वरूप लिखा। अथ नव नोकषाय कहते हैं:—

नव नोकषाय

स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, यह नव नोकषाय मोहनीय की प्रकृति है। नो शब्द सहकारी अर्थ में है। कषायों के सहचारी जो होवें, उन को नोकषाय कहते हैं। अब इन नव प्रकृति का स्वरूप लिखते हैं:—१. जिस के उदय से स्त्री पुरुष की अभिलाषा करती है, सो स्त्रीवेद, जैसे पित्त के उदय से मीठी वस्तु की अभिलाषा होती है। फुंफक अग्नि के समान स्त्रीवेद का उदय है। जैसे फुंफक अग्नि फोलने से वृद्धिमान् होती है, ऐसे ही स्त्री के स्तन कक्षादि के स्पर्श करने से स्त्रीवेद का प्रबल उदय होता है। २. तथा जिस के उदय से पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है, सो पुरुषवेद जानना। जैसे कफ

के उदय से खट्टी वस्तु की अभिलाषा होती है । यह पुरुष वेद का विकार ऐसा है, कि जैसी तृण की अग्नि। क्योंकि तृण की अग्नि एक बार ही प्रज्वलित होती है, अरु तत्काल शांत भी हो जाती है । ऐसे पुरुषवेद भी एक बार ही तत्काल उदय हो जाता है, फिर शांत भी तत्काल ही हो जाता है । ३. तथा जिस के उदय से स्त्री अरु पुरुष दोनों की अभिलाषा उत्पन्न होवे, सो नपुंसकवेद है। जैसे पित्त अरु कफ के उदय से खट्टी मीठी वस्तु की अभिलाषा होती है। इस नपुंसकवेद का उदय ऐसा है, कि जैसे मोटे नगर के दाह की अग्नि । यह तीन वेद हैं । ४. तथा जिस के उदय से सनिमित्त और निर्निमित्त हसना आवे, सो हास्यनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ५. तथा जिस के उदय से रमणीक वस्तुओं में रमे—खुशी माने, सो रतिनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ६. तथा इस से जो विपरीत होवे, सो अरतिनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ७. तथा जिस के उदय करके प्रियवियोगादि में विकल हुआ मन शोच, क्रंदन, और परिदेवन आदि करता है, सो शोकनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ८. तथा जिस के उदय से सनिमित्त अथवा विना निमित्त के भयभीत होवे, सो भयनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ९. तथा गंद आदि मलिन वस्तु के देखने से जो नाक चढ़ाना, तिस का जो हेतु है, सो जुगुप्सानामा मोहकर्म की प्रकृति है। यह नव नोकषाय मोहकर्म की प्रकृति हैं।

नामकर्म की ३४ पाप प्रकृति

अथ नामकर्म की चौतीस प्रकृति पाप रूप हैं। उन का नाम कहते हैं। नरक गति, तिर्यंचगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेंद्रिय जाति, द्वींद्रिय जाति, त्रींद्रियजाति, चतुरिंद्रिय जाति, पांच संहनन, पांच संस्थान, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्तगंध, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त स्पर्श, उपघात, कुविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, असुभग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति।

इन का स्वरूप इस प्रकार है:—१. नरकगति उस को कहते हैं कि जिस के उदय से नारकी नाम पड़े, अरु जो नरकगति में ले जावे। २. ऐसे ही तिर्यंचगति भी जान लेनी। तथा ३. जिस के उदय से नरकगति में जाते हुये जीव को दो समयादि विग्रहगति करके अनुश्रेणी में नियत गमन परिणति होवे, सो नरकगति के सहचारी होने से नरकानुपूर्वी कहिये। ४. ऐसे ही तिर्यंचानुपूर्वी भी जान लेनी। तथा ५. जिस के उदय से एकेंद्रिय जो पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, वनस्पति, इन में जीव उत्पन्न होता है, सो एकेंद्रिय जाति। ६. ऐसे ही द्वींद्रिय जाति, ७. त्रींद्रिय जाति, ८. चतुरिंद्रिय जाति जान लेनी।

तथा आद्य संहनन को वर्ज के शेष ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका, सेवार्त्त, यह पांचों संहननों के नाम हैं। इन का स्वरूप ऐसा है, कि "ऋषभः—परिवेष्टनपट्टः, नाराच

उभयतो मर्कटबंधः" दोनों हाड़ों को दोनों पासे मर्कटबंध से बांध के पट्टे की आकृति के समान हाड़ की पट्टी पर जिस का वेष्टन है, सो दूसरा ऋषभनाराच संहनन है। तथा वज्र ऋषभ करके हीन दोनों पासे मर्कटबंध युक्त तीसरा नाराच नामक संहनन है। तथा एक पासे मर्कटबंध अरु दूसरे पासे कीलिका करके बींधा हुआ हाड़, यह चौथा अर्धनाराचनामा संहनन है। तथा ऋषभ अरु नाराच, इन करके वर्जित, मात्र कीलिका करके बींधे हुये दोनों हाड़, ऐसा जो हाड का संचय, सो चौथा कीलिका नामा संहनन है। दोनों हाड़ों का स्पर्श पर्यंत लक्षण है जिस में तथा मूठी चांपी कराने में आर्त्त—पीडित, सो सेवार्त्त नामा संहनन है।

तथा आद्य संस्थान को वर्ज के १. न्यग्रोध परिमंडल, २. सादि ३. वामन ४. कुब्ज, ५. हुंडक; यह पांच संस्थान हैं। इन का स्वरूप नीचे लिखते हैं, तहां १. न्यग्रोधवत्—बड़वृक्ष की तरें परिमंडल, न्यग्रोधपरिमण्डल है, जैसे बड़वृक्ष ऊपर से सम्पूर्ण अवयववाला होता है, तैसे नीचे नहीं होता है। ऐसे ही यह संस्थान नाभि के ऊपर तो विस्तार बाहुल्य, संपूर्ण लक्षणवाला होता है, अरु नाभि के नीचे सम्पूर्ण लक्षण नहीं, सो न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। २. सादि, जिस में नाभि से नीचे का देह का विभाग तो लक्षणों करके पूर्ण, अरु नाभि से ऊपर का भाग लक्षण में विसंवादी होवे, तिस का नाम सादिसंस्थान है। ३. हाथ, पग, शिर,

ग्रीवा यथोक्त लक्षणादि युक्त हों, अरु शेष उदरादिरूप कोष्ठ शरीरमध्य लक्षणादि रहित हो सो वामननामा संस्थान है। ४. उर-उदर आदि तो लक्षण युक्त होवें, अरु हाथ पग आदि लक्षणों से रहित होवें, सो कुब्जसंस्थान है। ५. जिस के शरीर का एक अवयव भी सुन्दर न होवे, सो हुंडसंस्थान जान लेना यह पांच संस्थान हैं।

२२. जिस के उदय से वर्णादि चारों अप्रशस्त होवे हैं, सो कहते हैं। जो अति बीभत्स दर्शन, कृष्णादि वर्ण वाला प्राणी होता है, सो अप्रशस्त वर्णनाम। सो वर्ण कृष्णादि भेदों करके पांच प्रकार का है। ऐसे ही जिस के उदय से प्राणियों के शरीर में कुथित मृतमूषकादिवत् दुर्गंधता होवे, सो अप्रशस्तगंधनाम। तथा जिस के उदय से प्राणियों की देह में रसनेंद्रिय का दुःखदायी और कौड़ी तोरी की तरें तिक्त कडुवादि असार रस होवे, सो अप्रशस्तरसनाम। तथा जिस के वश से स्पर्शेंद्रिय को उपताप का हेतु, ऐसा कर्कशादि स्पर्शविशेष, जीवों के देह में होवे, सो अप्रशस्त-स्पर्शनाम।

२३. तथा जिस के उदय से अपने ही शरीर के अवयवों करके प्रतिजिह्वा, गल, वृंद, लंबक, और चोर दांत आदिक शरीर के अंदर वर्द्धमान हो कर शरीर ही को पीड़ा देते हैं, सो उपघातनाम है। तथा २४. जिस के उदय से जीवों का खर ऊंट आदिक की तरें चलना अप्रशस्त होवे, सो कुवि-

हायोगतिनाम। तथा २५. जिस के उदय से पृथिवी आदिक एकेंद्रिय स्थावरकाय में प्राणी उत्पन्न होता है, अरु स्थावर नाम से कहा जाता है, सो स्थावर नाम। २६. जिस के प्रभाव से लोकव्यापी सूक्ष्म पृथ्वी आदि जीवों में जीव उत्पन्न होता है, सो सूक्ष्म नाम। २७. जिसके उदय से आहार पर्याप्ति आदिक पूर्वोक्त पर्याप्तियें पूरी न होवें, सो अपर्याप्त नाम। २८. जिस के उदय से अनन्त जीवों का साधारण-एक शरीर होवे, सो साधारण नाम। २९. जिसके उदय से जिह्वादि अवयव, शरीर में अस्थिर होवें, सो अस्थिर नाम। ३०. जिस के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होवें, सो अशुभ नाम। उस का किसी को हाथ लग जावे, तो वह रोष नहीं करता, परन्तु पग लगने से क्रोध करता है, इस वास्ते अशुभनाम है। ३१. जिस के उदय से जीव को जो २ देखे, तिस २ को वो जीव अनिष्ट लगे—उद्वेगकारी होवे, सो असुभगनाम। ३२. जिस के उदय से कठोर, भिन्न, हीन, दीन स्वर वाला जीव होवे, सो दुःस्वर नाम। ३३. जिस के उदय से चाहे युक्ति युक्त भी बोले, तो भी तिस का कहना कोई न माने, सो अनादेय नाम। ३४. जिस के उदय से जीव, ज्ञान विज्ञान दानादिक गुण युक्त भी है, तो भी जगत् में उस की यश-कीर्ति नहीं होती बल्कि उलटी निंदा होती है, सो अयशःकीर्ति नाम। यह नाम कर्म की चौंतीस पाप प्रकृति कही हैं।

गोत्र वाले ऊंच गोत्र वालों के सदृश नहीं हो सकते हैं।

जे कर कहो कि विलायत में सर्व एक सरीखे हैं, तो इस बात में क्या आश्चर्य है ? जहां ऊंच नीच पना नहीं, तहां सर्व जीवों ने एक सरीखा गोत्र कर्म का बंध करा है, इस वास्ते ही सर्व सरीखे हुये हैं। परंतु जहां ऊंच नीचपना माना जायगा, तहां अवश्यमेव ऊंच नीच गोत्र का व्यवहार होवेगा। अरु जो हीन जातियों को बुरे जानते हैं, सो बुद्धि-मान् नहीं, क्योंकि बुराई तो खोटे कर्मों के करने से होती है। जे कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो कर खोटे कर्म—जीव हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, परनिंदा, विश्वासघात, कृतघ्नता, मांसभक्षण, मदिरापान, इत्यादिक कुकर्म करेगा, हम उन को ज़रूर बुरा मानेंगे। अरु जो नीच जातिवाला है, सो भी जे कर सुकर्म करेगा—दया, सत्य, चोरी का त्याग, परस्त्री का त्याग, इत्यादिक करेगा, तो हम अवश्य उस को अच्छा कहेंगे। तो फिर हमारी समझ किस रीति से बुरी है ? अरु जो उस के साथ खाते नहीं है, यह कुल रूढि है। अरु जो नीच जाति वालों की निंदा—जुगुप्सा करते हैं, वे अज्ञानी हैं। निंदा जुगुप्सा तो किसी की भी न करनी चाहिये। अरु जो तिन की छूत मानते हैं, वो भी कुल रूढि है। जैसे माता, बहिन, बेटी, भार्या, यह सब स्त्रीत्व रूप करके समान हैं, तो भी इन में जैसे गम्य और अगम्य का विभाग है, तैसे ही जो मनुष्यत्व धर्म करके समान हैं, उन में भी ऊंच नीच

का भी विभाग है । यह व्यवहार ब्राह्मण अरु जैनों ने ही नहीं बनाया, किंतु यह अच्छे बुरे कर्मों के उदय से है । यह परस्पर जाति का आहार न खाने का व्यवहार मिश्रदेश में भी था । इस वास्ते ऊंच नीच जाति होती है ।

तथा आयु कर्म में से नरकायु की प्रकृति पाप में गिनी जाती है, नरक शब्द की व्युत्पत्ति ऐसे है:—

नरान् प्रकृष्टपापफलभोगाय गुरुपापकारिणः प्राणिनो नरानित्युपलक्षणत्वात कायंति शब्दयंतीति नरकास्तेष्वायुस्तद्भवप्रायोग्यसकलकर्मप्रकृतिविपाकानुभवकारणं प्राणधारणं यत्तन्नरकायुष्कं तद्विपाकवेद्यकर्मप्रकृतिरपि नरकायुष्कमिति ।

तथा वेदनीय कर्म की असातावेदनीय पाप प्रकृति में गिनी जाती है । असाता नाम दुःख का है, जिस के उदय से जीव दुःख भोगता है, तिस का नाम असातावेदनीय है ।

यह ज्ञानावरणीय पांच, अंतराय पांच, दर्शनावरणीय नव, मोहनीय छब्बीस, नाम कर्म की चौतीस, नीच गोत्र एक, तथा असातावेदनीय एक, सब मिल कर ब्यासी प्रकार से पाप फल भोगने में आता है ।

अथ आश्रवतत्त्व लिखते हैं । मिथ्यात्वादि आश्रव के हेतु

आश्रव तत्त्व का स्वरूप

हैं। असत् देव, असत् गुरु, असत् धर्म, इन के विषे सत् देव, सत् गुरु, अरु सत् धर्म ऐसी जो रुचि, तिस का नाम मिथ्यात्व है। तथा हिंसादिक से निवृत्त न होना, तिस का नाम अविरति है। तथा प्रमाद—मद्यादि, कषाय—क्रोधादि अरु योग—मन वचन काया का व्यापार, ये मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय अरु योगरूप पांच पुनर्बंधक जीव के ज्ञानावरणीयादिक कर्मों के बंध के हेतु हैं। इस को जैन मत में आश्रव कहते हैं। जिन से कर्मों का आश्रवण—आगमन होवे, सो आश्रव, तात्पर्य कि मिथ्यात्वादि विषयक मन, वचन, काया का व्यापार ही शुभाशुभ कर्मबंध का हेतु होने से आश्रव है।

प्रश्नः—बंध के अभाव में आश्रव की उत्पत्ति कैसे होगी? जे कर कहो कि आश्रव से पहिला बन्ध है, तब तो वो बन्ध भी आश्रव हेतु के विना नहीं हो सकता, क्योंकि जो जिस का हेतु है, सो तिस के अभाव में नहीं हो सकता। जेकर होवेगा, तब तो अतिप्रसंग दूषण आजावेगा अर्थात् कारण के बिना कार्य उत्पत्ति का प्रसंग होगा।

उत्तरः—यह कहना असत् है, क्योंकि आश्रव को पूर्वबंधापेक्षया कार्यपना है, और उत्तरबंधापेक्षया कारणत्व है, ऐसे ही बंध को भी पूर्वोत्तर आश्रव की अपेक्षा करके बीजांकुर की तरे कार्यत्व और कारणत्व जानना। अतः बंध आश्रव

दोनों में परस्पर कार्य कारण भाव का नियम है। इस वास्ते यहां पर इतरेतर दूषण नहीं है, प्रवाह की अपेक्षा करके यह अनादि है।

यह आश्रव पुण्य और पाप बंध का हेतु होने से दो प्रकार का है। यह दोनों भेदों के मिथ्यात्वादि उत्तर भेदों के उत्कर्षापकर्ष, अर्थात् अधिक न्यून होने से अनेक प्रकार हैं। इस शुभाशुभ मन वचन काय के व्यापार रूप आश्रव की सिद्धि अपनी आत्मा में स्वसंवेदनादि प्रत्यक्ष से है। दूसरों में वचन के व्यापार की प्रत्यक्ष से सिद्धि है, और शेष की तिस के कार्यप्रभव अनुमान तथा आप्तप्रणीत आगम से जाननी।

आश्रव के उत्तर भेद बैतालीस हैं, सो लिखते हैं। पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पच्चीस क्रिया, तीन योग, यह बैतालीस भेद हैं।

आश्रव के ४२ भेद

जीव रूप तलाव में कर्म रूप पाणी जिस करके आवे, सो आश्रव है। तहां इन्द्रिय पांच हैं, तिनका स्वरूप इस प्रकार है–१. स्पर्श किया जावे स्वविषय–स्पर्श लक्षण जिस करके, सो स्पर्शेनेन्द्रिय, २. "रस्यते आस्वाद्यते रसोऽनयेति" आस्वादित करें—रस लेवें जिस करके, सो रसना 'जिह्वा' इन्द्रिय। ३. सूंघा जावे गंध जिस करके, सो घ्राणेंद्रिय—नासिकेंद्रिय ४. चक्षु—लोचन। ५. सुना जावे शब्द जिस करके, सो श्रोत्रे-

न्द्रिय। यह पांच इन्द्रिय मूल भेद की अपेक्षा से आश्रव के पांच कारण हैं ।

"क्रुद्ध्यति कुप्यति येन"—सचेतन अचेतन वस्तु में जिस करके प्राणी सनिमित्त, निर्निमित्त क्रोध करे, सो क्रोधवेदनीय कर्म है। तिस का उदय भी उपचार से क्रोध है । ऐसे ही मान, माया, अरु लोभ में भी समझ लेना । इस में मानमद आठ प्रकार का है १. जातिमद, २. कुलमद, ३. बलमद, ४. रूपमद, ५. ज्ञानमद, ६. लाभमद, ७. तपोमद, ८. ऐश्वर्यमद। १. जातिमद उस को कहते हैं कि अपनी माता के पक्ष का अभिमान करे, जैसे कि मेरी माता ऐसे बड़े घर की बेटी है, इस तरें अपने आप को ऊंचा माने, अरु दूसरों को निंदे इस का नाम जातिमद है। २. कुलमद है, कि जो अपने पिता के पक्ष का अभिमान करे, जैसे कि मेरे पिता का बड़ा ऊंचा कुल है, इस तरें अपने आप को बड़ा माने, औरों को निंदे; तिस का नाम कुलमद है। ३. जो अपने बल का अभिमान करे, अरु दूसरों के बल को निंदे, सो बल मद। ४. जो अपने रूप का अभिमान करे, दूसरों के रूप को निंदे, सो रूपमद । ५. जो अपने आप को बड़ा ज्ञानी जाने, अरु दूसरों को तुच्छमति जाने, सो ज्ञानमद। ६. जो अपने आप को बड़ा नसीबे वाला समझे, अरु दूसरों को हीन पुण्य वाला समझे, सो लाभमद। ७. जो तप करके अभिमान करे कि मेरे समान तपस्वी कोई नहीं, सो तपोमद । ८. जो अपने ऐश्वर्य का

अभिमान करे और दूसरों को तुच्छ समझे, सो ऐश्वर्यमद। इस प्रकार से मान के आठ भेद हैं। तथा तीसरी माया, सो "मयति गच्छति" अर्थात् जिसके प्रभाव से जीव परवंचना के निमित्त विकार को प्राप्त होवे, उस को माया—कपट कहते हैं। तथा जिस करके परधन में गृद्धि होवे, तिस को लोभ कहते हैं। इन चारों को कषाय कहते हैं।

अब पांच अव्रत कहते हैं। तहां पांच इन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, उच्छ्वासनिःश्वास, आयु, यह दस प्राण हैं। इन दस प्राणों के योग से जीव को भी प्राण कहते हैं। तिन प्राणों का जो वध—हनना अर्थात् मारना, सो प्रथम प्राणवध अव्रत जानना। २. झूठ बोलने का नाम मृषावाद है। ३. दूसरों की वस्तु चुरा लेने का नाम अदत्तादान है। ४. स्त्री पुरुष का जो जोड़ा, तिस का नाम मिथुन है, इन दोनों के मिलने का जो कर्म, सो मैथुन—अब्रह्म सेवन। तथा ५. "परिगृह्यते" सर्व ओर से अंगीकार किये जायं चार गति के निबंधन कर्म जिस करके, सो परिग्रह। इन पांचों के चार चार भेद हैं, सो कहते हैं।

हिंसा आदि अव्रत के चार २ भंग

१. एक द्रव्य से हिंसा है, परन्तु भाव से नहीं, २. एक द्रव्य से हिंसा नहीं, परन्तु भाव से है, ३. एक द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा है, ४. एक द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं। यह प्रथम अव्रत के चार भेद कहे। तिस में प्रथम भंग—भेद का

स्वरूप ऐसे है। प्रतिलेखना—साधु की समाचारी करने से, मार्ग में विहार करने से, नदी आदिक के लंघने से, नाव में बैठ कर नदी पार उतरने से, नदी में गिरी हुई साध्वी आदि को काढ़ने से, वर्षा वर्षते हुए शौच जाने से, ग्लान—रोगी की लघुशंका को मेघ वर्षते में गेरने से, गुरु के शरीर में वायु तथा थकेवां दूर करने के निमित्त मूठी चांपी करने से जो हिंसा होती है, सो सर्व द्रव्यहिंसा है। तथा श्रावक को जिनमंदिर बनाने से, जिनपूजा करने से, सधर्मिवत्सल करने से, तीर्थयात्रा में जाने से, रथोत्सव, अट्ठाई महोत्सव, प्रतिष्ठा अरु अंजनशलाका करने से, तथा भगवान् के सन्मुख जाने से, गुरु के सन्मुख जाने से, इत्यादि कर्त्तव्य से जो हिंसा होवे, सो सर्व द्रव्य हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। इस का फल अल्प पाप, अरु बहुत निर्जरा है। यह भगवती सूत्र में लिखा है। यह हिंसा साधु आदिक करते हैं, परन्तु उन का परिणाम उस अवसर में खोटा नहीं है, इस वास्ते द्रव्य हिंसा है।

यज्ञादि में जो जीव मारे जाते हैं, वह भी द्रव्य हिंसा क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर मीमांसक मत खण्डन में लिख आये हैं, सो देख लेना। यह प्रथम भंग।

दूसरे भंग में द्रव्य हिंसा नहीं। परन्तु भाव हिंसा है। तिस का स्वरूप कहते हैं। जो पुरुष ऊपर से तो शांतरूप बना हुआ है, परन्तु उस का परिणाम—अन्तःकरण खोटा

है । वो चाहता है कि मेरे शत्रु के घर में आग लग जावे, मरी पड़ जावे, नदी में डूब जावे, चोरी हो जावे, बंदीखाने में पड़े, तथा वेष बदल के भलामानस बन के ठगबाज़ी करे, तथा अगले का बुरा करने के वास्ते अनेक प्रकार से उस को विश्वास में लावे, तथा फकीरी का वेष करके लोगों से धन एकठा करे, इत्यादि । तथा साधु के गुण तो उस में नहीं हैं, परन्तु लोगों में अपने आपको गुणी प्रकट करे, इत्यादिक कामों में द्रव्य हिंसा तो नहीं करता, परन्तु भाव से तो वो पुरुषहिंसक है, इस का फल अनन्त संसार में भ्रमण करने के सिवाय और कुछ नहीं । यह दूसरा भंग।

तीसरे भंग में प्रकट रूप से इन्द्रियों के विषय में गृद्ध हो कर जीव हिंसा करनी, जैसे कि कसाई, खटिक, वागुरी, अहेडी—शिकारी करते हैं । तथा विश्वासघात करना अरु मन में आनंद मानना, इत्यादि का समावेश है । इस का फल दुर्गति है । यह द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा है । यह तीसरा भंग ।

चौथा भंग द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं । उस को अहिंसा कहना यह भंग शून्य है, इस भंग वाला कोई भी जीव नहीं ।

ऐसे ही झूठ के भी चार भेद हैं । तिन का स्वरूप कहते हैं । साधु रास्ते में चला जाता है, तिस के आगे हो कर एक जंगली गौओं का तथा मृगादि जानवरों का टोला

निकल जावे, तिस के पीछे शिकारी बंदूक प्रमुख शस्त्र लिये चला आता है, उन को मारने के वास्ते वो शिकारी साधु को पूछे कि तुमने अमुक जीव जाते देखे हैं ? तब साधु मौन कर जावे। जे कर मौन करने पर भी पीछा न छोड़े, और साधु को मारे, तब साधु कह देवे, कि मैंने नहीं देखे। यद्यपि यह द्रव्य से झूठ है, परन्तु भाव से झूठ नहीं, क्योंकि जो कोई इंद्रियों की विषय तृप्ति के वास्ते तथा अपने लोभ के वास्ते झूठ बोले, तब भावतः झूठ होवे। परंतु यह तो जीवों की दया के वास्ते झूठ बोला है। अतः वास्तव में यह झूठ नहीं है। इसी तरे और जगे भी समझ लेना। यह प्रथम भंग।

तथा दूसरा भंग कोई पुरुष मुख से तो कुछ नहीं बोलता परन्तु दूसरों के ठगने के वास्ते मन में अनेक विकल्प करता है, यह दूसरा भंग। तथा तीसरे भंग में तो द्रव्य से भी झूठ बोलता है, अरु भाव से भी झूठ बोलता है। तिस का अभिप्राय भी महा छल कपट करने का है। क्योंकि मुख से भी झूठ बोलता है, अरु चित्त में भी दुष्टता है, यह तीसरा भंग, तथा चौथा भंग तो पूर्ववत् शून्य है।

अथ चोरी के यही चार भंग कहते हैं। तहां प्रथम भंग में जैसे कोई स्त्री शीलवती है, और कोई दुष्ट राजा उस का शील भंग करना चाहता है, तब कोई धर्मज्ञ आदि पुरुष रात्रि में अथवा दिन में उस स्त्री के शील की रक्षा के

वास्ते उस को राज से बाहिर ले जावे। तो व्यवहार में उस राजा की उसने आज्ञा भंग रूप चोरी करी है, परन्तु वास्तव में वो चोर नहीं। इसी तरे और जगा में भी जान लेना। यह प्रथम भंग। दूसरे भंग में चोरी तो नहीं करता, परन्तु चोरी करने का मन उस का है, तथा जो भगवान् वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा भंग करने वाला है, सो भी भाव चोर है, यह दूसरा भङ्ग। तथा तीसरे भङ्ग में चोरी भी करता है, अरु मन में भी चोरी करने का भाव है, यह तीसरा भङ्ग है। अरु चौथा भङ्ग तो पूर्ववत् शून्य है।

ऐसे ही मैथुन के चार भङ्ग कहते हैं। जो साधु जल में डूबती साधवीको देख कर काढ़ने के वास्ते पकड़े, तथा धर्मी गृहस्थ छत से गिरती अपनी बहिन बेटी को पकड़े, तथा बावरी होकर दौड़ती हुई को पकड़े। यह द्रव्य से मैथुन है, परन्तु भाव से नहीं, यह प्रथम भङ्ग। तथा द्रव्य से तो मैथुन सेवता नहीं है, परन्तु मैथुन सेवने की अभिलाषा बड़ी करता है, सो भाव से मैथुन है, यह दूसरा भङ्ग। तथा तीसरे भङ्ग में तो द्रव्य अरु भाव दोनों से मैथुन सेवता है। चौथा भङ्ग पूर्ववत् शून्य है।

ऐसे ही परिग्रह के चार भङ्ग कहते हैं। जैसे कोई मुनि कायोत्सर्ग कर रहा है, उस के गले में कोई हारादिक आभूषण गेर—डाल देवे, वो द्रव्य से तो परिग्रह दीखता है, परन्तु भाव से वह परिग्रह नहीं है, यह प्रथम भङ्ग। तथा

दूसरा—द्रव्य से तो उस के पास कौड़ी एक भी नहीं है, परन्तु मन में धन की बड़ी अभिलाषा रखता है, सो भाव परिग्रह है। तथा तीसरे में धन भी पास है, अरु अभिलाषा है, सो द्रव्यभाव करके परिग्रह है। चौथा भङ्ग पूर्ववत् शून्य है। इन सर्व भङ्गों में दूसरा अरु तीसरा भङ्ग निश्चय करके अविरति रूप है। यह पांच प्रकार की अविरति।

पच्चीस क्रियाएं

अब पच्चीस प्रकार की क्रिया का नाम अरु स्वरूप कहते हैं। १. काया करके जो की जावे, सो कायिकी क्रिया। २. आत्मा को नरकादि में जाने का जो अधिकारी बनावे, परोपघात करने से वागुरादि गल कूटपाश करके नरकादि रूप अधिकरण को उत्पन्न करे, सो आधिकरणिकी क्रिया। ३. अधिक जो दोष सो प्रदोष—क्रोधादिक, तिन से जो उत्पन्न होवे, सो प्रादोषिकी क्रिया। ४. जीव को परिताप देने से जो उत्पन्न होवे, सो पारितापनिकी क्रिया। ५. प्राणियों के विनाश करने की जो क्रिया सो प्राणातिपातिकी क्रिया। ६. पृथिवी आदि काया का उपघात करना है लक्षण जिस का, ऐसी जो शुष्क तृणादिच्छेद, लेखनादि क्रिया, सो आरंभिकी क्रिया। ७. विविध उपायों करके धन उपार्जन तथा धन-रक्षण करने में जो मूर्च्छा के परिणाम, उस का नाम परि-ग्रह, तिन में जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो पारिग्रहिकी क्रिया। ८. माया ही है हेतु—प्रत्यय जिस का, मोक्ष के साधनों में

माया प्रधान प्रवृत्ति, सो मायाप्रात्ययिकी क्रिया। ९. मिथ्यात्व ही है प्रत्यय-कारण जिसका सो मिथ्यादर्शनप्रात्ययिकी क्रिया १०. संयम के विघातक कषायों के उदय से प्रत्याख्यान का न करना, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया। ११. रागादि कलुषित भाव से जो जीव अजीव को देखना, सो दर्शन क्रिया। १२. राग, द्वेष, और मोह युक्त चित्तसे जो स्त्री आदिकों के शरीर का स्पर्श करना, सो स्पर्शन क्रिया। १३. प्रथम अंगीकार करे हुये पापोपादान-कारण अधिकरण की अपेक्षा से जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो प्रातीत्यकी क्रिया। १४. समंतात्—सर्व ओर से उपनिपात—आगमन होवे. स्त्री आदिक जीवों का जिस स्थान में (भोजनादिक में) सो समंतोपनिपात, तहां जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो सामंतोपनिपातिकी क्रिया। १५. जो परोपदेशित पाप में चिरकाल प्रवृत्त रहे, उस पाप की जो भाव से अनुमोदना करे, सो नैसृष्टिकी क्रिया। १६. अपने हाथ करके जो करे, जैसे कि कोई पुरुष बड़े अभिमान से क्रोधित हो कर जो काम उस के नौकर कर सकते हैं, उस काम को अपने हाथ से करे, सो स्वाहस्तिकी क्रिया। १७. भगवत् अर्हंत की आज्ञा का उल्लंघन करके अपनी बुद्धि से जीवाजीवादि पदार्थों के प्ररूपण द्वारा जो क्रिया, सो आज्ञापनिकी क्रिया। १८. दूसरों के अन होये खोटे आचरण का प्रकाश करना, उन की पूजा का नाश करना, तिस से जो उत्पन्न होवे, सो वैदारणिकी क्रिया। १९. आभोग नाम

है उपयोग का, तिस से जो विपरीत होवे, सो अनाभोग है, तिस करके उपलक्षित जो क्रिया, सो अनाभोगिकी क्रिया। अर्थात् बिना देखे, बिना पूंजे देश अर्थात् भीत भूम्यादिक में शरीरादिक का निक्षेप करना, सो अनाभोगिकी क्रिया। २०. अपनी और पर की जो अपेक्षा करनी, तिस का नाम अवकांक्षा है, इस से जो विपरीत तिस का नाम, अनवकांक्षा है, सोई है कारण जिस का सो अनवकांक्षप्रात्ययिकी क्रिया। तात्पर्य कि जिनोक्त कर्त्तव्य विधियों में से जो विधि अपने को तथा और जीवों को हितकारी है, तिस विधि का प्रमाद के वश हो कर आदर न करना, सो अनवकांक्षा-प्रात्ययिकी क्रिया है। २१. प्रयोग—दौड़ना चलना आदि काया का व्यापार, अरु हिंसाकारी, कठोर, झूठ बोलना आदि वचन का व्यापार, पराभिद्रोह, ईर्ष्या, अभिमानादि मनोव्यापार, इन तीनों की जो प्रवृत्ति, सो प्रायोगिकी क्रिया। २२. जिस करके विषय का ग्रहण किया जावे, सो समादान—इन्द्रिय, तिसकी जो क्रिया—देश तथा सर्व उपघातरूप व्यापार, सो समादान क्रिया। २३. प्रेम (राग) नाम है माया अरु लोभका, तिन करके जो होवे, सो प्रेमप्रात्ययिकी क्रिया। २४. द्वेष नाम है क्रोध अरु मान का, तिन करके जो होवे, सो द्वेषप्रात्यायिकी क्रिया। २५. चलने से जो क्रिया होवे, सो ईर्यापथिकीक्रिया। यह क्रिया वीतराग को होती है।

अब इन पच्चीस क्रिया का व्याख्यान करते हैं। १. प्रथम

कायिकी क्रिया दो प्रकार की है, एक अनुपरत कायिकी क्रिया, दूसरी अनुपयुक्त कायिकी क्रिया। उस में दुष्ट मिथ्यादृष्टि जीव के मन वचन की अपेक्षा से रहित पर जीवों को पीडाकारी, ऐसा जो काया का उद्यम, सो प्रथम भेद है। तथा प्रमत्त संयत का जो बिना उपयोग के अनेक कर्त्तव्य रूप काया का व्यापार, सो दूसरा भेद। २. दूसरी आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार से है। एक संयोजना, दूसरी निवर्त्तना। उस में विष, गरल, फांसी, धनु, यंत्र, तलवार आदि शस्त्रों का जीवों के मारने वास्ते जो संयोजन अर्थात् मिलाप करना, जैसे धनुष अरु तीर का मिलाप करना, इसी तरें सर्व जानना, यह प्रथम भेद। तथा तलवार, तोमर, शक्ति, तोप, बंदूक, इन का जो नये सिरे से बनाना, यह दूसरा भेद। ३. जिन निमित्तों से क्रोध उत्पन्न होवे, सो निमित्त जीव अजीव भेद से दो प्रकार के हैं। उस में जीव तो प्राणी, अरु अजीव खूंटा, कांटा, पत्थर कंकर आदि, इन के ऊपर द्वेष करे। ४. तथा अपने हाथों करके, अरु पर के हाथों करके, जीव को ताडना-पीडा देनी सो परितापना। इस परितापना के दो भेद हैं, एक तो स्व-अपने आप को पीडा देनी, जैसे पुत्र कलत्रादि के वियोग से दुःखी होकर अपने हाथों से छाती और सिर का कूटना, यह प्रथम भेद। तथा पुत्र शिष्यादि को ताडना—पीटना, यह दूसरा भेद। ५. पांचमी प्राणातिपातिकी क्रिया के दो भेद हैं, एक तो अपने आप का घात करना, जैसे कि

जान बूझ कर पर्वत से गिर कर मर जाना, भर्त्ता के साथ सती होने के वास्ते अग्नि में जल मरना, पानी में डूब के मरना, विष खा के मरना, शस्त्र से मरना, इत्यादि स्वप्राणातिपात महापाप रूप क्रिया, यह प्रथम भेद। तथा दूसरी-मोह, लोभ, क्रोध के वश होकर पर जीव को स्व अथवा पर के हाथ से मारना। ६. जीव अजीव का आरम्भ करना, सो आरम्भिकी क्रिया। ७. जीव अजीव का परिग्रह करना, सो पारिग्रहिकी क्रिया ८. माया करनी, सो मायाप्रात्यायिकी क्रिया। ९. विपरीत वस्तु का श्रद्धान है निमित्त जिस का सो मिथ्यात्वदर्शन प्रात्ययिकी क्रिया। १०. जीव के हनने का तथा अजीव—मद्य मांसादि पीने खाने का जिस के त्याग नहीं, ऐसा जो असंयती जीव, तिस की क्रिया अप्रत्याख्यानिकी क्रिया। ११. घोड़ा, रथ प्रमुख जीव तथा अजीवों के देखने के वास्ते जाना, सो दर्शन क्रिया। १२. जीव, अजीव, स्त्री, पुतली आदि का राग पूर्वक स्पर्श करना, सो स्पर्शन क्रिया। १३. जीव अजीव की अपेक्षा जो कर्म का बंध होवे, सो प्रातीत्यकी क्रिया। १४. जीव—पुत्र, भाई, शिष्यादिक, अजीव—भूषण, घर, हट्टादि, इन को जब सर्व दिशाओं से लोग देखने को आवें, देख कर प्रशंसा करें, तब तिन वस्तुओं का स्वामी हर्षित होवे, सो सामंतोपनिपातिकी क्रिया। १५. जीव—मनुष्यादि अरु अजीव—ईंट का टुकड़ा आदि, इन को फैंके, सो नैसृष्टिकी क्रिया। १६. अपने हाथों करी जीव को

तथा अजीव को—प्रतिमादि को ताड़े, बांधे, सो स्वाहस्तिकी क्रिया, १७. जीव अजीव की मिथ्या प्ररूपणा करनी, तथा जीव अजीव को मंत्र से मंगवाना, सो आज्ञापनिकी क्रिया । १८. जीव और अजीव को विदारणा, सो वैदारणिकी क्रिया। १९. विना उपयोग से जो वस्तु लेवे, तथा भूमिकादि पर छोड़े, सो अनाभोगिकी क्रिया । २०. इस लोक में और परलोक में विरुद्ध ऐसा जो चोरी परदारागमनादिक है, उनको सेवे, मन में डरे नहीं, सो अनवकांता प्रात्ययिकी क्रिया । २१. मन, वचन, काया का जो सावद्य-पापसहित व्यापार, सो प्रायोगिकी क्रिया । २२. अष्टविध कर्म परमाणुओं का जो ग्रहण करना, सो समादान क्रिया । २३. राग जनक वीणादि का जो शब्दादि व्यापार, सो प्रेमप्रात्ययिकी क्रिया, २४. अपने ऊपर तथा पर के ऊपर जो द्वेष करना, सो द्वेषप्रात्ययिकी क्रिया । २५. केवल योग से जो क्रिया, सो केवली की ईर्यापथिकी क्रिया । यह पच्चीस क्रिया का स्वरूप संक्षेप मात्र लिखा है । यद्यपि इन क्रियाओं में कितनीक क्रिया आपस में एक सरीखी दीखती हैं, तो भी एक सरीखी नहीं हैं। इन का अच्छी तरें स्वरूप देखना होवे, तो गंधहस्तीभाष्य देख लेना ।

अथ योग तीन हैं, सो लिखते हैं । १. मन का व्यापार, सो मनोयोग; २. वचन का व्यापार, सो वचनयोग; ३. काया का व्यापार, सो काययोग ।

यह सर्व मिल कर बैतालीस भेद आश्रव तत्त्व के होते

हैं। इन बैतालीस भेदों से जीव को शुभाशुभ कर्म की आमदनी होती है।

संवर तत्त्व का स्वरूप

अथ संवरतत्त्व लिखते हैं। पूर्वोक्त आश्रव का जो रोकने वाला सो संवर है। तिस संवर के सत्तावन भेद हैं, सो कहते हैं। पांच समिति, तीन गुप्ति, दश प्रकार का यतिधर्म, बारह भावना बावीस परिषह, पांच चरित्र, यह सब मिल कर सत्तावन भेद होते हैं। इनमें से पांच समिति, तीन गुप्ति दशविध यतिधर्म, बारह भावना का स्वरूप गुरु तत्त्वमें लिख आये हैं, वहां से जान लेना।

बावीस परिषह

बावीस परिषह का स्वरूप लिखते हैं। १. क्षुधापरिषह, क्षुधा नाम भूख का है, अन्य वेदनाओं से अधिक भूख की वेदना है, जब क्षुधा लगे, तब अपनी प्रतिज्ञा से न चले, अरु आर्त्तध्यान भी न करे, सम्यक् परिणामों से क्षुधा को सहे, सो क्षुत्परिषह। २. ऐसे ही पिपासा जो तृषा, तिस का परिषह भी जान लेना। ३. शीतपरिषह, जब बड़ा भारी शीत पड़े, तब भी अकल्पित वस्त्र की वांछा न करे। जैसे भी जीर्ण वस्त्र होवें, उनों ही से शीत को सहे, अरु अग्नि भी न तापे, इस रीति से सम्यक् शीत परिषह को सहे। ४. ऐसे ही उष्णपरिषह भी सहे। ५. दंशमशकपरिषह, सो दंश मशक जब काटे, तब उस स्थान से चले जाने की इच्छा न करे, तथा दंश मशक

को दूर करने के वास्ते धूमादि का यत्न भी न करे, तथा तिन के निवारण के वास्ते पंखा भी न करे, इस प्रकार से दंश-मशक परिषह को सहे। ६. अचेलपरिषह, चेल नाम वस्त्र का है, सो शीर्ण अर्थात् फटे हुए और जीर्ण भी होवे, तो भी अकल्पित वस्त्र न लेवे, सो अचेल परिषह। सर्वथा वस्त्रों के अभाव का नाम अचेल परिषह नहीं। क्योंकि आगम में जो वस्त्रादिक रखने का जो प्रमाण कहा है. उस प्रमाण में रखना परिग्रह नहीं है। परिग्रह उसको कहते हैं, कि जो मूर्च्छा रक्खे। उक्तं चः—

* जंपि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा॥

* छाया—यद्यपि वस्त्रं च पात्रं च, कम्बलं पादपुंछनम्।
तदपि संयम लज्जार्थं धारयन्ति परिहरन्ति च॥
न सः परिग्रह उक्तो ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा।
मूर्च्छा परिग्रह उक्त इत्युक्तं महर्षिणा॥

भावार्थ—यद्यपि वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरणादि उपकरण साधु ग्रहण करते एवं उपभोग करते हैं, तथापि वे सब संयम की रक्षा के लिये है। अतः भगवान् महावीर स्वामी ने उन्हें परिग्रह नहीं कहा, अपितु मूर्च्छा-ममत्व को ही परिग्रह कहा है। ऐसा गणधर देव का कथन है।

७. अरतिपरिषह, संयम पालने में जो अरति उत्पन्न होवे, तिसको सहे। इसके सहने का उपाय दशवैकालिक की प्रथम चूलिका में अठारह वस्तु का चिन्तन रूप है। अर्थात् उसके करने से अरति दूर हो जाती है। ८. स्त्री परिषह, स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान, सुरति, हसना, मनोहरता और विभ्रमादि चेष्टाओं का मन में चिन्तवन न करे, तथा स्त्रियों को मोक्ष मार्ग में अर्गलसमान जान कर उनको कामकी बुद्धि करके नेत्रों से न देखे। ९. चर्या नाम चलने का है, चलना अर्थात् घर से रहित ग्राम नगरादि में ममत्व रहित मास कल्पादि करना, सो चर्यापरिषह है। १०. निषद्यापरिषह, निषद्या रहने के स्थान का नाम है, सो जो स्थान स्त्री, पंडक विवर्जित होवे, तिस स्थान में रहते हुए को यदि इष्टानिष्ट उपसर्ग होवे, तो भी अपने चित्त में चलायमान न होवे, सो निषद्यापरिषह ११. 'शेरते'–शयन करिये जिसमें, सो शय्या–संस्तारक सोने का आसन,सो कोमल,कठिन,ऊंचा, नीचा या धूल,कूड़ा, कंकरवाली जगह में होवे, तथा वो स्थान शीत गर्मी वाला होवे, तो भी मन में उद्वेग न करे, किन्तु दुःख सहन करे, सो शय्यापरिषह। १२. आक्रोश परिषह, यदि कोई अनिष्ट वचन कहे, तब ऐसे विचारे, कि जेकर वह पुरुष सच्ची बात के वास्ते अनिष्ट वचन कहता है, तो मुझको कोप करना ठीक नहीं, क्योंकि यह पुरुष मुझे शिक्षा देता है। और जे कर इस पुरुष का मेरे पर झूठा आरोप है, तो भी मुझको कोप

करना युक्त नहीं, क्योंकि इसका फल यह स्वयं भोगेगा। ऐसे चिन्तन करके आक्रोशपरिषह को सहे। १३. वधपरिषह, हाथ आदि करके ताडना करना-मारना, तिसका सहन करना वध परिषह है। सो इस रीति से कि यह जो मेरा शरीर है, सो अवश्य विध्वंस होवेगा, तथा इस शरीर के सम्बन्ध से मेरे को जो दुःख होता है, सो मेरे करे हुए कर्म का फल है। इस बुद्धि से वध परिषह को सहे। १४. याचना नाम मांगने का है, तथा सर्वही वस्त्र अन्नादिक साधुओं को मांगने से ही मिलता है। इस बुद्धि से याचना परिषह को सहे। १५. साधु को किसी वस्तु की इच्छा है, अरु वो वस्तु गृहस्थ के घर में भी बहुत है, साधु मांगने को गया, परन्तु गृहस्थ देता नहीं, तब साधु मन में विषाद न करे, अरु देने वाले का बुरा भी न चिंतवे, दुर्वचन भी न बोले, समता करे, आज नहीं मिला, तो कलको मिल जायगा, इस तरह अलाभपरिषह को सहे। १६. रोग-ज्वर अतिसारादि जब हो जावे, तब गच्छ के बाहर जो साधु होवे, सो तो कोई भी औषधि न खावे, अरु जो गच्छवासी साधु होवे, सो गुरु लाघवता का विचार करके रोग परिषह को सहे। तथा जो रीति शास्त्र में औषध ग्रहण करनेकी कही है, तिस रीति से करे। १७. तृणस्पर्श परिषह, दर्भादिक कठोर तृण का स्पर्श सहे। १८. मलपरिषह, साधु के शरीर में पसीना आने से रजका पुंज शरीर में लगने से कठिन मैल लग जाता है, अरु उष्ण

काल की तप्त से यदि दुर्गंध तथा उद्वेग उत्पन्न हो, तो भी स्नानादि से शरीर की विभूषा साधु न करे। यह मल-परिषह है। १६. सत्कारपरिषह, भक्त लोगों ने वस्त्रान्न-पानादि करके साधु का बहुत सत्कार भी किया हो, तो भी मन में अभिमान नहीं करना, तथा और २ साधुओं की भक्त लोग पूजा भक्ति करते हैं, परन्तु जैनमत के साधु की कोई बात भी नहीं पूछता, ऐसे विचार कर भी मन में विषाद न करे। यह सत्कारपरिषह है। २०. प्रज्ञापरिषह, बहुत बुद्धि पाकर अभिमान न करे, तथा अल्पबुद्धि होवे तो "मैं महा मूर्ख हूं, सर्व के पराभव का स्थान हूं" ऐसे संताप दीनता मन में नहीं लावे, सो प्रज्ञापरिषह [ज्ञानपरिषह] २१. अज्ञानपरिषह चौदहपूर्वपाठी, एकादशांगपाठी, तथा उपांग, छेद, प्रकरण, शास्त्रों का पाठी, ज्ञान का समुद्र मैं हूं, ऐसा गर्व न करे। अथवा मैं आगम के ज्ञान से रहित हूं, धिक्कार है मुझ निरक्षर कुक्षिंभर को! ऐसी दीनता भी न करे। किन्तु ऐसे विचारे कि केवल ज्ञानावरण के क्षयोपशम के उदय से मेरा यह स्वरूप है, स्वकृतकर्म का फल है, या तो यह भोगने से दूर होवेगा, या तपोनुष्ठान से दूर होवेगा। ऐसे विचार कर अज्ञान परिषह को सहे। २२. शास्त्रों में देवता अरु इन्द्र सुनते हैं, परन्तु सान्निध्य कोई भी नहीं करता, इस वास्ते क्या जाने देवता, इन्द्र है? वा नहीं? तथा मतांतर की ऋद्धि वृद्धि को देख कर जिनोक्त तत्त्व में संमोह करना, इस प्रकार

की विकलता को मन में न लाना, सो दर्शनपरिषह है। यह बाईस परिषह जो साधु जीते, सो संवरी—संवरवाला कहा जाता है, इन परिषहों का विस्तार देखना होवे, तो श्रीशांतिसूरिकृत उत्तराध्ययन सूत्र की बृहद्वृत्ति, तथा तत्त्वार्थ सूत्र की भाष्यवृत्ति देख लेनी।

अथ पांच प्रकार का चारित्र लिखते हैं। १. सामायिक चारित्र, २. छेदोपस्थापनिका चारित्र, ३. परिहारविशुद्धि चारित्र, ४. सूक्ष्मसंपराय चारित्र, ५. यथाख्यात चारित्र, यह पांच प्रकार का चारित्र है। इन पांचों के धारक साधु भी जैनमत में पांच प्रकार के हैं। इस काल में प्रथम के दो प्रकार के चारित्र के धारक साधु हैं। अरु तीन चारित्र व्यवच्छेद हो गए हैं। इन पांचों का विस्तार देखना होवे तो श्रीदेवाचार्यकृत नवतत्त्व प्रकरण की टीका तथा भगवती अरु पन्नवणासूत्र की वृत्ति देख लेनी। यह सर्व मिल कर सत्तावन भेद आश्रव के रोकने वाले हैं।

निर्जरा तत्त्व

अथ निर्जरा तत्त्व लिखते हैं। निर्जरा उस को कहते हैं, जो बांधे हुये कर्मों को खेरु करे—बखेरे अर्थात् आत्मा से अलग करे, जिस से निर्जरा होती है, तिस का नाम तप है। सो तप बारह प्रकार का है, उस का स्वरूप गुरुतत्त्व के निरूपण में संक्षेप से लिख आये हैं, वहां से जान लेना। अरु जेकर विस्तार देखना होवे, तो नवतत्त्वप्रकरणवृत्ति तथा श्रीवर्द्धमानसूरिकृत

आचारदिनकर शास्त्र तथा श्रीरत्नशेखरसूरिकृत आचारप्रदीप तथा भगवतीसूत्र अरु उववाई शास्त्र में देख लेना।

अथ बंधतत्त्व लिखते हैं। बंध चार प्रकार का होता है-

बन्ध तत्त्व का स्वरूप

१. प्रकृतिबंध, २. स्थितिबंध, ३. अनुभाग-बंध, और ४. प्रदेशबंध। जीव के प्रदेश तथा कर्मपुद्गल, ये दोनों दूध और पानी की तरें परस्पर मिल जावें, उस को बंध कहते हैं। अथवा बंध नाम बंदीखान का है, जैसे बंधुआ कैद में स्वतंत्र नहीं रहता, ऐसे आत्मा भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों के वश होता हुआ स्वतंत्र नहीं रहता है। इस कर्म के बंध में छे विकल्प हैं, सो कहते हैं।

प्रथम विकल्प—कोई वादी कहता है, कि आत्मा प्रथम तो निर्मल था-पुण्य पाप के बंध से रहित था, यह पुण्य पाप का बंध उस को पीछे से हुआ है। परन्तु यह विकल्प मिथ्या है, क्योंकि निर्मल जीव कर्म का बंध नहीं कर सकता, और कर्म के विना संसार में उत्पन्न भी नहीं हो सकता है। जेकर निर्मल जीव कर्म का बंध करे, तब तो मोक्षस्थ जीव भी कर्म का बंध कर लेवेगा। जब मोक्षस्थ जीव को कर्मबंध हुआ, तब तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा। जब मोक्ष नहीं, तब तो मोक्षोपयोगी शास्त्र अरु शास्त्रों के बनाने वाले सब मिथ्यावादी हो जावेंगे, और सभी तब तो नास्तिकमती बन जायंगे। तथा निर्मल आत्मा संसार में शरीर के अभाव से कर्म

भी काहे से करेगा ? इस वास्ते यह प्रथम विकल्प मिथ्या है।

दूसरा विकल्प—कर्म पहले थे अरु जीव पीछे से बना है, यह भी मिथ्या है। क्योंकि जीवों के बिना वो कर्म किस ने करे ? कारण कि कर्त्ताके विना कर्म कदापि हो नहीं सकते। तथा प्रथम के कर्मों का फल भी इस जीव को नहीं होना चाहिये, क्योंकि वो कर्म जीव के करे हुए नहीं हैं। जेकर कर्म के करे विना भी कर्म फल होवे, तब तो अतिप्रसंग दूषण होवेगा। तब तो बिना कर्म करे ईश्वर भी कर्म फल भोगने के वास्ते नरककुंड में जा गिरेगा। तथा जीव भी पीछे काहे से बनेगा ? क्योंकि जीव का उपादान कारण कोई नहीं है। जे कर कहो कि ईश्वर जीव का उपादान कारण है, तब तो कारण के समान कार्य भी होना चाहिये। जैसा ईश्वर निर्मल, निष्पाप, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, तैसा ही जीव होवेगा; परन्तु ऐसा है नहीं। एवं यदि ईश्वर जीवों का उपादान कारण होवे, तब तो ईश्वर ही जीव बन कर नाना क्लेश—जन्म मरण गर्भावासादि दुःखों का भोगने वाला हुआ। परन्तु ईश्वर ने यह अपने पग में आप कुहाड़ा क्यों मारा ? जो कि पूर्णानन्द पद को छोड़ कर संसार की विडंबना में क्यों फंसा ? फिर अपने आपको निष्पाप करने के वास्ते वेदादि शास्त्रों द्वारा कई तरे का तप जपादिक क्लेश करना बताया ? इस वास्ते यह दूसरा विकल्प भी मिथ्या है।

तीसरा विकल्प यह है कि—जीव और कर्म दोनों एक

साथ उत्पन्न हुये हैं। यह भी मिथ्या है । क्योंकि जो वस्तु समकाल में उत्पन्न होती है, सो आपस में कारण कार्य रूप नहीं होती । और जब कर्म जीव के करे सिद्ध न हुये, तब तो कर्म का फल भी जीव नहीं भोगेगा, यह प्रत्यक्ष विरोध है। क्योंकि जीवों को कर्म का फल भोगते हुए स्पष्ट देखते हैं, परन्तु कर्म तथा जीव का उपादान कारण कोई नहीं। इस वास्ते यह तीसरा विकल्प भी मिथ्या है।

चौथा विकल्प-जीव तो है, पन्तु जीव के कर्म नहीं। यह भी मिथ्या है, क्योंकि जब जीव के कर्म नहीं, तो जीव दुःख सुख कैसे भोगता है ? कर्म के विना संसार की विचित्रता कदापि न होवेगी । इस वास्ते यह चौथा विकल्प भी मिथ्या है।

पांचमा विकल्प—जीव अरु कर्म, यह दोनों ही नहीं। यह भी मिथ्या है, क्योंकि जब जीव ही नहीं, तब यह कौन कहता है, कि जीव अरु कर्म नहीं है । ऐसा कहने वाला जीव है ? कि दूसरा कोई है ? यह तो स्ववचन विरोध है, इस वास्ते यह पांचमा विकल्प भी मिथ्या है । यह पांचों मिथ्यात्व रूप हैं, अरु सत्य रूप तो छठा विकल्प है ।

छठा विकल्प—जीव अरु कर्म, यह दोनों अनादि-अपश्चानुपूर्वी हैं।

प्रश्नः—जब जीव अरु कर्म यह दोनों अनादि हैं, तब तो जीव की तरे कर्म का नाश कदापि न होना चाहिये ?

उत्तरः—कर्म जो अनादि कहे हैं, सो प्रवाह की अपेक्षा अनादि हैं, इस वास्ते उन का क्षय हो जाता है।

प्रश्नः—यह जो तुम बंध कहते हो, सो निर्हेतुक है? अथवा सहेतुक है? जे कर कहो कि निर्हेतुक है, तब तो नित्य सत्त्व अथवा नित्य असत्त्व होवेगा। क्योंकि जिस वस्तु का हेतु नहीं, वो आकाशवत् नित्य सत् होती है, अथवा खरशृंगवत् नित्य असत् होती है। तब तो निर्हेतुक होने से मोक्ष का अभाव ही हो जावेगा। जेकर कहो कि सहेतुक है, तो हम को बताओ कि इस बंध का क्या हेतु है?

उत्तरः—इस बंध के मूल हेतु तो चार हैं, और उत्तर हेतु सत्तावन हैं। यहां प्रथम चार प्रकार का बंध कहते हैं। तिस में प्रथम प्रकृति बंध है। प्रकृति कौन सी है? अरु उस का बंध क्या है? सो कहते हैं। तहां मूल प्रकृति आठ हैं, उस में १. मत्यादि ज्ञान का जो आवरण—आच्छादन, सो ज्ञानावरण। २. सामान्य बोधक चक्षु आदि का जो आवरण सो दर्शनावरण। ३. सुख दुःखादि का वेद—भोग जिस से हो, सो वेदनीय। ४. मोह से जीव विचित्रता को प्राप्त करे, सो मोहनीय। ५. "एति याति चेत्यायुः" जो चलती गुज़रती है सो आयु। जिस के उदय से जीव जीता है सो आयु। ६. वे जो शुभाशुभ गत्यादि रूप से आत्मा को नमावे सो नाम कर्म। ७. गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति ऐसे है "गां वाचं त्रायत इति गोत्रं" जिस के उदय से जीव ऊंच नीच कुल का

कहाता है सो गोत्र कर्म । ८. अन्तर कहिये विचाले-मध्य में लाभादि के जो हो जावे, एतावता जीव में दान लाभादिक होते को भी न होने देवे, सो अन्तराय । यह आठ स्वभावरूप कर्म जो जीव के साथ क्षीर नीर की तरे मिथ्यात्वादि हेतुओं से बंध जावे, तिस का नाम प्रकृतिबन्ध है । २. इनहीं आठ प्रकृतियों की स्थिति अर्थात् काल मर्यादा, जैसे कि यह प्रकृति इतना काल तक आत्मा के साथ रहेगी, जिस करके ऐसी स्थिति होवे, सो स्थिति बंध । ३. इनही-आठ प्रकृतियों में रस का तीव्र, मंद होना अनुभागबन्ध । ४. कर्मप्रदेश का जो प्रमाण, यथा-इतने परमाणु इस प्रकृति में हैं । उन परमाणुओं का जो आतमा के साथ बंध सो प्रदेशबंध ।

इस तरे यह चार प्रकार कर्मबन्ध के कहे हैं, अब भव्य जीवों के बोध के वास्ते इस चार प्रकार के बन्ध में दिया गया लड्डु का दृष्टांत लिखते हैं । औषधियों से बना हुआ एक लड्डु है तिसका स्वभाव वात के हरने का, वा पित्त के हरने का अथवा कफ हरने का होता है । ऐसे ही कर्मों की प्रकृतियों में किसी प्रकृति का ज्ञान को आवरण करने का स्वभाव, किसी प्रकृति का दर्शन को आवरण करने का स्वभाव होता है, सो पहला प्रकृतिबंध है । २. कोई लड्डु एक दिन रह के बिगड़ जाता है, कोई दो दिन, चार दिन तथा कोई एक पक्ष या एक मास तक रहकर पीछे से बिगड़ जाता है । ऐसे ही कर्म की स्थिति भी एक घड़ी, पहर, दिन, पक्ष, मास, यावत् सत्तर कोटा

कोटी सागरोपम तक रहकर फल दे करके चली जाती है। यह दूसरा स्थितिबंध। ३. जैसे किसी लड्डु में कसैला रस, किसी में कड़ुवा और किसी में मीठा, ऐसे ही कर्मों में रस है अर्थात् किसी में दुःख रूप और किसी में सुख रूप है। जो जो अवस्था जीव की संसार में होती है, सो सर्व कर्म के अनुभाग से होती है। यह तीसरा अनुभाग- बंध। ४. जैसे लड्डु के तोल, मान में, कोई लड्डु एक तोला और कोई छटांकादि का होता है, ऐसे ही कर्म प्रदेशों की गिनती भी किसी कर्म में थोड़ी, किसी में अधिक होती है, यह चौथा प्रदेश बंध है। यह दृष्टांत कर्म ग्रंथ में है। *

बन्ध के हेतु

अथ बंध के हेतु लिखते हैं। १. मिथ्यात्व—तत्त्वार्थ में श्रद्धान रहित होना। २. अविरतिपना–पापों से निवृत्त होने के परिणाम से रहित होना। ३. कषाय—कष नाम है संसार का, तथा कर्म का, तिस का जो आय—लाभ सो कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप। ४. योग–मन, वचन, काया का व्यापार। यह चारों बंध के मूलहेतु हैं। उत्तर हेतु सत्तावन हैं, सो लिखते हैं। उस में प्रथम मिथ्यात्व, पांच प्रकार का है—१. अभिग्रह मिथ्यात्व २. अनभिग्रह मिथ्यात्व, ३. अभिनिवेश मिथ्यात्व, ४. संशयमिथ्यात्व, ५. अनाभोग मिथ्यात्व।

* प्रथम कर्म ग्रन्थ गाथा २।

मिथ्यात्व के भेद प्रभेद

१. अभिग्रह मिथ्यात्व–जो जीव ऐसा जानता है, कि जो कुछ मैंने समझा है, सो सत्य है, औरों की समझ ठीक नहीं है। तथा सच झूठ की परीक्षा करने का भी उस का मन नहीं है, सच झूठ का विचार भी नहीं करता, यह अभिग्रह मिथ्यात्व। यह मिथ्यात्व, दीक्षित शाक्यादि–अन्यमत ममत्व धारियों को होता है। वो अपने मन में ऐसे जानते हैं, कि जो मत हमने अंगीकार किया है, वो सत्य है, और सर्व मत झूठे हैं।

२. अनभिग्रह मिथ्यात्व–सर्व मतों को अच्छा मानना, सर्व मतों से मोक्ष है, ऐसा जानकर किसी को बुरा न कहना, सर्व को नमस्कार करना। यह मिथ्यात्व जिनों ने किसी भी दर्शन को ग्रहण नहीं करा, ऐसे जो गोपाल बालकादि, उन में है, क्योंकि यह अमृत अरु विष को एक सरखा जानने वाले हैं।

३. अभिनिवेश मिथ्यात्व—सो जान बूझ कर झूठ बोलना और उस के वास्ते आग्रह करना है। जैसे कोई पुरुष प्रथम तो अज्ञान से किसी शास्त्र के अर्थ को भूल गया, पीछे जब कोई विद्वान् कहे कि तुम इस बात में भूलते हो, तब झूठे मत का कदाग्रह ग्रहण करे और जात्यादि के अभिमान से कहना न माने, उलटा स्वकपोलकल्पित कुयुक्तियों से अपने मनमाने मत को सिद्ध करे, वाद में हार जावे, तो भी न

माने। ऐसा जीव अतिपापी अरु बहुल संसारी होता है। यह मिथ्यात्व प्रायः जो जैन-जैनमत को विपरीत कथन करता है उस में होता है। जैसे गोष्ठमाहिलादिक हुए हैं। यह बात श्री अभय देवसूरि नवांगीवृत्तिकार नवतत्त्वप्रकरण के भाष्य में कहते हैं:—

* गोट्ठामाहिलमाईणं, जं अभिनिविसि तु तयं ॥

आदि शब्द से बोटिक शिवभूति में आभिनिवेशिक मिथ्यात्व जानना।

४. संशय मिथ्यात्व-सो जिनोक्त तत्त्व में शंका करनी। क्या यह जीव असंख्य प्रदेशी है ? वा नहीं है ? इस तरें सर्व पदार्थों में शंका करनी, तिस में जो उत्पन्न होवे, सो सांशयिक मिथ्यात्व है। † तदाह "भाष्यकृत्—सांशयिकं मिथ्यात्वं तदिति शेषः। शंका-संदेहो जिनोक्ततत्त्वेष्विति" संशय मिथ्यात्व के होने के कारण श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ध्यानशतक में लिखते हैं, कि एक तो जैनमत स्याद्वादरूप अनंतनयात्मक है, इस वास्ते समझना कठिन है। तथा सप्तभंगी के सकलादेशी, विकलादेशी भंगों का स्वरूप, अष्टपक्ष, सात

---

* गाथा का पूर्वार्ध इस प्रकार है:—

आभिग्गहियं किल दिक्खियाण अणभिग्गहियं तु इअराणं।

† यह नव-तत्वभाष्य टीका का पाठ है टीका कर्ता यशोदेव उपाध्याय हैं।

सौ नय, चार निक्षेप—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तथा १. उत्सर्ग, २. अपवाद, ३. उत्सर्गापवाद, ४. अपवादोत्सर्ग, ५. उत्सर्गोत्सर्ग, ६. अपवादापवाद, यह षड्भङ्गी तथा विधिवाद, चारित्रानुवाद, यथास्थितवाद, इत्यादि अनन्त-नयों की अपेक्षा से जैन मत के शास्त्रों का कथन है। अतः जब तक जिस अपेक्षा से शास्त्रों में कथन है वो अपेक्षा न समझे, तब तक जैन शास्त्रों का यथार्थ अर्थ समझना कठिन है। इन के समझने के वास्ते बड़ी निर्मल बुद्धि चाहिये। सो तो बहुत थोड़े जीवों को होती है। तथा शास्त्र के अर्थ-अभिप्राय को बताने वाला गुरु भी पूरा चाहिये, परन्तु सो भी नहीं है। इत्यादि निमित्तों से संशय मिथ्यात्व होता है।

५. अनाभोग मिथ्यात्व—जिन जीवों को उपयोग नहीं ऐसे जो विकलेंद्रियादि जीव, तिन को अनाभोग मिथ्यात्व होता है। उपयोग के अभाव से वे जीव यह नहीं जान सकते कि धर्माधर्म क्या वस्तु है। यह मिथ्यात्व के पांच भेद हैं। इस पांच प्रकार के मिथ्यात्व के और भी अनेक भेद हैं, जो कि इन पांचों के ही अन्तर्भूत हैं, सो भेद इस प्रकार से हैं:—१. प्ररूपणा मिथ्यात्व—जिनवाणी रूप जो सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, इन से विपरीत प्ररूपणा करनी। २. प्रवर्त्तना मिथ्यात्व—जो काम मिथ्यादृष्टि जीव धर्म जान कर करते हैं, उन की देखा देखी आप भी वैसे

ही करने लगना। ३. परिणाम मिथ्यात्व—मन में विपरीत परिणाम—कदाग्रह रहे, शुद्ध शास्त्रार्थ को माने नहीं। ४. प्रदेशमिथ्यात्व—मिथ्यात्व के पुद्गल जो सत्ता में हैं, उन का नाम प्रदेश मिथ्यात्व है। इन चारों भेदों के भी अनेक भेद हैं, उस में कितनेक यहां पर लिखते हैं।

१. जो धर्म वीतराग सर्वज्ञ ने कहा है, तिस को अधर्म माने। २. अरु जो हिंसा प्रवृत्ति प्रमुख आश्रवमय अशुद्ध अधर्म है, उस को धर्म माने। ३. जो सत्य मार्ग है, उस को मिथ्या कहे। ४. जो विषयी जनों का मार्ग है, उस को सत् मार्ग कहे। ५. जो साधु सत्तावीस गुणों करी विराजमान है, उस को असाधु कहे। ६. जो आरम्भ परिग्रह विषय कषाय करके भरा हुआ है, अरु उपदेश ऐसा देता है, कि जिस के सुनने से लोगों को कुवासना, कुबुद्धि उत्पन्न होवे, ऐसा गुरु पत्थर की नौका समान है। ऐसे जो अन्यलिंगी कुलिंगी तिन को साधु कहे। ७ षट्काया के जीवों को अजीव माने। ८. काष्ठ, सोना आदि जो अजीव है, उन को जीव माने। ९. मूर्त्त पदार्थों को अमूर्त्त माने। १०. अमूर्त्त पदार्थों को मूर्त्त माने, यह दश भेद मिथ्यात्व के हैं।

तथा दूसरे छे भेद मिथ्यात्व के हैं, सो कहते हैं। १. लौकिक देव, २. लौकिक गुरु, ३. लौकिक पर्व, ४. लोकोत्तर देव, ५. लोकोत्तर गुरु, ६. लोकोत्तर पर्व।

१. लौकिक देवगत मिथ्यात्व—जो देव राग द्वेष करके

भरा हुआ है, एक के ऊपर मेहरबान होता है, और एक का विनाश करता है; स्त्री के भोग विलास में मग्न है; अरु अनेक प्रकार के शस्त्र जिस के हाथ में हैं; अपनी ठकुराई का अभिमानी है; जाप के वास्ते हाथ में माला है; सावद्य भोग-पंचेंद्रिय का वध चाहता है। ऐसे देव को जो पुरुष परमेश्वर माने, अथवा परमेश्वर का अंश रूप अवतार माने और पूजे; तिस के कहे हुये शास्त्र के अनुसार हिंसाकारी यज्ञादि करे; अनेक तरे के पाप कार्यों में धर्म के नाम से प्रवृत्ति करे। इस लौकिक देव के अनेक भेद हैं। सो सब मिथ्यात्व-लसरी प्रमुख ग्रन्थों से जान लेने।

२. लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व—जो अठारह पापों का सेवन करे; नव प्रकार का परिग्रह रक्खे, गृहस्थाश्रम का उपभोग करे; स्त्री, पुत्र, पुत्री के परिवार वाला होवे; तथा कुलिंगी–मनःकल्पित नवा नवा वेष बना कर स्वकपोल-कल्पित मत चलावे; अरु आडम्बरी होवे; बाह्य परिग्रह तो त्याग दिया है, परंतु अभ्यंतर ग्रन्थि छोड़ी नहीं; गुरु नाम धरावे, मंडली से विचरे; जिस की अनादि भूल मिटी नहीं; और जिस को शुद्ध साध्य की पिछान नहीं; तिस को गुरु माने; तिस का बहुमान करे; तिस को मोक्ष का हेतु जान कर दान देवे; तथा उस को परम पात्र जाने।

३. लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व—१. अजापड़वा, २. प्रेतदूज, ३. गुरुतीज, ४. गणेश चौथ, ५. नागपंचमी, ६. झोलना

छठ, ७. सीयलसातम, ८. बुधाष्टमी, ९. नोली नवमी, १०. विजय दशमी, ११. व्रत एकादशी, १२. वत्स द्वादशी, १३. धनतेरस, १४. अनन्त चौदश, १५. अमावास्या, १६. सोमवती अमावास्या, १७. रक्षाबन्धन, १८. होली, १९. होई, २०. दसहरा, २१. सोमप्रदोष, २२. लोड़ी, २३. आदित्यवार, २४. उत्तरायण, २५. संक्रांति, २६. ग्रहण, २७. नवरात्र, २८. श्राद्ध, २९. पीपल को पानी देना, ३०. गधे को माता का घोड़ा मान के पूजना, ३१. गोत्राटी, ३२. अन्न कूट, ३३. अनेक श्मशान, कबरों का मेला, इत्यादि ।

४. लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व—देव श्रीअरिहंत, धर्म का आकर, विश्वोपकार का सागर, परम पूज्य, परमेश्वर, सकल दोष रहित, शुद्ध, निरंजन; तिन की स्थापनारूप जो प्रतिमा, तिस के आगे इस लोक के पौद्गलिक सुख की आशा से मन में कल्पना करे कि जे कर मेरा यह काम हो जावेगा, तो मैं बड़ी भारी पूजा करूंगा, छत्र चढ़ाऊंगा, दीपमाला की रोशनी करूंगा, रात्रि जागरण करूँगा, ऐसे भावों से वीतराग को माने, यह मिथ्यात्व है। क्योंकि जो पुरुष चिन्तामणि के दाता से काच का टुकड़ा मांगे सो बुद्धिमान् नहीं है। जिसको अपने कर्मोदय का स्वरूप मालूम नहीं है, वही जीव ऐसा होता है।

५. लोकोत्तरगुरुगत मिथ्यात्व—सो जो साधु का वेष रक्खे अरु आप निर्गुणी होवे, जिन वाणी का उत्थापक

होवे, अपने मनःकल्पित का उपदेश देवे, सूत्र का सच्चा अर्थ तोड़े, ऐसे लिंगी, उत्सूत्र के प्ररूपक को गुरु जान कर मान, सन्मान करे। तथा जो गुणी, तपस्वी, आचारी और क्रियावंत साधु है, तिसकी इस लौकिक इच्छा करके सेवा करे, बहुत मान करे, मन में ऐसे जाने, कि यदि मैं इनकी सेवा करूंगा, तो इनकी मेहरबानगी से धन, बुद्धि, स्त्री, पुत्रादि मुझको अधिक प्रमाण में मिलेंगे।

६. लोकोत्तरपर्वगत मिथ्यात्व—सो प्रभु के पांच कल्याणक की तिथि तथा दूसरे पर्व के दिन, इन दिनों में धनादि के वास्ते जप, तप, आदि धर्म करनी करे, सो लोकोत्तरपर्वगत मिथ्यात्व है। इत्यादि मिथ्यात्व के अनेक विकल्प हैं, परन्तु वो सब पूर्वोक्त अभिग्रहादि मिथ्यात्व के भेदों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। यह बन्ध का प्रथम हेतु है।

अब बारह प्रकार की अविरति कहते हैं—पांच इन्द्रिय छठा मन, अरु छ काय, यह बारह प्रकार हैं। तिनका स्वरूप इस तरह से है। पांचों इन्द्रियों को अपने २ विषय में प्रवृत्त करे, सो पांच अव्रत, अरु छठा किसी पाप प्रवृत्ति से मन का निरोध न करना सो छठा अव्रत है। तथा षड् विध जीव निकाय की हिंसा में प्रवृत्त होवे। यह बारह प्रकार अविरति के हैं। यह दूसरा बन्ध हेतु है।

तीसरा बन्ध का हेतु कषाय है। उसके सोला कषाय, नव नोकषाय कुल मिलकर पच्चीस भेद हैं। अनंतानुबन्धो

क्रोध, मान, माया, अरु लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार, तथा प्रत्याख्यान क्रोधादि चार, अरु संज्वलन क्रोधादि चार, एवं सोलह कषाय हैं। इनके सहचारी नव नोकषाय हैं। यथा—१. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा, ७. स्त्री वेद, ८. पुरुष वेद, ९. नपुंसकवेद। इन सबका व्याख्यान पीछे कर आये हैं। इन से कर्म का बन्ध होता है, और यही संसार स्थिति के मूल कारण हैं। यह तीसरा बन्ध हेतु कहा है।

चौथा योगनामा बन्ध का हेतु है। सो योग मन, वचन, अरु काया भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों के पन्द्रां भेद हैं। तहां प्रथम मनोयोग चार प्रकार का है, और वचन योग भी चार प्रकार का है, अरु काययोग सात प्रकार का है, ये सब मिलकर पन्द्रां भेद हैं।

मन नाम अन्तःकरण का है। उसके चार प्रकार यह हैं। १. सत्यमनोयोग, २. असत्यमनोयोग, ३. मिश्रमनोयोग, ४. व्यवहारमनोयोग। मन भी द्रव्य और भाव

योगके भेद प्रभेद

भेद से दो प्रकार का है। काया के व्यापार से पुद्गलों का ग्रहण करके उन को जब मनोयोग से काढ़ता है, तिस का नाम द्रव्यमन कहते हैं। अरु उन पुद्गलों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, तिसका नाम भावमन है। उस ज्ञान करके जो व्यवहार सिद्ध होता है, तिस व्यवहार करके मन भी सत्यादि

व्यपदेशको प्राप्त होता है। अरु उपचार से द्रव्यमन भी ज्ञायक है। मनमें जो सत्य व्यवहार का धारण करना, सो सत्यमन। सो व्यवहार यह है, कि पाप से निवृत्त होना वचन के उच्चारण किये बिना जो चिन्तवन करना कि यह मुनि है, जीवादि पदार्थ सत् हैं, इत्यादि। मन शब्द करके यहां से मनोयोग अर्थात् जो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ, जो मनोज्ञान, उस करके परिणत आत्मा को बलाधान करने वाला, मनोवर्गणा के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ वीर्य विशेष, सो यहां मनोयोग जानना। इसी मन के चार भेद हैं। ऐसे ही वचन योग, सो वचन की वर्गणा अर्थात् परमाणु का समूह, उस वचन वर्गणा करके उत्पन्न भई सामर्थ्यविशेष—आत्मा की परिणति, सो वचनयोग जानना।

मन के चार भेदों में से सत्यमनोयोग का स्वरूप ऊपर लिख आये हैं, सो प्रथम भेद। दूसरा मृषामन, सो धर्म नहीं, पाप नहीं, नरक स्वर्ग कुछ नहीं, इत्यादिक जो वचन निरपेक्ष चिन्तवना करनी, सो जानना। तीसरा मिश्रमन, सो सच्च अरु भूठ, इन दोनों का चिन्तन करना, जैसे गोवर्ग को देख कर मन में चिन्तन करना कि यह सर्व गौएं हैं। यह मिश्र इस वास्ते है, कि उस गोवर्ग में बैल भी हैं। इत्यादि मिश्रवचन। चौथा "हे! ग्रामं गच्छ" इत्यादि चिन्तन करना, सो व्यवहारमन। इसी तरह जब वचन योग से पूर्वोक्त चारों का उच्चारण करे, तब वचन योग भी चार प्रकार का

जान लेना । यह चार मन के अरु चार वचन के एवं आठ भेद हुए ।

सत्यवचन दश प्रकार का है । १. जनपद सत्य—सो जिस देश में जिस वस्तुका जो नाम बोलते हैं, उस देश में वो नाम सत्य है, जैसे कोंकण देशमें पानी को पिच्च कहते हैं, किसी देश में बड़े पुरुष को बेटा कहते हैं, वा बेटे को काका कहते हैं, किसी देश में पिता को भाई, सासु को आई, इत्यादि कहते हैं, सो जनपदसत्य । २. सम्मतसत्य—सो जैसे मेंडक, सिवाल, कमल आदि सब पंक से उत्पन्न होते हैं, तो भी पंकज शब्द करके कमल का ही ग्रहण पूर्व विद्वानों ने सम्मत किया है, किन्तु मेंडक, सिवाल नहीं । ३. स्थापनासत्य—सो जिस की प्रतिमा होवे, तिस को उस के नाम से कहना । जैसे महावीर, पार्श्वनाथ अर्हंत की जो प्रतिमा होवे, उस प्रतिमा को महावीर, पार्श्वनाथ कहें, तो सत्य है । परन्तु उस को जो पत्थर कहे, सो मृषावादी है । जैसे स्याही और कागज़ स्थापना करने से ऋग्, यजु, साम, अथर्व कहे जाते हैं; आचारांगादि अंग कहे जाते हैं; तथा काष्ठ के आकार विशेष को किवाड़ कहते हैं; तथा ईंट, पत्थर, चूने को स्तंभ कहना; पुस्तक में त्रिकोणादि चित्र लिख कर उस को आर्यावर्त्त, भारतवर्ष, जंबूद्वीपादि कहना; तथा स्याही की स्थापना को ककार खकार कहना । इस स्थापना से पुरुष की कछुक सिद्धि ज़रूर होती है । नहीं तो नाना प्रकार की स्थापना पुरुष किस वास्ते

करते हैं ? इस वास्ते श्रीमहावीर तथा श्रीपार्श्वनाथ जी की स्थापनारूप प्रतिमा को श्री महावीर पार्श्वनाथ जी कहना स्थापना सत्य है। इस में इतना विशेष है, कि जो देव शुद्ध है, उस की स्थापना भी शुद्ध है, अरु जो देव शुद्ध नहीं, उस की स्थापना भी शुद्ध नहीं। परन्तु उस स्थापना को उन का देव कहना, यह बात सत्य है। ४. नामसत्य सो किसी ने अपने पुत्र का नाम कुलवर्द्धन रक्खा है, अरु जिस दिन से वो पुत्र जन्मा है, उस दिन से उस कुल का नाश होता चला जाता है, तो भी उस पुत्रको कुलवर्द्धन नाम से पुकारें, तो सत्य है। ५. रूपसत्य—सो चाहे गुणों से भ्रष्ट भी है, तो भी साधु के वेषवाले को साधु कहे, तो सत्य है। ६. प्रतीतसत्य अर्थात् अपेक्षासत्य—सो जैसे मध्यमा की अपेक्षा अनामिका को छोटी कहना। ७. व्यवहारसत्य—सो जैसे पर्वत जलता है, रसता चलता है। ८. भावसत्य—सो जैसे तोते में पांच रंग हैं, तो भी तोते को हरे रंग का कहना। ९. योगसत्य—सो जैसे दण्ड के योग से दण्डी कहना। १०. उपमासत्य—सो जैसे मुख को चन्द्रवत् कहना।

अब दश प्रकार के झूठ कहते हैं। १. क्रोधनिश्रित—सो क्रोध के वश होकर जो वचन बोले, सो असत्य। २. ऐसे ही मान के उदय से बोले, सो असत्य। ३. ऐसे माया के उदय से बोले, सो असत्य। ४. लोभ के ५. राग के, ६. द्वेष के उदय से बोले, सो असत्य। ७. हास्य के वश से बोले। ८. भय

के वश से बोले। ६. विकथा करे, सो असत्य। १०. जिस बोलने में जीव की हिंसा होवे, सो असत्य।

अब दश प्रकार का मिश्र वचन कहते हैं। १. उत्पन्न मिश्रित—सो विना खबर कह देना कि इस नगर में आज दश बालक जन्मे हैं, इत्यादि। २. विगत मिश्रित—सो जैसे विना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश मनुष्य मरे हैं। ३. उत्पन्नविगतमिश्रित—सो जैसे विना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश जन्मे हैं, अरु दश ही मरे हैं। ४. जीवमिश्रित—सो जीवाजीव की राशि को कहना कि यह जीव है। ५. अजीवमिश्रित—सो अन्न की राशि को कहना कि यह अजीव है। ६. जीवाजीवमिश्रित—सो जीवाजीव दोनों को मिश्रभाषा बोले। ७. अनंतमिश्रित—सो मूली आदिकों के अवयवों में किसी जगे अनंत जीव हैं, किसी जगे प्रत्येक जीव हैं, उन को प्रत्येक काय कहे। ८. प्रत्येक मिश्रित—सो प्रत्येक जीवों को अनंतकाय कहे। ६. अद्धामिश्रित—सो दो घड़ी के तड़के में कहे कि दिन चढ़ गया है। १०. अदद्धामिश्रित—सो घड़ी एक रात्रि जाने पर, दिन का उदय कहे। यह दश प्रकार का मिश्रवचन है।

अब व्यवहार वचन के बारह भेद कहते हैं। १. आमंत्रणा करना—कि हे भगवन्! २. आज्ञापना—यह काम कर, तथा यह वस्तु ला। ३. याचना—यह वस्तु हम को दीजिये। ४. पृच्छना—अमुक गाम का मार्ग कौनसा है? ५. प्रज्ञापना –

धर्म ऐसे होता है । ६. प्रत्याख्यानी—यह काम हम नहीं करेंगे । ७. इच्छानुलोम—यथासुखं । ८. अनभिगृहीता—मुझ को खबर नहीं । ९ अभिगृहीता, मुझे खबर है । १०. संशय—क्यों कर खबर नहीं है ? ११. प्रगट अर्थ कहे । १२. अप्रगट अर्थ कहे ।

काय योग के सात भेद हैं । प्रथम काया योग का स्वरूप कहते हैं। आत्मा का निवासभूत, पुद्गलद्रव्य घटित विषम स्थल में बूढे दुर्बल को अवष्टंभभूत लाठी आदि की तरें जिसके योग से जीव के वीर्य का परिणाम—सामर्थ्य प्रकट हो सो काया योग है । जैसे अग्नि के संयोग से घट की रचना होती है, तैसे ही आत्मा में काया के सम्बन्ध से वीर्य परिणाम है । इस काययोग के सात भेद हैं । १. औदारिककाययोग, २. औदारिकमिश्रकाययोग, ३. वैक्रियकाययोग, ४. वैक्रियमिश्रकाययोग ५. आहारककाययोग, ६. आहारकमिश्रकाययोग, ७. कार्मणकाययोग । उसमें से प्रथम के दो काययोग तो मनुष्य अरु तिर्यंच में होते हैं । अगले दो स्वर्गवासी देवताओं में होते हैं । अरु अगले दो चौदहपूर्वपाठी साधु में होते हैं । तथा जीव जब काल करके परभव में जाता है, तब रस्ते में कार्मण शरीर साथ होता है । तथा समुद्घात अवस्था में केवली में होता है । अरु जो आहार पाचन करने में समर्थ तैजस शरीर है, सो कार्मण योग के अन्तर्भूत होने से पृथग् ग्रहण नहीं किया है ।

अथ मोक्षतत्त्व लिखते हैं । तहां प्रथम मोक्ष का स्वरूप कहते हैं । यदुक्तं:—

जीवस्य कृत्स्नकर्मक्षयेण यत्स्वरूपावस्थानं तन्मोक्ष उच्यते ।

मोक्षतत्त्व का स्वरूप

भावार्थः—जीव के सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय होने करके जो स्वरूप में रहना है, उस को मोक्ष कहते हैं। वह मोक्ष जीव का धर्म है। तथा धर्म धर्मी का कथंचित् अभेद होने से धर्मी जो सिद्ध, तिन की जो प्ररूपणा, सो भी मोक्ष प्ररूपणा है । क्योंकि मोक्ष जो है, सो जीव पर्याय है, सो जीव पर्याय कथंचित् सिद्ध जीव से अभिन्न है । जीव की पर्याय जीव से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकती है । तदुक्तं:—

द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥

[सं० त०, कां० १ गा० १२ की प्रतिच्छाया]

भावार्थः—पर्यायों करके रहित द्रव्य अरु द्रव्य से वर्जित-रहित पर्याय किसी जगे, किसी अवसर में, किसी प्रमाण से, किसी ने, कोई रूप से देखा है ? [अर्थात् नहीं देखा ।]

अब सिद्धों का स्वरूप नव द्वारों से सूत्रकार अरु भाष्यकार के कथनानुसार कहते हैं। १. सत्पद्प्ररूपणा, २. द्रव्यप्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाग, ८. भाव, ९. अल्पबहुत्व, ये नव द्वार हैं। इन नव द्वारों करके सिद्धों का स्वरूप लिखते हैं। प्रथम सत्पद प्ररूपणा द्वार—सत्-विद्यमान पद की प्ररूपणा, जिस का द्वार। तात्पर्य कि कोई भी एक पद वाला पदार्थ, सत है या असत्, अर्थात् वह संसार में है अथवा नहीं, इस बात को सिद्ध करने का नाम सत्पदप्ररूपणा है। सो मोक्ष पद गति आदि चौदां पदों में कहना। यथा—[१] पांच प्रकार की गति है। १. नरकगति, २. तिर्यग्गति, ३. मनुष्यगति, ४. देवगति, ५. सिद्धगति। तहां सिद्ध गति को वर्ज कर शेष चार गति में सिद्ध नहीं। यद्यपि १. कर्मसिद्ध, २. शिल्पसिद्ध, ३. विद्यासिद्ध, ४. मन्त्रसिद्ध, ५. योगसिद्ध, ६. आगमसिद्ध, ७. अर्थसिद्ध, ८. यात्रासिद्ध ९. अभिप्राय सिद्ध, १०. तपःसिद्ध, ११. कर्मक्षयसिद्ध, ऐसे अनेक तरे के सिद्ध आवश्यकनिर्युक्तिकार ने कहे हैं, तो भी यहां पर तो जो कर्मक्षय करके सिद्ध हुआ है, तिस का ही अधिकार है। उनहीं को मोक्ष पर्याय है, औरों को नहीं। [२] इन्द्रिय—स्पर्शनादि पांच हैं, एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इंद्रिय, पांच इन्द्रिय,

सिद्धों का स्वरूप

इन पांचों प्रकारों में सिद्ध पना नहीं, क्योंकि सर्वथा शरीर के परित्यागने से सिद्ध होता है। जहां शरीर नहीं तहां इन्द्रिय भी कोई नहीं। इसी वास्ते सिद्ध अतींद्रिय हैं। [३] १. पृथिवीकाय, २. अप्काय, ३. तेजःकाय, ४. पवनकाय, ५. वनस्पतिकाय, ६. त्रसकाय। इन छे ही कायों के जीवों में सिद्धपना नहीं। क्योंकि सिद्ध जो हैं, सो अकाय—काय रहित हैं। [४] काय, वचन अरु मन के भेद से योग तीन हैं। उस में केवल काययोग वाले एकेंद्रिय जीव हैं, अरु काय वचन योग वाले द्वींद्रियादि असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत जीव हैं, अरु काय, वचन, मन योग वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं। इन तीनों योगों में सिद्धपने की सत्ता नहीं। क्योंकि सिद्ध अयोगी हैं, अरु अयोगीपना तो काय वचन अरु मन के अभाव से होता है। [५] स्त्री, पुरुष, नपुंसक, इन तीनों वेदों में सिद्ध पद की सत्ता का अभाव है, क्यों कि सिद्ध जो हैं, सो पूर्वोक्त हेतु से अवेदी हैं। [६] क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चारों कषायों में सिद्धपना नहीं है, क्योंकि सिद्ध अकषायी हैं, सो अकषायिपना कर्म के अभाव से होता है। [७] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, केवलज्ञान, यह पांच प्रकार का ज्ञान है। अरु मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान, यह तीन अज्ञान हैं। उस में आदि के चारों ज्ञानों में अरु तीनों अज्ञानों में सिद्धपना

नहीं है। एक केवल ज्ञान में सिद्धपना है। सो केवल ज्ञान यहां सिद्धावस्था का जानना, परन्तु सयोगी अवस्था का नहीं। [८] सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, अरु यथाख्यात, यह पांच चारित्र। तथा इन के विपक्षी देश संयम, अरु असंयम। तहां पांच विध चारित्र में तथा दोनों विपक्षों में सिद्धपना—मोक्षपना, नहीं, क्योंकि यह सर्व शरीरादि के हुए ही होते हैं, सो शरीरादिक सिद्धों को है नहीं। [९] चक्षु, अचक्षु, अवधि, अरु केवल, इन चारों दर्शन में से आदि के तीनों दर्शन में सिद्धपना नहीं, परन्तु केवल दर्शन में केवलज्ञानवत् सिद्धपना जान लेना। [१०] कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, अरु शुक्ल, यह छे प्रकार की लेश्याओं में सिद्धपना नहीं। क्योंकि लेश्या जो हैं, सो भवस्थ जीव के पर्याय हैं, सिद्ध तो अलेशी हैं। [११] भव्य, अभव्य, इन दोनों में सिद्धपना नहीं, क्योंकि भव्यजीव उस को कहते हैं, कि जिस को सिद्धपद की प्राप्ति होवेगी, परन्तु सिद्धों ने तो अब कोई नवीन सिद्ध पदवी पानी नहीं है, इस वास्ते भव्यपना सिद्धों में नहीं। अरु अभव्यजीव उस को कहते हैं, कि जिस में सिद्ध होने की योग्यता किसी काल में भी न होवे, ऐसा सिद्ध का जीव नहीं है। क्योंकि उस में अतीत काल में सिद्ध होने की योग्यता थी। इस वास्ते सिद्ध अभव्य भी

नहीं। सिद्ध जो है, सो नोभव्य नोअभव्य है। यह आप्त वचन भी है। [१२] क्षायिक, क्षायोपशमिक, उपशम, सास्वादन, अरु वेदक, यह पांच प्रकार का सम्यक्त्व है। इन का विपक्षी एक मिथ्यात्व, दूसरा सम्यक्त्व मिथ्यात्व—मिश्र है। तिन में से क्षायिक वर्जित चार सम्यक्त्व अरु मिथ्यात्व, तथा मिश्र, इन में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि यह सर्व क्षायोपशमिकादि भाववर्ती हैं। और क्षायिक सम्यक्त्व में सिद्ध पद है। क्षायिक सम्यक्त्व भी दो तरें का है। एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। तहां शुद्ध, अपाय, सत् द्रव्य रहित भवस्थ केवलियों के है। अरु सिद्धों के शुद्ध जीव स्वभावरूप सम्यक् दृष्टि है, सादि अपर्यवसान है। अरु अशुद्ध अपाय सहचारिणी श्रेणिकादिकों की तरें सम्यक् दृष्टि होना, यह क्षायिक सादि सपर्यवसान है। तहां अशुद्ध क्षायिक में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि उस के अपाय सहचारी हैं। अरु शुद्ध क्षायिक में तो सिद्ध सत्ता का विरोध नहीं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में भी शुद्ध क्षायिक रहता है। अपाय मतिज्ञानांश का नाम है। अरु सत् द्रव्य शुद्ध सम्यक्त्व के दलियों का नाम है। इन दोनों का अभाव होने से क्षायिक सम्यक्त्व के होता है। [१३] संज्ञा यद्यपि तीन प्रकार की है—१. हेतुवादोपदेशिनी, २. दृष्टिवादोपदेशिनी, ३. दीर्घकालिकी; तो भी दीर्घकालिकी संज्ञा करके जो संज्ञी हैं, वे ही व्यवहार में प्रायः

ग्रहण किये जाते हैं। संज्ञा होवे जिन के सो संज्ञी। जैसे कि यह करा है, यह करूंगा, यह मैं कर रहा हूं, ऐसे जो त्रिकालविषयक मनोविज्ञान वाले जीव हैं, तिन को संज्ञी कहते हैं। इन से जो विपरीत होवे, सो असंज्ञी जानने। संज्ञी तथा असंज्ञी, इन दोनों ही में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि सिद्ध तो नोसंज्ञी नोअसंज्ञी हैं। [१४] ओज आहार, लोम आहार, प्रक्षेप आहार, यह तीन प्रकार का आहार है। इन तीनों आहारों में सिद्ध नहीं। यह प्रथम सत्पद प्ररूपणद्वार कहा है।

दूसरा द्रव्य प्रमाण द्वार लिखते हैं। गिनती करिये तो सिद्धों के जीव अनंत हैं। तीसरा क्षेत्रद्वार–सो आकाश के एक देश में सर्व सिद्ध रहते हैं। वो आकाश का देश कितना बड़ा है, सो कहते हैं। कि धर्मास्तिकायादिक पांच द्रव्य जहां तक हैं, तहां तक लोक है, ऐसा जो लोक संबन्धी आकाश, तिस के असंख्यवें भाग में सिद्ध रहते हैं। चौथा स्पर्शना द्वार—सो जितने आकाश में सिद्ध रहते हैं, स्पर्शना उस से किंचित् अधिक है। पांचमा काल द्वार–सो एक सिद्ध के आश्रित सादि अनंतकाल है, और सर्व सिद्धाश्रित अनादि अनंतकाल जानना। छठा अंतरद्वार–सो सिद्धों के विचाले अंतर नहीं, सर्व सिद्ध मिल के एक ही रूपवत् रहते हैं। सातमा भाग द्वार–सो सिद्ध जो हैं, वो सर्व जीवों

के अनंतवें भाग में हैं। आठमा भाव द्वार—सो सिद्ध को क्षायिक और पारिणामिक भाव है, शेष भाव नहीं। नवमा अल्प बहुत्वद्वार—सो सर्व से थोडे अनंतरसिद्ध हैं। अनंतर-सिद्ध उन को कहते हैं कि जिन को, सिद्ध हुए एक समय हुआ है, तिन से परंपरा सिद्ध अनंत गुणे हुए हैं। छः मास सिद्ध होने में उत्कृष्ट अंतर होता है। यह मोक्षतत्त्व का स्वरूप संक्षेप मात्र से लिखा है, जेकर विशेष करके सिद्ध का स्वरूप देखना होवे, तदा नंदीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, सिद्धप्राभृतसूत्र, सिद्धपंचाशिका, देवाचार्यकृत नवतत्त्व प्रकरण की वृत्ति देख लेनी।

इति श्री तपागच्छीय मुनिश्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि
आनंदविजय—आत्माराम विरचिते जैनतत्त्वादर्शे
पंचमः परिच्छेदः संपूर्णः



षष्ठ परिच्छेद

इस षष्ठ परिच्छेद में चौदह गुणस्थान का स्वरूप किंचित् मात्र लिखते हैं:—

गुणस्थान के १४ भेद

यह भव्य जीवों को सिद्धिसौध पर चढ़ने के वास्ते गुणों की श्रेणी अर्थात् निसरणी है, तिस गुण निसरणी में पगधरण रूप—गुणों से गुणांतर की प्राप्तिरूप जो स्थान अर्थात् भूमिका है, सो चौदह हैं। तिन के नाम यह हैं:—

१. मिथ्यात्व गुणस्थान, २. सास्वादन गुणस्थान, ३. मिश्र गुणस्थान, ४. अविरतिसम्यक्दृष्टि गुणस्थान, ५. देशविरति गुणस्थान, ६. प्रमत्तसंयत गुणस्थान, ७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, ८. अपूर्वकरण गुणस्थान, ९. अनिवृत्तबादर गुणस्थान, १०. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान, ११. उपशांतमोह गुणस्थान, १२. क्षीणमोह गुणस्थान, १३. सयोगीकेवली गुणस्थान, १४. अयोगीकेवलीगुणस्थान। यह चौदह गुणस्थान, अर्थात् गुण रूप भूमिकाओं के नाम हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान

तहां प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं। उस में भी प्रथम व्यक्त, अव्यक्त मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं। जो स्पष्ट चैतन्य संज्ञी पंचेंद्रिय जीवों की अदेव, अगुरु और अधर्म, इन तीनों में क्रम करके देव, गुरु, और धर्म

की बुद्धि होवे, सो* व्यक्तमिथ्यात्व है। उपलक्षण से जीवादि नव पदार्थों में जिस की श्रद्धा नहीं, अरु जिनोक्त तत्त्व से जो विपरीत प्ररूपणा करनी, तथा जिनोक्त तत्त्व में संशय रखना, जिनोक्त तत्त्व में दूषणों का आरोप करना, इत्यादि। तथा अभिग्राहिकादि जो पांच मिथ्यात्व हैं, उन में एक अनाभोगिक मिथ्यात्व तो अव्यक्त मिथ्यात्व है शेष चार भेद व्यक्त मिथ्यात्व के हैं। तथा †"अधम्मे धम्मसण्णा" इत्यादि। दश प्रकार का जो मिथ्यात्व है, सो सर्व व्यक्त मिथ्यात्व है। अपर—दूसरा, जो अनादि काल से मोहनीय प्रकृति रूप, सद्दर्शनरूप आत्मा के गुण का आच्छादक, जीव के साथ सदा अविनाभावी है, सो अव्यक्त मिथ्यात्व है।

अब मिथ्यात्व को गुण स्थान किस रीति से कहते हैं, सो लिखते हैं। अनादि काल से अव्यवहार राशिवर्त्ती जीव में सदा से ही अव्यक्त मिथ्यात्व रहता है, परंतु उस में व्यक्त मिथ्यात्व बुद्धि की जो प्राप्ति है, उसी को मिथ्यात्व गुणस्थान के नाम से कहा है।

---

* अदेवागुर्वधर्मेषु या देवगुरुधर्मधीः।
तन्मिथ्यात्वं भवेद्व्यक्तमव्यक्तं मोहलक्षणम्॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ६ की वृत्ति]

† इस सूत्र का समग्रपाठ इस प्रकार हैः—

दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तं जहाः—अधम्मे धम्मसण्णा धम्मे अधम्मसण्णा उम्मग्गे मग्गसण्णा मग्गे उम्मग्गसण्णा अजीवेसु जीवसण्णा जीवेसु अजीवसण्णा असाहुसु साहुसण्णा, साहुसुआसाहुसण्णा अमुत्तेसु

प्रश्नः—*मिथ्यात्व गुणस्थान में सर्व जीवों के स्थान मिलते हैं, यह जैन शास्त्र का कथन है। तो फिर व्यक्त मिथ्यात्व की बुद्धि को गुणस्थान रूपता कैसे कहते हो ?

उत्तरः—†सर्वभाव सर्व जीवों ने पूर्व में अनंतवार पाया है। इस वचन के प्रमाण से जो प्राप्तव्यक्तमिथ्यात्व बुद्धि वाले जीव व्यवहार राशिवर्त्ती हैं, वे ही प्रथम गुणस्थान वाले जीव कहे जाते हैं, किंतु अव्यवहार राशिवर्त्ती जीव नहीं। वे तो अव्यक्त मिथ्यात्व वाले हैं, इस वास्ते कोई दोष नहीं।

अब मिथ्यात्व रूप दूषण का स्वरूप कहते हैं। जैसे जीव मनुष्यादिक प्राणी, मदिरा के उन्माद से नष्टचैतन्य होता हुआ अपना हित वा अहित, कुछ भी नहीं जानता है, तैसे

मुत्तसण्णा मुत्तेसु अमुत्तसण्णा।

छाया—दशविधं मिथ्यात्वं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अधर्मे धर्मसंज्ञा, धर्मे अधर्मसंज्ञा, उन्मार्गे मार्गसंज्ञा, मार्गे उन्मार्गसंज्ञा, अजीवेषु जीवसंज्ञा जीवेषु अजीवसंज्ञा, असाधुषु साधुसंज्ञा, साधुषु असाधुसंज्ञा, अमूर्तेषु मूर्त्तसंज्ञा, मूर्त्तेषु अमूर्तसंज्ञा। [स्थानां० स्था० १ सू० ७३४]

* "सव्वजिअठाणमिच्छे" गुण० क्रमा० की टीका में उद्धृत आगम वाक्य।

† "सर्वे भावा: सर्वजीवै: प्राप्तपूर्वा अनन्तशः"।

[श्लो० ६ की उक्त टीका में]

ही मिथ्यात्व करके मोहित जीव धर्माधर्म को सम्यक्—भली प्रकार नहीं जानता है । यदाहः—

* मिथ्यात्वेनालीढचित्ता नितांतं,
तत्त्वातत्त्वं जानते नैव जीवाः ।
किं जात्यंधाः कुत्रचिद्वस्तुजाते,
रम्यारम्यं व्यक्तिमासादयेयुः ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ८ की वृत्ति]

अभव्य जीवों की अपेक्षा जो मिथ्यात्व है, तथा सामान्य प्रकार से जो अव्यक्त मिथ्यात्व है, इन की स्थिति अनादि अनंत है, परन्तु भव्य जीवों की अपेक्षा वह स्थिति अनादि सांत है । यह स्थिति सामान्य प्रकार से मिथ्यात्व की अपेक्षा दिखलाई है । जेकर मिथ्यात्व गुणस्थानक की स्थिति का विचार करिये तो भव्य जीवों की अपेक्षा वह अनादि सांत और सादि सांत भी है । तथा अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है । मिथ्यात्व गुणस्थानक में रहा हुआ जीव एक सौ बीस बंधप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों में से तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति, आहारक शरीर, आहारकोपांग, यह तीन प्रकृति नहीं बांधता है, शेष एक सौ सतरां

* भावार्थः—मिथ्यात्वग्रसितचित्त जीव तत्त्वातत्त्व का किंचित् भी विचार नहीं कर सकते । जैसे कि जन्मांध प्राणी रम्यारम्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकते ।

प्रकृति का बंध करता है। तथा एक सौ बावीस जो उदय-प्रायोग्य कर्म प्रकृतियें हैं, तिन में से मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, आहारक, आहारकोपांग, तीर्थंकर नाम, यह पांच कर्मप्रकृति को वर्ज के शेष की एक सौ सतरां प्रकृति का उदय है। अरु एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृति की सत्ता है।

अब दूसरे सास्वादन नाम के गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं। उस में इस गुणस्थान का कारणभूत जो उपशम सम्यक्त्व है, प्रथम तिस का स्वरूप कहते हैं। जीव में अनादि काल संभूत मिथ्यात्व कर्म की उपशांति से—अनादि काल से उद्भव हुए मिथ्या कर्म के उपशम होने से अर्थात् ग्रन्थिभेद करने के समय से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह इस का सामान्य स्वरूप है। और विशेषस्वरूप ऐसे है। औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार का है। एक तो अंतरकरणौपशमिक सम्यक्त्व, दूसरा स्वश्रेणिगत अर्थात् उपशमश्रेणिगत औपशमिक सम्यक्त्व है। तहां अपूर्वकरण करके ही करा है ग्रन्थिभेद जिस ने, तथा नहीं करे हैं मिथ्यात्व कर्म रूप पुद्गलराशि के तीन पुंज जिसने [१. अशुद्ध, २. अर्द्ध-शुद्ध, ३. शुद्ध, इस में अशुद्ध पुंज जो है, सो मिथ्यात्व मोहनीय है, अरु अर्द्ध शुद्ध जो है, सो मिश्र मोहनीय है, तथा शुद्ध पुंज जो है, सो सम्यक्त्व मोहनीय है। इन का स्वरूप पीछे लिख आये हैं। यह तीन पुंज हैं] और

उदय में आये मिथ्यात्व का क्षय किया है, तथा जो मिथ्यात्व उदय में नहीं आया, तिस का उपशम किया है, एवं अन्तरकरण से अंतर्मुहूर्तकाल तक सर्वथा मिथ्यात्व के अवेदक को अंतरकरण औपशमिक सम्यक्त्व होता है । यह सम्यक्त्व जीव को एक ही वार होता है । तथा उपशमश्रेणिप्रतिपन्न को मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायों के उपशम होने से स्वश्रेणिगत औपशमिक सम्यक्त्व होता है । यह दोनों प्रकार का जो उपशम सम्यक्त्व है, सो सास्वादन नाम के दूसरे गुणस्थान के उत्पत्ति में मूल कारण है ।

सास्वादन गुणस्थान

अब सास्वादन का स्वरूप लिखते हैं । औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव शांत हुये अनंतानुबंधी चारों कषायों में से एक भी क्रोधादिक के उदय होने पर औपशमिकसम्यक्त्वरूप गिरिशिखर से यह जीव परिच्युत-भ्रष्ट हो जाता है । जहां तक वह मिथ्यात्व रूप भूतल को नहीं प्राप्त हुआ, तहां तक एक समय से ले कर षट् आवलिका प्रमाण समय तक सास्वादन गुणस्थानवर्त्ती होता है ।

प्रश्नः—व्यक्त बुद्धि प्राप्तिरूप प्रथम अरु मिश्रादि गुणस्थानों को उत्तरोत्तर चढ़ने का कारणभूत होने से तो गुणस्थानपना युक्त है । परंतु सम्यक्त्व से पड़ने वाले पतनरूप सास्वादन को गुणस्थानपना कैसे संभवे ?

उत्तरः—मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा सास्वादन भी

ऊर्ध्व आरोहणरूप होने से गुणस्थान है। क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान तो अभव्य जीवों को भी होता है, परन्तु सास्वादन तो भव्य जीवों ही को हो सकता है। भव्य जीवों में भी जिस का अर्द्ध पुद्गलपरावर्त्त शेष संसार है, तिस ही को होता है। इस वास्ते सास्वादन को भी मिथ्यात्व गुणस्थान से आरोहरूप गुणस्थानत्व हो सक्ता है। तथा सास्वदन गुण स्थान में वर्त्तता हुआ जीव, १. मिथ्यात्व, ४. *नरकत्रिक, ८. †एकेंद्रियादि जाति चतुष्क, ९. आतपनाम, १०. स्थावरनाम, ११. सूक्ष्मनाम, १२. अपर्याप्तनाम, १३. साधारणनाम, १४. हुंडकसंस्थान, १५. सेवार्त्तसंहनन, १६. नपुंसक वेद, यह सर्व सोलां प्रकृति के बंध का व्यवच्छेद करता है, और शेष की एक सौ एक प्रकृतियों का बंध करता है। तथा सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्वोदय, नरकानुपूर्वी, इन छ प्रकृतियों के उदय का व्यवच्छेद होने से १११ कर्म प्रकृतियों को वेदता है। तथा तीर्थंकर नाम की प्रकृति के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता है।

मिश्र गुणस्थान

अब तीसरे मिश्रगुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं। दर्शन मोहनीय कर्म की द्वितीय प्रकृति रूप मिश्र मोहकर्म के उदय से जीव विषयक जो समकाल समरूप करके सम्यक्त्व मिथ्यात्व

---

* नरक गति, नरकायु और नरकानुपूर्वी।

† एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक।

के मिलने से जो अन्तर्मुहूर्त यावत् मिश्रित भाव है, उस को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। तात्पर्य कि जो जीव सम्यक्त्व, मिथ्यात्व दोनों के एकत्र मिलने से मिश्र-भाव में वर्त्ते है, सो मिश्रगुणस्थानस्थ होता है। क्योंकि मिश्रपना जो है, सो दोनों के मिलने से एक जात्यंतर रूप है। जैसे घोड़ी और गधा, इन दोनों के संयोग से जात्यंतर खच्चर उत्पन्न होता है, अथवा जैसे गुड़ दही के मिलने से जात्यंतर रस शिखरणी रूप उत्पन्न होता है, तैसे ही जिस जीव को सर्वज्ञ असर्वज्ञ के कहे दोनों धर्मों में समबुद्धि से एक सरीखी श्रद्धा उत्पन्न होवे, सो जात्यंतरभेदात्मक होने से मिश्रगुणस्थान होता है। तथा जब यह जीव मिश्रगुण-स्थान वाला होता है, तब परभव का आयु नहीं बांधता है, अरु मिश्र गुणस्थान में वर्त्तता हुआ जीव, मरता भी नहीं है, वह या तो सम्यगदृष्टि होकर चौथे सम्यगदृष्टि गुणस्थान में आरोह करके मरता है, अथवा कुदृष्टि हो कर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक में पीछे आ कर मरता परन्तु किन्तु मिश्रगुण स्थान में रहता हुआ नहीं मरता। इस मिश्र गुण स्थान की तरे बारहवां क्षीणमोह, अरु तेरहवां सयोगी, इन दोनों गुणस्थानों में रहता हुआ भी जीव नहीं मरता है। शेष ग्यारह गुणस्थानों में काल कर जाता है। तथा मिथ्यात्व, सास्वादन और अविरति सम्यगदृष्टि, यह तीन गुणस्थान जीव के साथ परभव में जाते हैं। शेष के ग्यारह गुणस्थान

नहीं जाते। तथा जिन जीवों ने मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में पूर्व से आयु बांधा है, अरु पीछे उन को मिश्रगुणस्थान प्राप्त हुआ है। जब वह मरेगा, तब जिस गुणस्थान में उसने आयु बांधा है, उसी गुण स्थान में जाकर वह मरता है। और गति भी उसकी उसी मरण वाले गुणस्थान के अनुसार होती है। तथा मिश्रगुण स्थान वाला जीव, १. नरक गति, २. नरकायु, ३. नरकानुपूर्वी, ६. स्त्यानर्द्धित्रिक, ७. दुर्भग, ८. दुःस्वर, ९. अनादेय, १३. अनंतानुबंधी चार, १७. मध्य के चार संस्थान, २१. मध्य के चार संहनन, २२. नीच गोत्र, २३. उद्योत नाम, २४. अप्रशस्तविहायोगति, २५. स्त्रीवेद, इन पचीस प्रकृति के बन्ध का व्यवच्छेद करता है। तथा मनुष्यायु और देवायु को भी नहीं बांधता है। इन सत्तावीस प्रकृति के बिना शेष चौहत्तर प्रकृति का बन्ध करता है। तथा अनंतानुबन्धी चार, स्थावर नाम, एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, इन के उदय के व्यवच्छेद होने से मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, इन दोनों के उदय न होने से मिश्र का उदय होने से एक सौ प्रकृति को वेदता है। अरु पूर्वोक्त १४७ प्रकृति की सत्ता है।

अविरति सम्यग् दृष्टि गुणस्थान

अब चौथा अविरतिसम्यग् दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं। तहां प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति का स्वरूप कहते हैं। भव्य संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का यथोक्ततत्त्व—यथावत् सर्ववित् प्रणीत तत्त्वों में—जीवादि पदार्थों में निसर्ग से

अर्थात् पूर्वभव के अभ्यास विशेष अथवा गुरु के उपदेश से जो अत्यन्त निर्मल रुचि-भावना प्रगट-उत्पन्न होती है, सो सम्यक्त्व है । इसी को सम्यक् श्रद्धान भी कहते हैं । यदाहः-

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ।
जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा ॥

[यो० शा० प्र० १ श्लो० १७]

यह अविरति सम्यग्दृष्टिपना जैसे होता है, तैसे कहते हैं। दूसरा कषाय-अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से वर्जित विरतिपना-व्रत नियम रहित, केवल सम्यक्त्व मात्र ही जहां पर होवे, सो चौथे गुणस्थान वालों को अविरति सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान होता है। इस का तात्पर्य यह है, कि जैसे कोई पुरुष न्यायोपपन्न धन भोग विलास सौन्दर्यशालिकुल में उत्पन्न हुआ है, परन्तु दुरंत जूआ आदि व्यसनों के सेवन करने से अनेक प्रकारके अन्याय कर रहा है, सो किसी अपराध के करने से उसको राज से दण्ड मिला। तब वह पुरुष कोटवाल आदि राजकीय पुरुषों से विडंब्यमान, अपने व्यसन जनित कुत्सित कर्म को विरूप जानता हुआ, अपने कुल के सुन्दर सुख संपदा की अभिलाषा भी करता है, परन्तु कोटवालों से छूट कर सुख का उच्छ्वास भी नहीं ले सकता। तैसे ही यह जीव भी अविरतिपने को खोटे कर्म का फल जानता हुआ, विरति के सुन्दर सुख की अभिलाषा

भी करता है, परन्तु कोटवाल के समान दूसरे अप्रत्याख्यानी कषाय के पाशों से छूटने का उत्साह भी नहीं कर सकता। किन्तु अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का ही अनुभव करता है।

इस अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की स्थिति उत्कृष्टी तो कुछ अधिक तेत्तीस सागरोपम प्रमाण की है। परन्तु ३३ सागरोपम की यह स्थिति सर्वार्थसिद्धादि विमानवासियों की समझनी। और जो अधिक कही है, वह देवलोक से च्यव कर मनुष्य सम्बन्धी जाननी। तथा यह सम्यक्त्व उस जीव को प्राप्त होता है, जिसका अर्द्ध पुद्गलपरावर्त्त मात्र शेष संसार रह जाता है, दूसरों को नहीं।

अब सम्यग्दृष्टि का लक्षण कहते हैं। १. दुःखी जीव के दुःख दूर करने की जो चिन्ता, तिसका नाम कृपा है। २. किसी कारण से क्रोध उत्पन्न भी हो गया है, तो भी तीव्र अनुशय अर्थात् तीव्र वैर नहीं रखना, तिसका नाम प्रशम है। ३. सिद्धिसौध के चढ़ने के वास्ते सोपान के समान सम्यग् ज्ञानादि साधनों में उत्साह लक्षण मोक्षाभिलाषा का नाम संवेग है। ४. अत्यन्त कुत्सित संसाररूप बन्दीखाने से निकलने के वास्ते परम वैराग्य रूप दरवाज़े के पास आ जाने का नाम निर्वेद है। ५. श्री सर्वज्ञ प्रणीत समस्त भावों के अस्तित्व की चिन्तना का नाम आस्तिक्य है। यह पांच लक्षण जिस जीव में होवें, वह भव्य जीव सम्यग् दर्शन करके अलंकृत होता है।

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों की गति कहते हैं।

तीन करण

जीव के परिणाम विशेष को करण कहते हैं, सो करण तीन प्रकार का होता है—१. यथाप्रवृत्तिकरण, २. अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। तहां पर्वत की नदी के जल से आलोड्यमान पाषाण की तरह घंचना—घोलना न्याय से यह जीव आयु कर्म को वर्ज कर शेष सातों कर्मों की स्थिति को किंचित् न्यून एक कोटाकोटी सागरप्रमाण को करता हुआ, जिस अध्यवसाय विशेष से ग्रंथिदेश—ग्रंथिके समीप तक आता है, उसको यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। २. पूर्व में नहीं प्राप्त हुआ है जो अध्यवसायविशेष, तिस करके घन-निबिड राग द्वेष परिणतिरूप ग्रंथि के भेदने का जो आरम्भ, तिस को अपूर्वकरण कहते हैं। ३. तथा जिस अनिवर्त्तक अध्यवसाय विशेष से ग्रंथिभेद करके अति परम आनंद जनक सम्यक्त्व को यह जीव प्राप्त करता है, तिस का नाम अनिवृत्तिकरण है। यह तीनों करण का स्वरूप श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण आचार्य, आवश्यक की शुद्धांभोनिधिगंधहस्तीमहाभाष्य में लिखते हैं। तीन पथिक के दृष्टांत से तीनों करण का स्वरूप दिखाते हैं। जैसे तीन पथिक उजाड़ के रस्ते चले जाते थे, तहां चलते चलते विकाल वेला हो गई और सूर्य अस्त हो गया, तब वे पंथी मन में बहुत डरने लगे। इतने में उस वखत तत्काल वहां दो चोर आ पहुंचे। तिन चोरों को देखकर उन में से एक पथिक

तो डरता हुआ पीछे को दौड़ गया, अरु एक पथिक को चोरों ने पकड़ लिया, अरु एक पथिक तिन चोरों से लड़ भिड़ और मार पीट करके अगले नगर में पहुंच गया। यह तो दृष्टांत है। इस का दार्ष्टांत ऐसे है, कि उजाड़ तो मनुष्य भव है, तिस में कर्मों की जो स्थिति है, सो दीर्घ रास्ता है, और जो गांठ है, सो भय का स्थान है, अरु राग द्वेष यह दोनों चोर हैं। अब जो पुरुष पीछे को दौड़ा है, तिस की तो स्थिति संसार में रहने की अधिक हो जाती है, अरु जो पुरुष पकड़ा गया, वो गांठ के पास जाकर खड़ा हो गया, सो राग द्वेष चोरों ने पकड़ लिया, वो भी दुःखी है, अरु जिस ने सम्यक्त्व पा लिया, सो गाम में पहुंच गया, तातें सुखी भया। यह दृष्टांत तीनों करण के साथ जोड़ लेना।

अब कीडियों के दृष्टांत करके तीनों करणों का स्वरूप लिखते हैं, जैसे कितनी एक कीडियां बिल में से निकल कर एक खूंटे के तले भ्रमण करती हैं, कोई एक उस खूंटे के ऊपर चढ़ती हैं, अरु कितनी एक खूंटे के ऊपर चढ़ कर पंख लग जाने से उड गई हैं। यह तीनों करण भी इसी तरें जान लेने। तब तो यह जीव यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रंथि देश को प्राप्त होता है, और अपूर्वकरण करके ग्रंथिका भेद करता है। तथा ग्रंथिभेद करके कोई एक जीव मिथ्यात्व की पुद्गल राशि को विभाजित—बांट करके मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह, सम्यक्त्व मोह रूप तीन पुंज करता है। जब

अनिवृत्तिकरण करके विशुद्ध होकर उदय को प्राप्त हुए मिथ्यात्व को क्षय करके और उदय नहीं हुए को उपशांत कर देवे, तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जब जीव में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब उस को मनुष्यगति और देवगति की प्राप्ति होती है। तथा अपूर्वकरण करके जिस जीव ने तीन पुंज किये हैं, वह यदि चौथे गुणस्थान से ही क्षपकपने का जब आरम्भ करे तो अनंतानुबंधी चार, मिथ्यामोह, मिश्रमोह, अरु सम्यक्त्व मोहरूप तीनों पुंजों के क्षय होने से उसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जेकर अबद्धायु है, तब तो तिसी भव में मोक्ष को प्राप्त हो जावेगा। अरु जेकर आयु बांध कर पीछे से क्षायिकसम्यक्त्ववान् हुआ है, तब उस का तीसरे भव में मोक्ष होता है। तथा जेकर असंख्यात वर्ष जीने वाले मनुष्य ने तिर्यंच का आयु बांध कर पीछे से क्षायिकसम्यक्त्व को प्राप्त किया हो, तब चौथे भव में मोक्ष होता है।

अब अविरति गुणस्थानकवर्त्ती जीव का कृत्य लिखते हैं। व्रत नियम तो उस के कोई भी नहीं होता है, परन्तु देव में अर्थात् भगवान् श्रीवीतराग में, अरु उक्तलक्षण गुरु में तथा श्रीसंघ में क्रम करके भक्ति, पूजा, नमस्कार, वात्सल्यादि कृत्य करता है। तथा प्रभावक श्रावक होने से शासन की उन्नति-शासन की प्रभावना करता है। तथा अविरति

सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाला जीव तीर्थंकर नामकर्म, मनुष्यायु, देवायु, इन तीन प्रकृति को तीसरे गुणस्थान से अधिक बांधता है। इस वास्ते सतत्तर प्रकृति का बंध करता है। तथा मिश्र मोह के व्यवच्छेद होने से आनुपूर्वी चतुष्क, अरु सम्यक्त्वमोह के उदय होने से एक सौ चार कर्म प्रकृति को वेदता है। अरु क्षायिक सम्यकत्व वाले में १३८ प्रकृति की सत्ता होती है। अरु उपशम सम्यक्त्व वाले को चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत १४८ कर्म-प्रकृति की सत्ता है। तथा क्षायिकसम्यक्त्व वाले को जिस जिस गुण स्थान में जितनी जितनी कर्मप्रकृति की सत्ता है, वह आगे चल कर लिखेंगे।

देशविरति गुणस्थान

अथ पंचम गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं। जीव को सम्यग् तत्त्वावबोध से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य तिस से सर्वविरति की वांछा करता भी है, तो भी सर्वविरतिघातक प्रत्याख्यान नाम कषाय के उदय से सर्व विरति का अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं, किन्तु जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टरूप देशविरति ही हो सकता है। तिनमें जघन्य देशविरति-आकुट्टि स्थूलहिंसादि का त्याग, मद्य मांसादि का परिहार, अरु परमेष्ठि नमस्कार का स्मरण करता है। यदाहः—

*आउट्टि थूल हिंसाइ, मज्ज मंसाइचायओ ।
जहन्नो सावओ होइ, जो नमुक्कारधारओ ॥

[श्रा० दि० अवचूर्णी गा० २२५]

तथा मध्यम देशविरति—धर्म योग्य गुणों करी आकीर्ण, गृहस्थोचित षट्कर्म रूप धर्म में तत्पर, द्वादश व्रत का पालक, सदाचारवान् होवे, तो मध्यम श्रावक जानना। तथा उत्कृष्ट-देशविरति—सचित्त आहार का वर्जक, प्रतिदिन एकाशन करे, ब्रह्मचारी होवे, महाव्रत अंगीकार करने की इच्छा वाला होवे, गृहस्थ का धंदा जिस ने त्यागा है, ऐसा जो होवे, सो उत्कृष्टदेशविरति है । यह तीन प्रकार की विरति जिस को होवे, उस को श्राद्ध अर्थात् श्रावक कहते हैं। देशविरति की उत्कृष्टी स्थिति देशोनकोटिपूर्व की है।

अथ देशविरति गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इस गुणस्थान में १. अनिष्टयोगार्त्त, २. इष्टवियोगार्त्त, ३. रोगार्त्त, ४ निदानार्त्त, यह चार पाद रूप आर्त्तध्यान, तथा १. हिंसानंदरौद्र, २. मृषानन्दरौद्र, ३. चौर्यानंदरौद्र, ४. संरक्षणानंदरौद्र, यह चार पाद वाला रौद्र ध्यान है । देशविरति के आर्त्त और रौद्र ध्यान मंद होता है। जैसे जैसे देशविरति अधिक अधिकतर होती है, तैसे तैसे आर्त्त रौद्र

* आकुट्टिस्थूलहिंसादिमद्यमांसादित्यागात् ।
जघन्यः श्रावको भवति, यो नमस्कारधारकः ॥

ध्यान मंद मंदतर होता जाता है। अरु धर्म ध्यान तो जैसे जैसे देशविरति अधिक होती है, तैसे तैसे अधिक अधिक होता हुआ मध्यम रूप ही रहता है, किंतु उत्कृष्ट धर्मध्यान नहीं होता है। जेकर उत्कृष्ट धर्मध्यान हो जावे, तब सर्व विरति हो जायगा। इस पांचमे गुणस्थान संम्बन्धी धर्मध्यान में षट् कर्म, एकादश प्रतिमा, और श्रावक व्रत पालन का संभव है।

षट् कर्म का नाम कहते हैं:—१. तीर्थंकर अर्हन भगवंत वीतराग सर्वज्ञ की प्रतिमा द्वारा पूजा करे, २. गुरु की सेवा करे, ३. स्वाध्याय, ४. संयम. ५. तप, ६. दान, यह षट् कर्म हैं। यदुक्तं:—

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने दिने ॥

[उप० तरं०, तरं० ३ श्लो० १]

प्रतिमा अभिग्रहविशेष को कहते हैं, उस के नाममात्र यह हैं:—

* दंसण व्वय समाइय, पोसह पडिमा अबंभ सच्चित्ते।
आरंभ पेस उद्दिट्ठ, वज्जए समणभूए य ॥

[पंचा० प्रतिमाधि० गा० ५]

---

* छाया—दर्शनव्रतसामायिकपोषधप्रतिमाऽब्रह्मसचित्तानि।
आरम्भप्रेषोद्दिष्टवर्जकः श्रमणभूतश्च ॥

इन का विस्तार देखना होवे, तदा पंचाशकनामा शास्त्र के प्रतिमा पंचाशक में देख लेना । श्रावक के व्रत बारह हैं, सो आगे चल कर लिखेंगे । यह षट् कर्म, एकादश प्रतिमा, बारह व्रत, इन के पालन में मध्यम धर्म ध्यान होता है । तथा देशविरति गुणस्थानस्थ जीव अप्रत्याख्यानी चार कषाय, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, यह नरकत्रिक, आद्य संहनन तथा औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, यह औदारिक द्विक, यह सब मिलकर दश कर्मप्रकृति का बंधव्यवच्छेद होने से सतसठ कर्मप्रकृति का बंध करता है । तथा अप्रत्याख्यान चार, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकत्रिक, देव त्रिक, वैक्रिय द्विक, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, इन सतरां कर्मप्रकृतियों के उदय का व्यवच्छेद करने से सत्तासी कर्मप्रकृति को वेदता है । अरु एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है ।

पांचमे गुणस्थान के उपरांत जितने गुणस्थान हैं, तिन में से तेरहवें गुणस्थान को वर्ज के शेष के सर्व गुणस्थानों की अन्तर्मुहूर्त्त मात्र स्थिति है ।

अब छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं ।

प्रमत्त गुणस्थान

सर्व विरति साधु छठे प्रमत्त गुणस्थान में होता है, जो कि अहिंसादि पांच महाव्रत का धारक है । प्रमाद के होने से साधु प्रमत्त होता है । प्रमाद पांच प्रकार का है । यदाहः—

*मज्जं विसय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया ।
एए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० २७ की वृत्ति में संगृहीत]

भावार्थः—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, अरु विकथा, यह पांच प्रमाद हैं, सो जीव को संसार में गिराते हैं, जो साधु इन पांचों प्रमादों करके संयुक्त होवे, अरु संज्वलन कषाय का उदय होवे, तब महामुनि महाव्रती साधु अवश्य अन्तर्मुहूर्त्त काल तक सप्रमाद होने से प्रमादी होता है । जेकर अंतर्मुहूर्त्त से उपरांत भी प्रमादी होवे, तब तो प्रमत्त गुणस्थान से भी नीचे गिर पड़ता है, अरु जेकर अंतर्मुहूर्त्त से उपरांत भी प्रमाद रहित होवे, तो फिर अप्रमत्त गुणस्थान में चढ़ जाता है ।

अब प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं । इस गुणस्थान में मुख्य तो आर्त्तध्यान, उपलक्षण से रौद्र ध्यान का भी संभव है, क्योंकि उस में नोकषाय—हास्यादि षट्क की विद्यमानता रहती है । तथा आज्ञादि आलंबन युक्त धर्मध्यान की गौणता है । वह धर्मध्यान—१. आज्ञा, २. अपाय ३. विपाक, ४. और संस्थान विचय रूप आलम्बन युक्त होता है । तथा आज्ञा विचय, अपायविचय विपाकविचय

* छाया—मद्यं विषयकषाया निद्रा विकथा च पंचमी भणिता ।
एते पञ्चप्रमादा जीवं पातयन्ति संसारे ॥

और संस्थानविचय धर्मध्यान के चार पाद हैं। उक्तं च:—

आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य च चिंतनात्।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं चतुर्विधं ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० २८ की वृत्ति]

भावार्थः—आज्ञा उस को कहते हैं, कि जो कुछ सर्वज्ञ अर्हंत भगवंत ने कहा है, सो सर्व सत्य है। अरु जो बात मेरी समझ में नहीं आती है, वो मेरी बुद्धि की मंदता है। तथा दुषम काल के प्रभाव से, संशय मिटाने वाले गुरु के अभाव से, इत्यादि अन्य निमित्तों से मेरी समझ में नहीं आता। परन्तु अर्हंत भगवंत के कहे हुए वाक्य तो सत्य ही हैं, क्योंकि उन के मृषा बोलने का कोई भी निमित्त नहीं है। ऐसा जो चिंतन करना सो आज्ञा विचयनामा प्रथम भेद है। तथा राग, द्वेष, कषायादिकों से जो अपाय—कष्ट उत्पन्न होते हैं, तिन का जो चिंतन करना, सो अपाय विचयनामा दूसरा भेद है। तथा क्षण क्षण प्रति जो कर्मफलोदय विचित्र रूप से उत्पन्न होता है, सो विपाक विचयनामा तीसरा भेद है। तथा यह लोक अनादि अनंत है, अरु उत्पाद, व्यय, ध्रुव रूप सर्व पदार्थ हैं, तथा पुरुषाकार लोक का संस्थान है, ऐसा जो चिंतन करना, सो संस्थान विचयनामा चौथा भेद है। इत्यादि आलंबन युक्त धर्मध्यान की गौणता प्रमत्त गुणस्थान में है, किन्तु प्रमाद युक्त होने से मुख्यता नहीं।

*अथ जो कोई प्रमत्त गुणस्थान में निरालम्बन धर्मध्यान कहे, तिस का निषेध करते हैं । जिनभास्कर—जिनसूर्य ऐसे कह गये हैं, कि जो साधु जहां लगि प्रमाद संयुक्त होवे, तहां लगि तिस साधु को निरालंबन ध्यान नहीं होता है। क्योंकि इहां प्रमत्त गुणस्थान में मध्यम धर्मध्यान की भी गौणता ही कही है, परन्तु मुख्यता नहीं। तिस वास्ते प्रमत्त गुणस्थान में उत्कृष्ट निरालंब धर्मध्यान का संभव नहीं।

अथ जो यह अर्थ न माने, तिस को कहते हैं कि जो साधु प्रमाद युक्त भी आवश्यक-सामायिकादि षडावश्यकसाधक अनुष्ठान का परिहार करके निश्चल-निरालंबन ध्यानाश्रित होवे, वो साधु मिथ्यात्वमोहित—मिथ्याभाव करके मूढ हुआ २ जैनागम—श्रीसर्वज्ञप्रणीत शास्त्र को नहीं जानता। क्योंकि वो साधु व्यवहार को तो छोड़ बैठा है, और निश्चय को प्राप्त नहीं हुआ है। अरु जो जिनागम के जानने वाले हैं, सो तो व्यवहार पूर्वक ही निश्चय को साधते हैं। यदाहः—

†जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारनिच्छए मुयह ।
ववहारनउच्छेए, तित्थच्छेए जओ भणिओ ॥

[पञ्च वस्तुक गा० १७२]

---

* यह समग्र पाठ गुणस्थानक्रमारोह के श्लोक २९-३० की टीका का अक्षरशः अनुवाद है ।

† छाया:—यदि जिनमतं प्रपद्येथास्तन्मा व्यवहारनिश्चयौ मुञ्चः ।
व्यवहारनयोच्छेदे तीर्थोच्छेदो यतोऽवश्यम् ॥

अर्थः—जेकर जिनमत को अंगीकार करते हो, और जैनमत में साधु होते हो, तो व्यवहार निश्चय का त्याग मत करो। क्योंकि व्यवहार नय के उच्छेद होने से तीर्थ का उच्छेद हो जायगा। इस बात पर यह दृष्टांत है, कि कोई एक पुरुष अपने घर में सदा बाजरे की रोटी खाता है। किसी ने उस को निमन्त्रण करके अपूर्व मिष्टान्न का आहार कराया, तब वो उस के स्वाद का लोलुपी हो कर अपने घर की बाजरे की रोटी निःस्वाद जान कर खाता नहीं, और उस दुष्प्राप्य मिष्टान्न की अभिलाषा करता है, परन्तु वह मिष्टान्न उस को मिलता नहीं। तब वो जैसे उभयभ्रष्ट होता है, तैसे ही जीव भी कदाग्रहरूप भूत के लगने से प्रमत्तगुणस्थानसाध्य स्थूलमात्र पुण्यपुष्टि का कारण षडावश्यकादि कष्टक्रिया को नहीं करता हुआ, कदाचित् अप्रमत्त गुणस्थान में प्राप्त होने वाले अमृत आहार तुल्य निर्विकल्प मनोजनित समाधिरूप निरालंबन ध्यान के अंश को प्राप्त हो गया है, तब तिस निरालंबन ध्यान से उत्पन्न हुआ जो परमानंदरूप सुखस्वाद, तिस करके प्रमत्त गुणस्थानगत षडावश्यकादि कष्टक्रिया कर्म को कदन्न के समान जानकर कर उस का सम्यक् आराधन नहीं करता, और मिष्टान्न तुल्य निरालंबन ध्यानांश तो प्रथम संहनन के अभाव से प्राप्त होता नहीं है, तब षडावश्यक के न करने से उभयभ्रष्ट हो जाता है। क्योंकि निरालंबन ध्यान का मनोरथ ही पंचम काल के महामुनि ऋषियों ने करा है। तथाच पूर्वमहर्षयः—

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वशं,
तत्संहृत्य गतागतं च मरुतो धैर्यं समाश्रित्य च ।
पर्यंकेन मया शिवाय विधिवत् स्थित्वैकभूभृद्दरी-
मध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥१॥
चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागादिनिद्रामदे,
विद्राणेऽक्षकदंबके विघटिते ध्वांते भ्रमारंभके ।
आनंदे प्रविजृंभिते जिनपते ज्ञाने समुन्मीलिते,
मां द्रक्ष्यंति कदा वनस्थमभितो दुष्टाशयाः श्वापदाः ॥२॥

तथा श्रीसूरप्रभाचार्याः—

चित्तावदातैर्भवदागमानां,
वाग्भेषजै रागरुजं निवर्त्य ।
मया कदा प्रौढसमाधिलक्ष्मी-
र्निवर्त्यते निर्वृतिनिर्विपत्ता ॥३॥

तथा श्री हेमचन्द्रसूरयः—

वने पद्मासनासीनं, क्रोडस्थितमृगार्भकम् ।
कदा घ्रास्यंति वक्त्रे मां, जरन्तो मृगयूथपाः ॥४॥
शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि, निर्विशेषमतिः कदा ॥५॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ३० की वृत्ति में संगृहीत]

इन श्लोकों का थोड़ासा अर्थ भी लिख देते हैं:—१. चित्त की वृत्ति का निरोध करके, इन्द्रियसमूह और इंद्रियों के विषयों को दूर करके, तदनन्तर पवन अर्थात् श्वासोच्छ्वास की गतागति को रोक करके, अरु धैर्य का अवलंबन करके, पद्मासन से बैठ करके, शिवके वास्ते विधि संयुक्त किसी पर्वत की गुफा में बैठ करके, एक वस्तु पर दृष्टि रख कर, मुझ को अंतर्मुख, रहना योग्य है । २. चित्त के निश्चल होने पर राग, द्वेष, कषाय, निद्रा मद के शांत हुए, इन्द्रिय समूह के दूर हुए, तथा भ्रमारंभक अन्धकार के दूर होने से, आनंद के प्रगट बुद्धिमान् भये, ज्ञान के प्रकाश भये, ऐसी अवस्था में वन में रहे हुए मेरे को दुष्टाशय वाले सिंह कब देखेंगे? तथा श्रीसूरप्रभाचार्य भी कहते हैं:—३. हे भगवन् ! तुमारे आगमरूप भेषज से राग रूप रोग को निवृत्त करके, निर्मल चित्त होकर, कब वो दिन आवेगा कि जिस दिन मैं समाधि रूपी लक्ष्मी को देखूंगा ? तथा श्रीहेमचंद्र सूरि जी कहते हैं:—४. वन में पद्मासन से बैठे हुए और जिस की गोद में हिरण का बच्चा बैठा हुआ है, ऐसे मुझ को हिरणों के स्वामी बूढ़े मृग कब सूंघेंगे [अरु मैं अपनी समाधि में स्थित रहूं] ५. तथा शत्रु अरु मित्र में, तृण अरु स्त्री में, सुवर्ण अरु पाषाण में, मणि अरु मट्टि में, मोक्ष अरु संसार में निर्विशेषमति, मैं कब होऊंगा ? ऐसे ही मंत्री वस्तुपाल ने तथा परमत में भर्तृहरि ने भी मनोरथ ही करा है । इस प्रकार स्वसमय और

परसमय में जो प्रसिद्ध पुरुष हुये हैं, तिनों ने परमात्मतत्त्व संवित्ति में मनोरथ ही करा है। तथा मनोरथ जो लोक में करते हैं, सो दुष्प्राप्य वस्तु का ही करते हैं। जो वस्तु सुख से मिल जावे, तिस का मनोरथ कोई भी नहीं करता। जो सदा मिष्टान्न खाता है, अरु बड़ा भारी राज्य भोगता है, वो कभी मिष्टान्न खाने का अरु राज्य भोगने का मनोरथ नहीं करता। इस वास्ते सर्व प्रकार से प्रमत्तगुणस्थानस्थ विवेकी जनों ने परम संवेग में आरूढ होने वाले अप्रमत्त गुणस्थान का स्पर्श भी करा है। तो भी परम शुद्ध परमात्मतत्त्वसंवित्ति का मनोरथ तो करना। परन्तु उन को षट् कर्म, षडावश्यकादि व्यवहार क्रिया का परिहार कभी न करना चाहिये। और जो मूढ योगग्रह करके ग्रस्त हैं, अरु सदाचार व्यवहार से पराङ्मुख, हैं, तिन का योग भी किसी काम का नहीं है। उन का यह लोक भी नहीं और परलोक भी नहीं, क्योंकि वो जीव जडात्मा हैं। यतः—

योगिनः समतामेतां, प्राप्य कल्पलतामिव।
सदाचारमयीमस्यां, वृत्तिमातन्वतां बहिः॥
ये तु योगग्रहग्रस्ताः, सदाचारपराङ्मुखाः।
एवं तेषां न योगोऽपि, न लोकोऽपि जडात्मनाम्॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ३० की वृत्ति]

इस वास्ते साधु को जो दूषण दिन रात्रि में लगता है,

तिस के छेदने के वास्ते वह अवश्यमेव षडावश्यकादि क्रिया को करे। जहां तक कि ऊपर के गुणस्थानों करी साध्य जो निरालंबन ध्यान है, तिस की प्राप्ति न हो जावे। तथा प्रमत्त गुणस्थानस्थजीव चार प्रत्याख्यान के बंध का व्यवच्छेद होने से त्रेसठ प्रकृति का बंध करता है। तथा तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योत अरु प्रत्याख्यान चार, इन आठ प्रकृतियों के उदय का उच्छेद होने से, अरु आहारक तथा आहारकोपांग इन दो प्रकृतियों का उदय होने से इकासी प्रकृति को वेदता है, अरु उस में एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है।

अथ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं।

अप्रमत्तगुणस्थान

पांच महाव्रत धारी साधु पांच प्रकार के प्रमाद से रहित होने पर अप्रमत्तगुणस्थानस्थ होता है। क्योंकि उस में संज्वलन की चारों कषायों तथा नोकषायों का भी उदय मंद होवे है। तात्पर्य यह कि संज्वलन कषाय तथा नोकषायों का जैसा जैसा मंदोदय होता है, तैसे तैसे साधु अप्रमत्त होता है। यदाहः—

*यथा यथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि।

---

*भावार्थः—सुलभता से प्राप्त हुआ पांचों इन्द्रियों संबंधी विषयसुख ज्यों ज्यों मनुष्य को अरुचिकर होता है, त्यों त्यों उसे सम्यक् ज्ञान में

तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥
यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ३२ की वृत्ति]

तथा अप्रमत्त गुणस्थान वाला जीव जैसे मोहनीय कर्म के उपशम करने में तथा क्षय करने में निपुण होता है, तथा जैसे सद्ध्यान का आरम्भ करता है; सो कहते हैं:—

नष्टाशेषप्रमादात्मा व्रतशीलगुणान्वितः ।
ज्ञानध्यानधनो मौनी शमनक्षपणोन्मुखः ॥
सप्तकोत्तरमोहस्य प्रशमाय क्षयाय वा ।
सद्ध्यानसाधनारम्भं कुरुते मुनिपुंगवः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ३३—३४]

अर्थः—दूर करे हैं सर्व प्रमाद जिस ने ऐसा जो जीव, तथा पांच महाव्रत का धारक, अरु अष्टादश सहस्र जो शीलांग-लक्षण, तिनों करके संयुक्त, सदागम का अभ्यासी, ज्ञानवान्,

---

उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती जाती है, और ज्यों ज्यों उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती जाती है, त्यों त्यों सुलभ विषयसुख भी उसे अरुचिकर होता जाता है ।

ध्यान—एकाग्रता रूप, ऐसा ज्ञान ध्यानरूप जिस के पास धन है, इसी वास्ते "मौनी"—मौनवान् है, क्योंकि मौनवान् ही ध्यानरूप धनवान् हो सकता है। तदनन्तर ज्ञान ध्यान मौनवान् उपशम करने के वास्ते अथवा क्षय करने के वास्ते सन्मुख हुआ २ ऐसा पवित्र मुनि सप्तोत्तर मोह को, पूर्वोक्त सम्यक्त्व मोह, मिश्रमोह, मिथ्यात्वमोह, अरु अनंतानुबंधी चार, इन सात प्रकृति के विना शेष इक्कीस प्रकृतिरूप मोहनीय कर्म के उपशम करने के सन्मुख तथा क्षय करने के सन्मुख जब होता है, तब सालंबन ध्यान को त्याग के निरालंबन ध्यान में प्रवेश करने का आरंभ करता है। इस निरालंबन ध्यान में प्रवेश करने वाले योगी तीन तरे के होते हैं। यथा—१. प्रारंभक, २. तन्निष्ठ, ३. निष्पन्नयोग। यदाहः—

*सम्यग् नैसर्गिकीं वा विरतिपरिणतिं, प्राप्य सांसर्गिकीं वा,
क्वाप्येकांते निविष्टाः कपिचपलचलन्मानसस्तंभनाय ।
शश्वन्नासाग्रपालीघनघटितदृशो धीरवीरासनस्था
ये निष्कम्पाः समाधे र्विदधति विधिनारंभमारंभकास्ते ।१।

*भावार्थः—१. जो मनुष्य नैसर्गिक या सांसर्गिक विरति—व्रत नियम वाली आत्म परिणति को प्राप्त करके, बन्दर के समान चपल मन को निरुद्ध करने के लिये, किसी पर्वत की गुफा आदि एकांत स्थान में बैठकर तथा निरन्तर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगा कर निष्कम्प रूप वीरासन से विधिपूर्वक समाधि का प्रारम्भ करते हैं, उन्हें प्रारम्भक योगी कहते हैं।

कुर्वाणो मरुदासनेंद्रियमनःक्षुत्तर्षनिद्राजयं,
योऽन्तर्जल्पनिरूपणाभिरसकृत्तत्त्वं समभ्यस्यति ।
सत्त्वानामुपरि प्रमोदकरुणामैत्रीर्भृशं मन्यते,
ध्यानाधिष्ठितचेष्टयाऽभ्युदयते तस्येह तन्निष्ठता ॥२॥
उपरतबहिरन्तर्जल्पकल्लोलमाले,
लसदविकलविद्यापद्मिनीपूर्णमध्ये ।
सततममृतमन्तर्मानसे यस्य हंसः,
पिबति निरुपलेपः सोऽत्र निष्पन्नयोगी ॥३॥
[गुण० क्रमा. श्लो० ३४ की वृत्ति]

२. जो मनुष्य प्राणवायु, आसन, इन्द्रिय, मन, क्षुधा, पिपासा तथा निद्रा, इन सब को अपने वश में करके सर्व प्राणीमात्र पर प्रमोद भावना, कारुण्य भावना तथा मैत्री भावना को धारण करके अन्तर्जल्प रूप से, ध्यानाधिष्ठित चेष्टा से तत्त्वस्वरूप का चिन्तन करते हैं, उन्हें तन्निष्ठ योगी कहते है ।

३. जिन योगियों के हृदय में बाह्य तथा आन्तरिक जल्पकल्लोल उपशमता को प्राप्त हो गया है, अर्थात् जिन के हृदय में किसी भी प्रकार के संकल्प विकल्प पैदा ही नहीं होते । और स्वच्छ विद्यारूप विकसित कमलिनी से शोभित जिन के हृदय सरोवर में निर्लेपतया आत्मरूपी हंस सर्वदा स्वात्मानुभवरूप अमृत का पान करता है, उन्हें निष्पन्न योगी कहते हैं ।

अथ अप्रमत्त गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इस अप्रमत्त गुणस्थान में सर्वज्ञ का कहा हुआ धर्मध्यान मैत्र्यादि भेद से अनेक रूप होता है। यदाहः—

*मैत्र्यादिभिश्चतुर्भेदं, यद्वाज्ञादिचतुर्विधम् ।
रूपस्थादिचतुर्धा वा, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥१॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥२॥
आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य च चिंतनात् ।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥३॥
[गुण० क्रमा, श्लो० ३५ की वृत्ति]

तथा १. पिंडस्थध्यान—अपने अंग अंगीका स्वरूप, २. वाणीव्यापाररूप पदस्थध्यान, ३. संकल्पित आत्मरूप रूपस्थ

---

*१. मैत्री भावना आदि चार भेद या आज्ञा आदि चार भेद, अथवा पिण्डस्थादि चार भेदों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का कहा है।

२. धर्मध्यान को वृद्धि के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, इन चार भावनाओं को ध्याना चाहिये। क्योंकि ये इस की वृद्धि के लिये रसायन के तुल्य है।

३. आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, इन चार प्रकार के ध्येयों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का कहा है।

ध्यान, और ४. कल्पना से रहित रूपातीत ध्यान है । इस प्रकार जिनेश्वर का कहा हुआ धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में मुख्यवृत्ति—प्रधान रूप से होता है । तथा यह रूपातीत-ध्यान शुक्लध्यान का अंशमात्र होने से इस सातवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान भी आंशिकरूप से होता है । इस अप्रमत्त गुणस्थान में आवश्यक क्रिया का अभाव है, तो भी आत्म-शुद्धि होती है । अब यह वार्त्ता कहते हैं ।

इस पूर्वोक्त अप्रमत्त गुणस्थान में सामायिकादि षट् आवश्यक अपेक्षित नहीं हैं । तात्पर्य कि सामायिकादि छे आवश्यक—व्यवहार क्रिया रूप तो इस गुणस्थान में नहीं हैं, परंतु निश्चय सामायिकादि सब कुछ हैं । क्योंकि सामायिकादि सर्व आत्मा के गुण हैं । इस में *"आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे" [भग० श० १।३०९] अर्थात् आत्मा ही सामायिक है, अरु आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, यह आगमवचन प्रमाण है ।

प्रश्नः—किस वास्ते अप्रमत्त गुणस्थान में व्यवहार क्रिया रूप षट् आवश्यक नहीं ?

उत्तरः—अप्रमत्त गुणस्थान में निरंतर ध्यान के सत् योग से निरंतर ध्यान ही में प्रवृत्त होता है । इस वास्ते स्वाभाविक-सहजनित संकल्पविकल्पमाला के अभाव से एक स्वभावरूप निर्मल आत्मा होती है । इस गुणस्थान में

*आत्मा सामायिकः, आत्मा सामायिकस्यार्थः ।

वर्त्तमान जो जीव है, वो भावतीर्थस्नान करके परम शुद्धि को प्राप्त होता है। यदाहः—

*दाहोवसमं तण्हाइछेयणं मलप्पवाहणं चेव ।
तिहिं अत्थेहिं निउत्तं, तम्हा तं दव्वओ तित्थं ॥१॥
कोहंमि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तित्थं ।
लोहंमि उ निग्गहिए, तण्हाएछेयणं जाण ॥२॥
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिं भवेहिं संचियं जम्हा ।
तवसंयमेण धोयइ, तम्हा तं भावओ तित्थं ॥३॥

[आव० नि०, गा० १०६६—६७—६८]

अर्थः—१. जो दाह को उपशांत करे, तृषा का छेद करे, शरीर के मल को दूर करे। तात्पर्य कि इन पूर्वोक्त तीनों अर्थों करके जो नियुक्त होवे, ऐसे जो गंगा मागधादि—तिस को द्रव्यतीर्थ कहते हैं। २. तथा क्रोध के निग्रह करने से अन्तरंग

छायाः—दाहोपशमस्तृष्णाछेदनं मलप्रवाहणञ्चैव ।
त्रिभिरर्थैर्नियुक्तं तस्मात्तद्द्रव्यतस्तीर्थम् ॥१॥
क्रोधे तु निगृहीते, दाहस्योपशमनं भवति तीर्थम् ।
लोभे तु निगृहीते, तृष्णायाश्छेदनं जानीहि ॥२॥
अष्टविधं कर्मरजः बहुकैरपि भवैः संचितं यस्मात् ।
तपः संयमेन क्षालयति, तस्मात्तद्भावतस्तीर्थम् ॥३॥

दाह का उपशम होता है, अरु लोभ के निग्रह करने से अन्दर की तृष्णा रूप तृषा का छेद होता है, ऐसा जानना । ३. आठ प्रकार की कर्मरज जो बहुत से भवों में संचित की है, उसको तप संयम से जो धो देता है, इस वास्ते तिस को भावतीर्थ कहते हैं। अन्यच्च:—

रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृतेऽक्षप्रपंचे,
नेत्रस्पंदे निरस्ते प्रलयमुपगतेऽन्तर्विकल्पेंद्रजाले ।
भिन्ने मोहांधकारे प्रसरति महसि क्वापि विश्वप्रदीपे,
धन्यो ध्यानावलम्बो कलयति परमानन्दसिंधौ प्रवेशम् ॥

[गुण० क्रमा, श्लो० ३६ की वृत्ति]

अर्थः—प्राण-श्वासोच्छ्वास का प्रचार-आना जाना जिस ने रोका है, और जिस ने शरीर को वश किया है, और पांच इंद्रिय को अपने अपने विषय से रोका है, और जिस ने नेत्र का टपकारना-झपकना बन्द किया है, तथा अन्तर विकल्परूप इंद्रजाल के लय हुये, मोह रूप अन्धकार के नष्ट हुये, अरु त्रिभुवन प्रकाशक ज्ञान प्रदीप के प्रगट हुये, धन्य वो ध्यानावलम्बी पुरुष है, जो परमानन्दरूप समुद्र में प्रवेश करता है ।

अप्रमत्तगुणस्थानस्थ जीव १. शोक, २. रति, ३. अरति, ४. अस्थिर, ५. अशुभ, ६. अयश, ७. असातावेदनी, इन सातों प्रकृतियों का बन्धव्यवच्छेद करता है । अरु आहारक,

आहारकोपांग, इन दो प्रकृतियों का बंध करता है । इस वास्ते उनसठ प्रकृति का बंध करता है । तथा जेकर देवायु न बांधे, तब अट्ठावन प्रकृति का बंध करता है । यदि स्त्यानर्द्धि त्रिक, अरु आहारक द्विक के उदय का व्यवच्छेद करे, तब छिहत्तर प्रकृति का फल वेदता है । अरु १३८ प्रकृति की इस में सत्ता है ।

अब आठवां अपूर्वकरण, नवमा अनिवृत्तिबादर, दसवां सूक्ष्मसंपराय, ग्यारहवां उपशांतमोह, और बारहवां क्षीणमोह, इन पांच गुणस्थानों का नामार्थ सामान्य प्रकार से लिखते हैं ।

उक्त अप्रमत्तसंयत—सातमे गुणस्थान—वर्त्ती जीव चार संज्वलन कषाय, छे नो कषाय, इन के मंद होने पर अप्राप्तपूर्व अत्यन्त परमाह्लाद रूप अपूर्व पारिणामिक भाव जब प्राप्त होता है, तब वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आता है । इस का नाम अपूर्वकरण इस वास्ते कहते हैं; कि इस गुणस्थान में अपूर्व आत्मगुण की प्राप्ति होती है ।

तथा देखे, सुने और अनुभव किये हुए जो भोग, तिन की आकांक्षारूप संकल्प विकल्प से रहित, निश्चल परमात्मैकतत्त्वरूप प्रधान परिणतिरूप भावों की निवृत्ति नहीं होती, इस वास्ते इस नवमे गुणस्थान को अनिवृत्ति गुणस्थान कहते हैं । इसका नाम जो अनिवृत्तिबादर भी है, उस का कारण यह है, कि इसमें अप्रत्याख्यानादि जो द्वादश बादर

कषाय हैं, तिन का अरु नव नोकषायों का उपशमश्रेणी वाला उपशम करने के वास्ते अरु क्षपक—क्षपकश्रेणी वाला क्षय करने के वास्ते उद्यत रहता है।

तथा सूक्ष्म परमात्मतत्त्व के भावनाबल से मोहकर्म की बीस प्रकृति के उपशांत या क्षय होने पर एक सूक्ष्म खण्डीभूत लोभ का आंशिक अस्तित्व जहां है, सो सूक्ष्मसंपराय नामक गुणस्थान है। संपराय नाम कषाय का है, इस वास्ते सूक्ष्म संपराय यह दशमे गुणस्थान का नाम कहा।

तथा उपशमक—उपशमश्रेणी वाला अपने सहजस्वभाव ज्ञान बल से सकल मोह कर्म के उपशांत करने से उपशांत मोहनामक एकादशम गुणस्थान वाला होता है।

तथा क्षपक—क्षपकश्रेणी वाला क्षपकश्रेणी के मार्ग द्वारा दशमे गुणस्थान से ही ग्यारहवें में न जाकर निष्कषाय शुद्धात्मभावना के बल से सकल मोह के क्षय करने पर क्षीण-मोह नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। यह पांचों गुणस्थानों का सामान्य प्रकार से नामार्थ कहा।

अब अपूर्वकरणादि अंश से ही दोनों श्रेणिका आरोह कहते हैं। तहां अपूर्वकरण गुणस्थान में आरोह के समय में अपूर्वकरण के प्रथम अंश से ही उपशमक उपशमश्रेणि में चढ़ता है, अरु क्षपक क्षपकश्रेणि में चढ़ता है।

प्रथम उपशमश्रेणि के चढ़ने की योग्यता कहते हैं।

उपशमश्रेणि

उपशमक मुनि शुक्लध्यान का प्रथम पाया, जिस का स्वरूप आगे लिखेंगे, उस को ध्याता हुआ उपशमश्रेणि को अंगीकार करता है। वो मुनि पूर्वगत श्रुत का धारक, निरतिचार चारित्रवान् और आदि के तीन संहनन से युक्त होता है, अर्थात् ऐसी योग्यता वाला मुनि उपशमश्रेणि करता है।

उपशम श्रेणि वाला मुनि जेकर अल्प आयु वाला होवे, तब तो काल करके "अहमिंद्र" अर्थात् पांच अनुत्तर विमान में—सर्वार्थसिद्धादि देवों में उत्पन्न होता है। परन्तु जिस के प्रथम संहनन होवे, वो ही अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, क्योंकि अपर संहनन वाला अनुत्तर विमान में उत्पन्न नहीं होता। और सेवार्त्त संहनन वाला तो चौथे महेंद्र स्वर्ग तक जा सकता है। तथा कीलिकादि चार संहनन वालों के दो दो देवलोक की वृद्धि कर लेनी। अरु प्रथम संहनन वाला तो मोक्ष तक जाता है। अरु जो सात लव अधिक आयु वाला मोक्ष योग्य होता है, वोही सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है। यदाहः—

*सत्त लवा जइ आउं, पहुप्पमाणं तओ हु सिज्झंता।
तत्तिअमित्तं न हुयं, तत्तो लवसत्तमा जाया ॥१॥
सव्वट्ठ सिद्धनामे, उक्कोसठिइसु विजयमाईसु।
एगावसेसगब्भा, हवंति लवसत्तमा देवा ॥२॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ४१ की वृत्ति]

* छायाः—सप्तलवा यदि आयुः प्राभविष्यत् तदाऽसेत्स्यन्नेव।

प्रश्नः—उपशमश्रेणि वाला मोक्ष के योग्य कैसे हो सकता है ?

उत्तरः—सात जो लव है, सो एक मुहूर्त का ग्यारवां हिस्सा है, तब तो लवसप्तमावशेष आयु वाला ही खण्डित उपशमश्रेणि करने वाला पराङ्मुख हो कर सातमे गुणस्थान में आ करके फिर क्षपक श्रेणि में चढ़ कर सात लव के बीच ही में क्षीणमोह गुणस्थान में हो कर, अंतकृत केवली हो कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । इस वास्ते दूषण नहीं। तथा जो पुष्टायु उपशमश्रेणि करता है, सो अखण्डित श्रेणि करके, चारित्र मोहनीय का उपशम करके ग्यारवें गुणस्थान में पहुंच कर उपशमश्रेणि को समाप्त करके गिर पड़ता है।

अब औपशमिक जीव अपूर्वादि गुणस्थानों में जिन कर्म प्रकृतियों को उपशांत करता है, सो कहते हैं। संज्वलन लोभ को वर्ज के मोहनीय कर्म की शेष बीस प्रकृति को अपूर्वकरण अरु अनिवृत्तिबादर, इन दोनों गुणस्थानों में उपशम करता है। तिसके पीछे क्रम करके सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में संज्वलन के लोभ को सूक्ष्म करता है। तिस पीछे क्रम करके उपशांतमोह गुणस्थान में तिस सूक्ष्म लोभ का

तावन्मात्रं नाभूत् ततो लवसप्तमा जाताः ॥१॥

सर्वार्थसिद्ध नाम्नि (विमाने) उत्कृष्टस्थितिषु विजयादिषु ।

एकावशेषगर्भा भवन्ति लवसप्तमा देवाः ॥२॥

सर्वथा उपशम करता है । तथा यहां उपशांतमोह गुण स्थान में जीव एक प्रकृति—सातावेदनीयरूप बांधता है, और उनसठ प्रकृति को वेदता है, तथा १४८ प्रकृति की उत्कृष्टी सत्ता है ।

अथ उपशांतमोह गुणस्थान में जैसा सम्यक्त्व चारित्र और भाव होता है, सो कहते हैं । इस उपशांतमोह गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्व अरु उपशम चारित्र होता है । तथा भाव भी उपशम ही होता है, किन्तु क्षायिक भाव तथा क्षायोपशमिक भाव नहीं होता है ।

अब उपशांतमोह गुणस्थान से जैसे जीव पड़ जाता है, सो कहते हैं । उपशमी मुनि तीव्र मोहोदय अर्थात् चारित्र मोहनीय का उदय पा करके उपशांतमोह गुणस्थान से पड़ जाता है । फिर मोहजनित प्रमाद में पतित होता है । जैसे कि पानी में मल नीचे बैठ जाने पर ऊपर से निर्मल हो जाता है । परन्तु फिर कोई निमित्त पाकर वह मलिन हो जाता है । यथाह:—

* सुयकेवलि आहारग, उजुमई उवसंतगावि हु पमाया ।
हिंडंति भवमणंतं, तयणंतरमेव चउगइआ ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ४४ की वृत्ति]

* श्रुतकेवलिन आहारका ऋजुमतय उपशान्तका अपि च प्रमादात् ।
हिण्डन्ति भवमनन्तं तदनन्तरमेव चतुर्गतिकाः ॥

अर्थः—श्रुतकेवली, आहारक शरीरी, ऋजुमति, उपशांत मोह वाला, यह सर्व प्रमाद के वश में अनन्त भव करते हैं, प्रमाद के वश से चार गति में वास करते हैं।

अथ उपशमक जीवों को गुणस्थानों से चढना अरु पडना जिस तरह होता है, सो कहते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थान से अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में जाता है, अरु अनिवृत्तिबादरगुणस्थान से सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में जाता है, अरु सूक्ष्मसंपराय वाला उपशांतमोह गुणस्थान में जाता है। तथा अपूर्वकरणादि चारों गुणस्थान से उपशमश्रेणि वाला पडकर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है। जेकर चरमशरीरी होवे, तब सातमे गुणस्थान तक आकरके फिर सातमे गुणस्थान से क्षपकश्रेणि में आरूढ होता है। परन्तु जिसने एक बार उपशमश्रेणि करी होवे, सो क्षपक श्रेणि कर सकता है, अरु जिसने एक भव में दो वार उपशम श्रेणि करी होवे, सो तिसी भव में क्षपक श्रेणि नहीं कर सकता। यदाहः—

गुणस्थानों का आरोहावरोह

* जीवो हु एगजम्मंमि, इक्कसिं उवसामगो।
खयंपि कुज्जा नो कुज्जा, दोवारे उवसामगो॥

[गुण. क्रमा. श्लो० ४५ की वृत्ति]

छायाः—* जीवश्चैकजन्मनि एकश उपशामकः।
क्षयमपि कुर्यात् नो कुर्यात् द्विकृत्व उपशामकः॥

अथ उपशमश्रेणि वाले के भवों की संख्या कहते हैं। इस संसार में बहुत भवों में वार वार उपशमश्रेणि होती है, अरु एक भव में दो वार होती है। यदाहः—

*उवसमसेणिचउक्कं, जायइ जीवस्स आभवं नूणं।
सा पुण दो एगभवे, खवगस्सेणी पुणो एगा ॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ४६ की वृत्ति]

तथा उपशमश्रेणि की स्थापना इस अगले यन्त्र से जान लेनी। इस यंत्र की संवादक यह गाथा है:—

† अणदंसणपुंसित्थीवेअछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥

[आव. नि. गा. ११६]

अर्थ—प्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, अरु लोभ इन चारों का उपशम करता है, पीछे मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह अरु सम्यक्त्वमोह, इन तीनों का उपशम करता है, पीछे नपुंसक वेद, पीछे से स्त्रीवेद, फिर हास्य, रति

छाया:—*उपशमश्रेणिचतुष्कं जायते जीवस्याभवं नूनम्।
सा पुनर्द्वे एकभवे, क्षपकश्रेणिः पुनरेका ॥

† अणदर्शनपुंसकस्त्रीवेदषट्कं च पुरुषवेदं च।
द्वौ द्वौ एकान्तरितौ सदृशे सदृशं उपशमयति ॥

अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, इन छ प्रकृति का उपशम करता है, फिर पुरुषवेद, फिर अप्रत्याख्यानी क्रोध अरु प्रत्याख्यानी क्रोध, फिर संज्वलन क्रोध, फिर अप्रत्याख्यानी अरु प्रत्याख्यानी मान, फिर संज्वलन मान, फिर अप्रत्याख्यानी अरु प्रत्याख्यानी माया, फिर संज्वलन माया, फिर अप्रत्याख्यानी अरु प्रत्याख्यानी लोभ, फिर संज्वलन लोभ को उपशांत करता है।

क्षपकश्रेणि

अथ क्षपकश्रेणि का स्वरूप लिखते हैं। प्रथम जिस क्षपकश्रेणि में चढ़ कर योगी-क्षपक मुनि कर्म क्षय करने में प्रवृत्त होता हुआ अष्टम गुणस्थान से पहिले जिन कर्म प्रकृतियों को क्षय करता है, सो लिखते हैं। चरमशरीरी अबद्धायु, अल्पकर्मी, क्षपक के चौथे गुणस्थान में नरकायु का क्षय हो जाता है अर्थात् नरक योग्य आयु का बंध नहीं करता है। तथा पांचमे गुणस्थान में तिर्यगायु का क्षय होता है, अरु सातमे गुणस्थान में देवायु का क्षय होजाता है, तथा सातमे गुणस्थान में दर्शनमोह सप्तकका भी क्षय होजाता है, तिस पीछे क्षपक साधु के एक सौ अड़तीस कर्म प्रकृति की सत्ता रहती है, तब वह आठमे गुणस्थान को प्राप्त होता है। तथा यह क्षपक महात्मा कैसा है? रूपातीत लक्षणरूप उत्कृष्ट धर्म ध्यान का जिसने पूर्ण अभ्यास किया है। क्योंकि अभ्यास करके ही तत्त्व की प्राप्ति होती है। यदाह—

अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितासनः ।
अभ्यासेन जितश्वासोऽभ्यासेनैवानिलत्रुटिः ॥ १ ॥
अभ्यासेन स्थिरं चित्तमभ्यासेन जितेन्द्रियः ।
अभ्यासेन परानंदोऽभ्यासेनैवात्मदर्शनम् ॥ २ ॥
अभ्यासवर्जितैर्ध्यानैः शास्त्रस्थैः फलमस्ति न ।
भवेन्न हि फलैस्तृप्तिः पानीयप्रतिबिम्बितैः ॥ ३॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५० की वृत्ति]

इस वास्ते अभ्यास से ही विशुद्ध-निर्मल तत्त्वानुयायी बुद्धि होती है।

अथ अष्टम गुणस्थान में शुक्लध्यान का आरम्भ कहते हैं। आद्य संहनन वाला क्षपक साधु इस आठमे गुणस्थान में शुक्लसद्ध्यान—शुक्ल नामक प्रधान ध्यान का प्रथम पाद—पृथक्त्व वितर्क सप्रविचार स्वरूप का आरम्भ करता है।

अथ ध्यान करने वाले का स्वरूप लिखते हैं। योगीन्द्र—

योगी का स्वरूप

क्षपक मुनीन्द्र व्यवहार नय की अपेक्षा से निबिड-दृढ पर्यंकासन करके—निश्चल आसन करके, ध्यान करने योग्य होता है। क्योंकि आसनजय ही ध्यान का प्रथम प्राण है। यदाह—

* आहारासणनिद्दाजयं च काउण जिणवरमएण ।
झाइज्जइ निय अप्पा, उवइट्ठं जिणवरिंदेण ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५२ की वृत्ति]

पर्यंकासन-जंघा के अधोभाग में पग ऊपर करने से होता है, तथा कोई एक इसको सिद्धासन भी कहते हैं, तिसका स्वरूप ऐसा है—

योनिं वामपदाऽपरेण निबिडं संपीड्य शिश्नं हनु,
न्यस्योरस्यचलेन्द्रियः स्थिरमना लोलां च तात्वंतरे ।
वंशस्थैर्यतया सुनिश्चलतया पश्यन् भ्रुवोरंतरम्,
योगी योगविधिप्रसाधनकृते, सिद्धासनं साधयेत् ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५३ की वृत्ति]

अथवा आसन का कोई नियम नहीं, चाहे कोई भी आसन होवे, जिस आसन में चित्त स्थिर हो जावे, सोई आसन ठीक है । सो कैसा योगीन्द्र है, कि नासिका के अग्र में दीनी है सत् नेत्र की दृष्टि अर्थात् प्रसन्न नेत्र हैं जिसके क्योंकि नासाग्रन्यस्तलोचन वाला ही ध्यान का साधक होता है । यदाह ध्यानदंडकस्तुतौ—

* आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन ।
ध्यायते निजक आत्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रेण ॥

नासावंशाग्रभागस्थितनयनयुगो मुक्तताराप्रचारः,
शेषाक्षक्षीणवृत्तिस्त्रिभुवनविवरोद्भ्रांतयोगैकचक्षुः ।
पर्यंकातंकशून्यः परिकलितघनोच्छ्वासनिःश्वासवातः,
सद्ध्यानारंभमूर्तिश्चिरमवतु जिनो जन्मसंभूतिभीतेः ॥

[गुण० कमा० श्लो० ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा है योगीन्द्र ? किंचित् उन्मीलित—अर्धविकसित हैं नेत्र जिसके, क्योंकि योगियों के समाधि समय में अर्द्ध विकसित नेत्र होते हैं । यदाह—

गंभीरस्तंभमूर्त्तिर्व्यपगतकरणव्यापृतिर्मन्दमंदं,
प्राणायामो ललाटस्थलनिहितमना दत्तनासाग्रदृष्टिः ।
नाप्युन्मीलन्निमीलन्नयनमतितरां बद्धपर्यंकबंधो,
ध्यानं प्रध्याय शुक्लं सकलविदनवद्यः स पायाज्जिनो वः ॥

[गुण. कमा. श्लो. ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा योगीन्द्र है ? कि जिसने अपने मानस—चित्त—अन्तःकरण को विकल्परूप वागुरा के बन्धन से दूर करा है, क्योंकि विकल्प ही दृढ कर्मबन्धन का हेतु है । यदाहः—

अशुभा वा शुभा वापि विकल्पा यस्य चेतसि ।
स स्वं बध्नात्ययःस्वर्णबंधनाभेन कर्मणा ॥ १ ॥

वरं निद्रा वरं मूर्च्छा वरं विकलतापि वा ।
नत्वार्त्तरौद्रदुर्लेश्याविकल्पाकुलितं मनः ॥ २ ॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ५३. की वृत्ति]

फिर कैसा है योगी ? संसार के उच्छेद करने वास्ते उद्यम है जिस का, क्योंकि भवच्छेदक ध्यानार्थ उत्साह वालों के ही योग की सिद्धि होती है । यदाहः—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्संतोषात्तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ५३ की वृत्ति]

तथा मुनि—योगीन्द्र अपान द्वार मार्ग से गुदा के रास्ते अपनी इच्छा से निकलते हुए पवन को अपनी शक्ति से निरुद्ध—रोक कर ऊपर दशवें द्वार में चढ़ाता है, अर्थात् मूल बन्ध की युक्ति करके प्राण वायु को रोक कर ऊपर ले जाता है । मूलबन्ध तो यह हैः—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्द्धमाकृष्य, मूलबंधो निगद्यते ॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ५४ की वृत्ति]

यह आकुंचनकर्म ही प्राणायाम का मूल है । यदुक्तं ध्यानदण्डकस्तुतौः—

संकोच्यापानरंध्रं हुतवहसदृशं तंतुवत्सूक्ष्मरूपं,
धृत्वा हृत्पद्मकोशे तदनु च गळके तालुनि प्राणशक्तिम्।
नीत्वा शून्यातिशून्यां पुनरपि खगतिं दीप्यमानां समन्ता-
ल्लोकालोकावलोकां कलयति सकलां यस्य तुष्टो जिनेशः ॥

(गुण. क्रमा. श्लो. ५४ की वृत्ति)

अथ पूरक प्राणायाम कहते हैं।

द्वादशांगुलपर्यन्तं समाकृष्य समीरणम्।
पूरयत्यतियत्नेन पूरकध्यानयोगतः ॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ५५]

अर्थः—योगी पूरक ध्यान के योग से अति प्रयत्न करके सकल देहगत नाडीसमूह को पवन करके पूरता है। क्या करके ? द्वादशांगुल पर्यन्त पवन को आकर्षण करके अर्थात् बारह अंगुलप्रमाण बाहिर से वायु को खैंच करके पूरता है।

प्राणायाम का स्वरूप

यहां यह तात्पर्यार्थ है कि आकाश तत्त्व के वहते हुए नासिका के अन्दर ही पवन होता है, अरु अग्नि तत्त्व के वहते हुए चार अंगुल प्रमाण बाहिर ऊर्ध्वगति में स्फुरित होता है, वायु तत्त्व के वहते हुए छ अंगुल प्रमाण बाहिर तिर्यग् में फिरता है, पृथिवी तत्त्व के वहते हुए आठ अंगुल प्रमाण बाहिर मध्यम भाग में रहता है, और जल तत्त्व के वहते

हुए बारह अंगुल प्रमाण नीचे को बहता है । तब द्वादश अंगुल पर्यंत वारुण मंडल में प्रचार करने वाले अमृतमय पवन को आकर्षण करके जो अपने शरीर के कोष्ठ को योगी पूर्ण करता है, उस का नाम पूरक ध्यान-कर्म कहते हैं ।

अथ रेचक प्राणायाम कहते हैं । पूरक ध्यान के अनंतर साधक—योगी योगसामर्थ्य से अरु प्राणायाम के अभ्यास के बल से रेचक नामा पवन को नाभिकमलोदर से हलुवे हलुवे (धीरे २)जो बाहिर काढ़ता है, तिस को रेचक ध्यान कहते हैं । यदाह:—

वज्रासनस्थिरवपुः स्थिरधीः स्वचित्त-
मारोप्य रेचकसमीरणजन्मचक्रे ।
स्वांतेन रेचयति नाडिगतं समीरं,
तत्कर्म रेचकमिति प्रतिपत्तिमेति ॥

[गुण० क्रम० श्लो० ५६ की वृत्ति]

अथ कुंभक ध्यान कहते हैं । योगी कुंभकनामा पवन को नाभिपंकज में कुंभक ध्यान-अर्थात् कुम्भक कर्म के प्रयोग से कुंभवत्—घटाकार करके अत्यन्त स्थिर करता है, सो कुंभक ध्यान है । यदाह:—

चेतसि श्रयति कुंभकचक्रं, नाडिकासु निबिडीकृतवातः।
कुंभवत्तरति यज्जलमध्ये, तद्वदन्ति किल कुंभककर्म॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५७ की वृत्ति]

अब पवन के जीतने से मन जीता जाता है, यह बात कहते हैं। क्योंकि जहां मन है, तहां पवन है, अरु जहां पवन है, तहां मन वर्त्तता है। यदाहः—

दुग्धांबुवत्संमिलितौ सदैव, तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि,
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यावन्मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिः।
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः,
विध्वस्तयोरिंद्रियवर्गशुद्धिस्तद्ध्वंसनान्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

इस प्रकार पूरक, रेचक और कुंभक के क्रम से पवनों के आकुंचन, निर्गमन को सिद्ध करके चित्त की एकाग्रता से समाधि विषे निश्चलपने को धारण करता है। क्योंकि पवन के जीतने से ही मन निश्चल होता है। यदाहः—

प्रचलति यदि क्षोणीचक्रं चलंत्यचला अपि,
प्रलयपवनप्रेंखालोलाश्चलंति पयोधयः।
पवनजयिनः सावष्टंभप्रकाशितशक्तयः,
स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाच्चलंति न योगिनः॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

अब भाव की ही प्रधानता कहते हैं:—

प्राणायामक्रमप्रौढिरत्र रूढ्यैव दर्शिता ।
क्षपकस्य यतः श्रेण्यारोहे भावो हि कारणम् ॥
[गुण० क्रमा० श्लो० ५६]

अर्थ:—इहां क्षपक श्रेणि के आरोह विषे में जो प्राणायाम क्रम प्रौढि अर्थात् पवन के अभ्यासक्रम की प्रगल्भता, सो रूढि से—प्रसिद्धि से यहां दिखलायी है। परन्तु प्राणायाम करे, तो ही क्षपकश्रेणि चढ़े, ऐसा कुछ नियम नहीं। क्योंकि क्षपक का केवल भाव ही क्षपक श्रेणि का कारण है, प्राणायामादि का आडम्बर नहीं। चर्पटी ने भी कहा है—

मासाकंदं नाडीवृंदं, वायोश्चारः प्रत्याहारः ।
प्राणायामो बीजग्रामो, ध्यानाभ्यासो मन्त्रन्यासः॥१॥
हृत्पद्मस्थं भ्रूमध्यस्थं, नासाग्रस्थं श्वासांतःस्थम् ।
तेजः शुद्धं ध्यानं बुद्धं ओंकाराख्यं सूर्यमख्यम् ॥२॥
ब्रह्माकाशं शून्याभासं, मिथ्याजल्पं चिंताकल्पम् ।
कायाक्रांतं चित्तभ्रांतं, त्यक्त्वा सर्वं मिथ्यागर्वम्॥३॥
गुर्वादिष्टं चिंतोत्सृष्टं, देहातीतं भावोपेतम् ।
त्यक्तद्वंद्वं नित्यानंदं, शुद्धं तत्त्वं जानीहि त्वम् ॥४॥

अन्यच्च:—

ओंकाराऽभ्यसनं विचित्रकरणैः प्राणस्य वायोर्जयात्,
तेजश्चिंतनमात्मकायकमले शून्यांतरालंबनम्।
त्यक्त्वा सर्वमिदं कलेवरगतं चिंतामनोविभ्रमं,
तत्त्वं पश्यत जल्पकल्पनकलातीतं स्वभावस्थितम्॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ५९ की वृत्ति]

यह सर्व रूढि करके क्षपकश्रेणि के आडंबर हैं, परन्तु तत्त्व में मरुदेवादिवत् भाव ही प्रधान है।

अथ आद्य शुक्लध्यान का नाम कहते हैं:—

सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम्।
त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम्॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ६०]

शुक्लध्यान और उसके भेद

अर्थः—मन, वचन अरु काया के योग वाले मुनि को प्रथम शुक्लध्यान कहा है। सो कैसा है? वितर्क के सहित जो वर्ते सो सवितर्क, विचार के सहित जो वर्ते सो सविचार, तथा पृथक्त्व के सहित जो वर्ते सो सपृथक्त्व है। इन तीनों विशेषणों करके संयुक्त होने से सपृथक्त्व—सवितर्क—सविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है। इन तीनों विशेषणों का स्वरूप कहते हैं। यह पूर्वोक्त प्रथम शुक्लध्यान, त्रयात्मक–क्रमोत्क्रम

करके गृहीत तीन विशेषण रूप है । तहां श्रुतचिंता रूप वितर्क है, अर्थशब्दयोगांतर में जो संक्रमण करना, सो विचार है । द्रव्य, गुण, पर्यायादि करके जो अन्यपना है, सो पृथक्त्व है ।

अब इन तीनों का प्रगट अर्थ कहते हैं । उस में प्रथम वितर्क का स्वरूप कहते हैं । जिस ध्यान में अंतरंग ध्वनि रूप वितर्क—विचारणा रूप होवे, सो सवितर्क ध्यान है । स्वकीय निर्मल परमात्मतत्त्व अनुभवमय अंतरंग भावगत आगम के अवलंबन से सवितर्क ध्यान है ।

अब सविचार कहते हैं । जिस ध्यान में पूर्वोक्त वितर्क-विचारणारूप, अर्थ से अर्थांतर में संक्रम होवे, शब्द से शब्दांतर में संक्रम होवे, योग से योगांतर में संक्रम होवे, सो ध्यान, सविचार संक्रमण है ।

अब पृथक्त्व का स्वरूप कहते हैं । जिस ध्यान में वो पूर्वोक्त वितर्क सविचार अर्थ व्यंजन योगांतरों में संक्रमण रूप भी स्वकीय शुद्ध आत्म द्रव्यांतर में जाता है, अथवा गुणों से गुणांतर में जाता है, अथवा पर्यायों से पर्यायांतर में जाता है । *जो सहजात है, सो गुण है, जैसे सुवर्ण में

*सहजाता गुणा द्रव्ये सुवर्णे पीतता यथा ।
क्रमभूतास्तु पर्याया मुद्राकुण्डलतादयः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ६४ की वृत्ति [

पीतता है, अरु जो क्रमभूत है, सो पर्याय है, जैसे सुवर्ण में मुद्रा कुंडलादिक हैं। तिन द्रव्य गुण पर्यायांतरों में जिस ध्यान में अन्यत्व—पृथक्त्व है, सो सपृथक्त्व है।

अथ आद्य शुक्लध्यान करके जो शुद्धि होती है, सो कहते हैं। ऊपर तीन भेद जिसके बतलाये हैं, ऐसा जो पृथक्त्व वितर्क विचाररूप प्रथम शुक्लध्यान है, उसको ध्याता हुआ समाधि वाला योगी परम—प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त होता है, जो शुद्धि मुक्तिरूप लक्ष्मी के मुख के दिखलाने वाली है।

अथ इस ही का विशेष स्वरूप कहते हैं। यद्यपि यह शुक्लध्यान प्रतिपाती—पतनशील उत्पन्न होता है, तो भी अति विशुद्ध—अति निर्मल होने से अगले गुणस्थान में चढ़ना चाहता है, एतावता अगले गुणस्थान को दौड़ता है, तथा अपूर्वकरण गुणस्थानस्थ जीव निद्राद्विक, देवद्विक, पचेंद्रिय जाति, प्रशस्त विहायोगति, त्रसनवक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, वैक्रियोपांग, आहारकोपांग, आद्य संस्थान, निर्माण, तीर्थंकरनाम, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, यह बत्तीस कर्म प्रकृति का व्यवच्छेद होने से छव्वीस कर्म प्रकृति का बन्ध करता है। तथा अन्तिम तीन संहनन अरु सम्यक्त्वमोह, इन चार के उदय का व्यवच्छेद होने से बहत्तर कर्म प्रकृति को वेदता है, अरु १३८ कर्म प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक अनिवृत्ति नामक नवमे गुणस्थान में आरो-

हण करता हुआ जौनसी कर्म प्रकृति को जहां पर जैसे क्षय करता है, सो कहते हैं। पूर्वोक्त आठमे गुणस्थान के अनन्तर क्षपक मुनि अनिवृत्ति नामक नवमे गुणस्थान में चढ़ता है। तब तिस नवमे गुणस्थान के नव भाग करता है। तहां प्रथम भाग में सोलां कर्म प्रकृति का क्षय करता है, सो यह हैं— १. नरक गति, २. नरकानुपूर्वी, ३. तिर्यग्गति, ४. तिर्यंचानुपूर्वी, ५. साधारणनाम, ६. उद्योतनाम, ७. सूक्ष्म, ८. द्वीन्द्रिय जाति, ९. त्रीन्द्रियजाति, १०. चतुरिन्द्रियजाति, ११. एकेन्द्रिय जाति, १२. आतपनाम, १५. 'स्त्यानर्द्धित्रिक अर्थात् निद्रा निद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, १६. स्थावर नाम। इन सोलां कर्म प्रकृतियों को नवमे गुणस्थान के प्रथम भाग में क्षय करता है। तथा अप्रत्याख्यान की चौकड़ी, अरु प्रत्याख्यान की चौकड़ी यह आठ मध्य के कषायों को दूसरे भाग में क्षय करता है। तीसरे भाग में नपुंसक वेद अरु चौथे भाग में स्त्री वेद का क्षय करता है। तथा पांचमे भाग में हास्य, रति, अरति, भय, शोक अरु जुगुप्सा, इन छः प्रकृति का क्षय करता है। और छठे भाग से लेकर नवमे भाग तक के चारों भाग में क्रम से शुद्ध शुद्धतर होता हुआ ध्यान की अति निर्मलता से छठे भाग में पुरुष वेद, सातमे भाग में संज्वलन क्रोध, आठमे भाग में संज्वलन मान, नवमे भाग में संज्वलन माया को क्षय करता है। तथा इस गुणस्थान में वर्त्तता हुआ मुनि हास्य, अरति, भय, जुगुप्सा, इन चारों के व्यवच्छेद होने

से बावीस प्रकृति का बंध करता है और हास्य षट्क के उदय का व्यवच्छेद होने से छयासठ प्रकृति को वेदता है। तथा नवमे अंश में माया पर्यंत प्रकृतियों के क्षय करने से पैंतीस प्रकृति के व्यवच्छेद होने से एक सौ तीन प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक के दशमे गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं। पूर्वोक्त नवमे गुणस्थान के अनंतर क्षपक मुनि क्षणमात्र से संज्वलन के स्थूल लोभ को सूक्ष्म करता हुआ सूक्ष्मसंपराय नामक दशमे गुणस्थान में चढ़ता है। तथा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानस्थ जीव पुरुषवेद तथा संज्वलन चतुष्क के बंध का व्यवच्छेद होने से सतरां प्रकृति का बंध करता है। अरु तीन वेद तथा तीन संज्वलन कषाय के उदय का व्यवच्छेद होने से साठ प्रकृति को वेदता है, माया की सत्ता का व्यवच्छेद होने से एक सौ दो प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक को ग्यारहवां गुणस्थान नहीं होता है, किन्तु दशमे गुणस्थान से क्षपक सूक्ष्मलोभांशों—सूक्ष्मीकृत लोभखंडों को क्षय करता हुआ बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में जाता है। यहां क्षपकश्रेणी को समाप्त करता है। उस का क्रम यह है, कि प्रथम अनंतानुबंधी चार का क्षय करता है, फिर मिथ्यात्व मोहनीय, फिर मिश्रमोहनीय, फिर सम्यक्त्व मोहनीय, फिर अप्रत्याख्यानी चार कषाय, तथा प्रत्याख्यानी चार कषाय, एवं आठ कषाय का क्षय करता है, फिर नपुंसक वेद, फिर हास्यषट्क, फिर पुरुष वेद, फिर संज्वलन क्रोध,

फिर संज्वलन मान, फिर संज्वलन माया, फिर संज्वलन लोभ का क्षय करता है।

अथ तहां बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के दूसरे अंश को जिस प्रकार से योगी आश्रित करता है, सो बात कहते हैं।

भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा, वीतरागो महायतिः।
पूर्ववद्भावसंयुक्तो द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत् ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ७४]

तदनन्तर सो क्षपक—क्षीणमोह हो कर—क्षीणमोह गुणस्थान के मार्ग में परिणतिमान् हो कर, प्रथम शुक्लध्यान की रीति के अनुसार दूसरे शुक्लध्यान को आश्रित होता है। * "कथंभूतः क्षपकः? वीतरागः विशेषेण इतो गतो रागो यस्मात् स वीतरागः"। फिर कैसा है क्षपक मुनि? महायति, यथाख्यात चारित्री। फिर कैसा है मुनि? शुद्धतर भाव करके संयुक्त, ऐसा क्षपक दूसरे शुक्ल ध्यान को आश्रित होता है।

अब इसी शुक्लध्यान को नाम और विशेषण से कहते हैं:-

अपृथक्त्वमविचारं, सवितर्कगुणान्वितम्।
स ध्यायत्येकयोगेन, शुक्लध्यानं द्वितीयकम् ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ७५]

* जिस के राग द्वेष नष्ट हो चुके हैं, वह वीतराग है।

सो क्षपक—क्षीणमोहगुणस्थानवर्त्ती दूसरे शुक्लध्यान को एक योग करके ध्याता है। यदाहः—

* एकं त्रियोगभाजामाद्यं स्यादपरमेकयोगवताम्।
तनुयोगिनां तृतीयं, निर्योगानां चतुर्थं तु॥
[गुण० क्रमा०, श्लो० ७५ की वृत्ति]

कैसा ध्यान है ? कि "अपृथक्त्वं"—पृथक्त्व वर्जित, "अविचारं"—विचार रहित, "सवितर्कगुणान्वितं"—वितर्क मात्र गुण से युक्त। इस प्रकार के दूसरे शुक्लध्यान को एक योग से ध्याता है।

अथ अपृथक्त्व का स्वरूप कहते हैंः—

निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम्।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं विदुर्बुधाः॥
[गुण० क्रमा०, श्लो० ७६]

अर्थः—तत्त्वज्ञाता एकत्व-अपृथक्त्व ध्यान उस को कहते हैं, कि जिस में निजात्मद्रव्य—विशुद्ध परमात्म द्रव्य अथवा

---

*भावार्थः—मन वचन और काया, इन तीनों के योग वाले योगी को शुक्लध्यान का प्रथम पाद होता है, इन तीन में से किसी एक के योग वाले योगी को उक्त ध्यान का दूसरा पाद होता है, केवल सूक्ष्म काययोग वाले योगी को तीसरा पाद और इन तीनों योगों से रहित हुए अर्थात् अयोगी मुनि को शुक्लध्यान का चौथा पाद होता है।

तिस ही परमात्मद्रव्य के केवल पर्याय अथवा अद्वितीय गुण का चिन्तन किया जावे । इस प्रकार से जहां एक द्रव्य, एक गुण, एक पर्याय का निश्चल—चलनवर्जित ध्यान किया जावे, सो एकत्व ध्यान है ।

अथ अविचारपना कहते हैं । इस काल में सद्ध्यानकोविद अर्थात् शुक्लध्यान का जाननेहारा, पूर्व मुनिप्रणीत शास्त्राम्नाय विशेष से ही ज्ञात हो सकता है, परन्तु शुक्ल ध्यान का अनुभवी इस काल में कोई नहीं । यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः—

*अनविच्छित्त्याऽऽम्नायः, समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभिः ।
दुष्करमप्याधुनिकैः शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम् ॥

[यो० शा०, प्र० ११ श्लो० ४]

तथाच जिन सद्ध्यानकोविदों ने शास्त्राम्नाय से शुक्ल ध्यान का रहस्य जाना है, तिन्हों ने अविचार विशेषण संयुक्त दूसरे शुक्लध्यान का स्वरूप कहा है, सो क्या है ? जो पूर्वोक्त स्वरूप व्यंजन अर्थ योगों में एतावता शब्दार्थ योगरूपों में परावर्त्त विवर्जित—शब्द से शब्दांतर, इत्यादि क्रम से रहित श्रुत ज्ञान के अनुसार ही चिंतन किया जाता है, सो अविचार शुक्लध्यान है ।

अथ सवितर्क कहते हैं । जिस ध्यान में भावश्रुत के

---

* 'अनवस्थित्या०' पाठान्तर है ।

आलंबन से अर्थात् अन्तःकरण में सूक्ष्म जल्परूप भावगत आगम श्रुत के अवलंबन मात्र से, निज विशुद्ध आत्मा में विलीन हो कर सूक्ष्म विचारणात्मक जो आत्मचिन्तन करना, उसे सवितर्क कहते हैं।

अथ शुक्लध्यानजनित समरस भाव को कहते हैं। इस प्रकार से एकत्व अविचार और सवितर्क रूप तीन विशेषण संयुक्त दूसरा शुक्लध्यान कहा। इस दूसरे शुक्लध्यान में वर्तता हुआ ध्यानी निरन्तर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने के कारण समरस भाव को धारण करता है। सो यह समरस भाव जो है, सो तदेकशरण माना है। कारण कि आत्मा को अपृथक्त्व रूप से जो परमात्मा में लीन करना है, सोई समरस भाव का धारण करना है।

अथ क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में योगी जो करता है, सो कहते हैं। इस पूर्वोक्त ध्यान के योग से और दूसरे शुक्लध्यान के योग से कर्मरूप इन्धन के समूह को भस्म करता हुआ क्षपक-योगीन्द्र अन्त के प्रथम समय अर्थात् बारहवें गुणस्थान के दूसरे चरम समय में निद्रा अरु प्रचला, इन दो प्रकृति का क्षय करता है।

अथ अंत समय में जो करता है, सो कहते हैं। क्षीण-मोह गुणस्थान के अन्त समय में चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, यह चार दर्शनावरणीय तथा पंचविध ज्ञानावरण, तथा पंचविध अन्तराय, इन चौदह

प्रकृति का क्षय करके क्षीणमोहांश हो करके केवल स्वरूप होता है । तथा क्षीणमोह गुणस्थानस्थ जीव दर्शन चतुष्क अरु ज्ञानांतरायदशक, उच्चैर्गोत्र, यशनाम, इन सोलां प्रकृति के बंध का व्यवच्छेद होने से एक सातावेदनी का बंध करता है । तथा संज्वलन लोभ, ऋषभनाराचसंघयण, इन के उदय का विच्छेद होने से सत्तावन प्रकृति को वेदता है । तथा उस में संज्वलन लोभ की सत्ता दूर होने से एक सौ एक प्रकृति की सत्ता है ।

अब क्षीणमोहांत में प्रकृतियों की संख्या कहते हैं । चौथे गुणस्थान से लेकर क्षय होती हुई त्रेसठ प्रकृति क्षीणमोह में संपूर्ण होती है, अर्थात् इस बारहवें गुण स्थान में आ कर उन को वह सर्वथा नष्ट कर देता है । एक प्रकृति चौथे गुण स्थान में क्षय हुई, एक पांचमें, आठ सातमे, छत्तीस नवमे में, सतरा बारहवें में, यह सर्व त्रेसठ भई । तथा शेष पचासी प्रकृति तो तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में केवल अत्यन्त जीर्ण वस्त्र समान रहती हैं ।

सयोगिकेवली गुणस्थान

अथ सयोगि केवली गुणस्थान में जो भाव सम्यक्त्व और चारित्र होता है, सो कहते हैं । इस सयोगी गुणस्थान में सयोगी केवली आत्मा को अतिविशुद्ध-निर्मल क्षायिक भाव होता है, और सम्यक्त्व परम-प्रकृष्ट क्षायिक ही होता है, तथा चारित्र भी क्षायिक यथाख्यात नामक होता

है। इस का तात्पर्य यह है, कि उपशम अरु क्षायोपशमिक यह दो भाव सयोगी केवली के नहीं होते हैं।

अथ तिस केवली के केवलज्ञान के बल को कहते हैं। तिस केवली परमात्मा केवलज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश करके चराचर जगत् हस्तामलकवत्—हाथ में रक्खे हुए आमले की तरें प्रत्यक्ष-साक्षात्कार करके भासमान होता है। यहां प्रकाशमान सूर्य की उपमा जो कही है, सो व्यवहार मात्र से कही है, निश्चय से नहीं कही। कारण कि निश्चय में तो केवल ज्ञान का अरु सूर्य का बड़ा अंतर है।

अथ जिस ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया है, तिस की विशेषता कहते हैं। विशेष करके अर्हंत की भक्ति प्रमुख बीस पुण्य स्थान विशेष का जो जीव आराधन करता है, सो तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है। सो बीस स्थान यह हैं:—

* अरिहंत सिद्ध पवयण, गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया एएसुं अभिक्खनाणोवओगे अ॥ १॥
दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइयारे।

---

* अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुश्रुते तपस्विषु।
वात्सल्यमेतेषु अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगौ च॥ १॥
दर्शनविनयौ आवश्यकानि च शीलव्रते निरतिचारता।

खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही अ ॥ २ ॥
अपुव्वनाणग्गहणे, सुअभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥

[आव० नि०, गा० १७९-१८१]

इन का अर्थ आगे लिखेंगे । तिस वास्ते यहां सयोगी गुणस्थान में तीर्थंकर नाम कर्मोदय से वो केवली त्रिजगत्पति—त्रिभुवनपति जिनेंद्र होता है। जिन सामान्य केवलियों को कहते हैं, तिन में जो इन्द्र की तरें होवे, सो जिनेंद्र जानना।

अथ तीर्थंकर की महिमा कहते हैं। सो भगवान् तीर्थंकर पूर्वोक्त चौतीस अतिशय करके संयुक्त होता है, और सर्व देवता जिस को नमस्कार करते हैं, तथा सकल मानवों ने जिस को नमस्कार करा है, सो सर्वोत्तम—सकल शासनों में प्रधान, तीर्थ का प्रवर्त्तन करता हुआ उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि लग विद्यमान रहता है।

अथ सो तीर्थंकर नाम कर्म को तीर्थंकर भगवान् जैसे भोगते हैं, सो कहते हैं। तीर्थंकर भगवान् पृथ्वी मण्डल में भव्यजीवों के प्रतिबोधने तथा योग्यतानुसार भव्य जीवों को

क्षणलवतपस्त्यागा वैयावृत्त्यं समाधिश्च ॥ २ ॥
अपूर्वज्ञानग्रहणं श्रुतभक्तिः प्रवचने प्रभावना ।
एतैः कारणैस्तीर्थंकरत्वं लभते जीवः ॥ ३ ॥

देशविरति और सर्वविरति का उपदेश करने से तीर्थंकर नामकर्म को वेदते हैं। जेकर तीर्थंकर नामकर्म का उदय न होवे, तब कृतकृत्य होने से भगवान् को उपदेश देने का क्या प्रयोजन है ? इस वास्ते जो वादी भगवान् को निःशरीरी निरुपाधिक, मुखादि रहित और सर्वव्यापी मानते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि देहादि के अभाव से वह धर्म का उपदेशक नहीं हो सकता है। जेकर उपाधि रहित, सर्वव्यापी परमेश्वर भी उपदेशक होवे, तब तो अब इस काल में अस्मदादिकों को क्यों उपदेश नहीं करता है ? क्योंकि पूर्वकाल में अग्नि आदिक ऋषियों को उसने प्रेरा, तथा ब्रह्मादि द्वारा चार वेद का उपदेश करा, तथा मूसा, ईसा द्वारा जगत् को उपदेश करा। तो फिर अब क्यों नहीं उपदेश करता ? वह तो परोपकारी है, तो फिर देरी किस वास्ते ? जेकर कहो कि इस काल में सर्व जीव उपदेश मानने के योग्य नहीं हैं, इस वास्ते उपदेश नहीं देता, तब तो पूर्व काल में भी सर्व जीवों ने परमेश्वर का उपदेश नहीं माना है। प्रथम तो कालासुर प्रमुख अनेक जीवों ने नहीं माना, दूसरा अजाजील ने नहीं माना। और यहूदियों ने तथा कितनेक इसराइलियों ने नहीं माना, इस वास्ते पूर्वकाल में भी परमेश्वर को उपदेश देना योग्य नहीं था। जेकर कहो कि उस की वोही जाने कि उस ने पहले क्योंकर उपदेश दिया अरु अब किस वास्ते नहीं देता। तो फिर तुम क्योंकर कहते हो कि परमेश्वर

के मुख नहीं ? इस वास्ते यही सत्य है, कि जो तीर्थंकर नामकर्म के वेदने के वास्ते भगवान् उपदेश करते हैं, अरु जिस वखत उपदेश करते हैं, उस वखत देहधारी होते हैं। इत्यलं प्रसंगेन । केवली-केवलज्ञानवान् पृथ्वी मण्डल में उत्कृष्ट आठ वर्ष न्यून पूर्वकोटि प्रमाण विचरते हैं, और देवताओं के करे हुए कंचनकमलों के ऊपर पग रख कर चलते हैं, अरु आठ प्रातिहार्य करके संयुक्त, अनेक सुरासुर-कोटि से सेवित होकर विचरते हैं । यह स्थिति सामान्य प्रकार से केवलियों की कही है,' अरु जिनेंद्र तो मध्यास्थिति वाले होते हैं।

अथ केवलिसमुद्घातकरण कहते हैं।

चेदायुषः स्थितिर्न्यूना, सकाशाद्वेद्यकर्मणः।
तदा तत्तुल्यतां कर्तुं समुद्घातं करोत्यसौ ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ८९]

अर्थः—केवली जब वेदनीय कर्म से आयुःकर्म की स्थिति को थोडी जानता है, तब तिस को तुल्य

केवलिसमुद्घात करने वास्ते समुद्घात करता है । तिस समुद्घात का स्वरूप कहते हैं । तहां प्रथम समुद्घात पद का अर्थ कहते हैं । यथा स्वभावस्थित आत्मप्रदेशों को वेदनादि सात कारणों करके समंतात् उद्घातन—स्वभाव से अन्य भावपने परि-

णमन करना, तिस का नाम समुद्घात है । सो समुद्घात सात प्रकार का है—१. वेदनास०, २. कषायस०, ३. मरणस०, ४. वैक्रियस० ५. तेजःस०, ६. आहारकस०, ७. केवलिस० । इन सातों समुद्घातों में से यहां पर केवलिसमुद्घात का ग्रहण करना । तिस केवलिसमुद्घात के वास्ते केवली भगवान् आयु अरु वेदनीय कर्म को सम करने के वास्ते प्रथम समय में आत्मप्रदेशों करके ऊर्द्ध्वलोकांत तक दंडत्व—दंडाकार लंबे आत्मप्रदेश करता है, दूसरे समय में पूर्व, पश्चिम दिशा में आत्मप्रदेशों को कपाटाकार करता है, तीसरे समय में उत्तर, दक्षिण में आत्मप्रदेशों को मंथानाकार करता है, चौथे समय में अंतर पूर्ण करने से सर्व लोक व्यापी होता है । इस तरे केवली समुद्घात करता हुआ चार समयों में विश्वव्यापी होता है ।

अथ इहां से निवृत्ति कहते हैं । इस प्रकार से केवली आत्मप्रदेशों को विस्तार करने के प्रयोग से कर्मलेश को सम करता है । सम करके पीछे तिस समुद्घात से उलटा निवर्त्तता है । सो ऐसे है—केवली चार समय में जगत् पूर्ण करके पांचमे समय में पूर्ण से निवर्त्तता है, छठे समय में मंथानपना दूर करता है, सातमे समय में कपाट दूर करता है, आठमे समय में दंडत्व का उपसंहार करता हुआ स्वभावस्थ होता है । यदाहुर्वाचकमुख्याः—

दंडं प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मंथानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥
संहरति पंचमे त्वन्तराणि मंथानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाटं, संहरति तथाऽष्टमे दंडम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ९१ की वृत्ति]

अथ केवली समुद्घात करता हुआ जैसे योगवान् अरु अनाहारक होता है, सो कहते हैं,। केवली समुद्घात करता हुआ प्रथम अरु अन्त समय में औदारिककाययोग वाला होता है, दूसरे छठे अरु सातमे समय में मिश्रौदारिककाय योगी होता है। मिश्रता इहां कार्मण से औदारिक का है। तथा तीसरे, चौथे अरु पांचमे समय में केवल कार्मणकाययोग वाला होता है । जिन समयों में केवली केवल कार्मण काय-योग वाला होता है, तिन ही समयों में अनाहारक होता है।

अथ कौन सा केवली समुद्घात करता है, कौन सा नहीं करता है, सो कहते हैं। जिस की छः महीने से अधिक आयु शेष है, जेकर उस को केवल ज्ञान होवे, वो तो निश्चय समुद्घात करे, अरु जिस की छः महीने के भीतर आयु होवे, उस को जो केवल ज्ञान होवे, तो भजना है, अर्थात् वो केवली समुद्घात करे भी, अरु नहीं भी करे। यदाहुः—

* छम्मासाऊ सेसे, उप्पन्नं जेसिं केवलं नाणं ।
ते नियमा समुग्घाया, सेसा समुग्घाय भइयव्वा ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ६४ की वृत्ति]

अथ समुद्घात से निवृत्त हो करके जो कुछ करता है, सो कहते हैं। मन, वचन अरु काय योगवान् केवली केवल समुद्घात से निवृत्त हो कर योगनिरोधन के वास्ते शुक्लध्यान का तीसरा पाद ध्याता है । सोई तीसरा शुक्लध्यान कहते हैं। तिस अवसर में तिस केवली को तीसरा सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिक नाम शुक्लध्यान होता है । सो कंपनरूप जो क्रिया है, तिस को सूक्ष्म करता है।

अथ मन, वचन, काया के योगों को जैसे सूक्ष्म करता है, सो कहते हैं । सो केवली सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक तीसरे शुक्लध्यान का ध्याता, अचिन्त्य आत्मवीर्य की शक्ति कर के बादरकाययोग में स्वभाव से स्थिति करके बादर वचन योग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करता है, तिस के अनन्तर बादरकाय योग को सूक्ष्म करता है, फिर सूक्ष्मकाययोग में क्षण मात्र रह करके तत्काल सूक्ष्म वचनयोग और मनोयोग का अपचय करता है, तिस के पीछे सूक्ष्म काययोग में क्षण मात्र रह कर सो केवली निजात्मानुभव को

*छाया:—षण्मासायुषि शेषे उत्पन्नं येषां केवलज्ञानम् ।
ते नियमात्समुद्घातिनः शेषाः समुद्घाते भक्तव्याः ॥

सूक्ष्म क्रिया चिद्रूप को स्वयमेव अपने स्वरूप का अनुभव करता है—जानता है।

अथ जो सूक्ष्म क्रिया वाले शरीर की स्थिति है, सोई केवलियों का ध्यान होता है। अब यह बात कहते हैं। जिस प्रकार से छद्मस्थ योगियों के मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, तैसे ही शरीर की निश्चलता को केवलियों का ध्यान होता है।

अथ शैलेशीकरण का आरम्भ करने वाला सूक्ष्म काय-योगी जो कुछ करता है, सो कहते हैं। केवली के ह्रस्वाक्षर पांच के उच्चारण करने मात्र काल जितना आयु शेष रहता है, तब शैलवत् निश्चलकाय को चतुर्थध्यानपरिणतिरूप शैलेशीकरण होता है। तिस पीछे सो केवली शैलेशीकरणारम्भी सूक्ष्मरूप काययोग में रहता हुआ शीघ्र ही अयोगी गुणस्थान में जाने की इच्छा करता है।

अथ सो भगवान् केवली सयोगिगुणस्थान के अंत्य समय में औदारिकद्विक, अस्थिरद्विक, विहायोगतिद्विक, प्रत्येक–त्रिक, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णादिचतुष्क, निर्माण, तैजस, कार्मण, प्रथम संहनन, स्वरद्विक, एकतर वेदनीय, इन तीस प्रकृति के उदय का विच्छेद होता है। यहां पर अंगोपांग के उदय का व्यच्छेद होने से अंत्यांग संस्थानावगाहना से तीसरा भाग कम अवगाहना करता है। किस कारण से? अपने प्रदेशों को घनरूप करने से चरम

शरीर के अंगोपांग में जो नासिकादि छिद्र हैं, तिन को पूर्ण करता है। तब स्वात्मप्रदेशों का घनरूप हो जाता है। तिस वास्ते स्वप्रदेशों का घनरूप होने से तीसरा भाग न्यून होता है। सयोगिगुणस्थानस्थ जीव, एकविध बंधक उपांत्य समय तक अरु ज्ञानांतराय, दर्शन चतुष्कोदय का व्यवच्छेद होने से बैतालीस प्रकृति को वेदता है। तथा निद्रा, प्रचला, ज्ञानांतरायदशक, दर्शनचतुष्क रूप सोलां प्रकृतियों की सत्ता का व्यवच्छेद होने से तहां पचासी प्रकृति की सत्ता है।

अयोगिकेवली गुणस्थान

अथ अयोगी गुणस्थान की स्थिति कहते हैं। तेरहवें गुणस्थान के अनन्तर चौदहवें अयोगी गुणस्थान में रहते हुए जिनेंद्र की लघु पंचाक्षर उच्चारणमात्र अर्थात् "अ इ उ ऋ लृ" इन पांच वर्णों के उच्चारण करते जितना काल लगता है, तितनी स्थिति है। इस अयोगी गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इहां अनिवृत्ति नामक चौथा ध्यान होता है। चौथे ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकाऽपि हि।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद् द्वारं मुक्तिवेश्मनः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० १०६]

अर्थः—जिस ध्यान में सूक्ष्म काययोग रूप क्रिया भी

"समुच्छिन्ना"—सर्वथा निवृत्त हुई है, सो समुच्छिन्नक्रिय नाम "चतुर्थ"—चौथा ध्यान कहा है। कैसा वो ध्यान है ? कि मुक्ति महल के द्वार—दरवाज़े के समान है।

अथ शिष्य के करे दो प्रश्न कहते हैं। शिष्य पूछता है कि हे प्रभु ! देह के होते हुए अयोगी क्योंकर हो सकता है ? यह प्रथम प्रश्न। तथा जेकर सर्वथा काययोग का अभाव हो गया है, तब देह के अभाव से ध्यान क्योंकर घटेगा ? यह दूसरा प्रश्न है।

अथ आचार्य इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हैं। आचार्य कहते हैं, कि भो शिष्य ! अत्र-अयोगी गुणस्थान में सूक्ष्म-काययोग के होते भी अयोगी कहते हैं। किस वास्ते ? कि १. काययोग के अति सूक्ष्म होने से—सूक्ष्म क्रिया रूप होने से, अरु वो काययोग शीघ्र ही क्षय होने वाला है। तथा काय के कार्य करने में असमर्थ होने से, काय के होते भी अयोगी है। तथा शरीराश्रय होने से ध्यान भी है। इस वास्ते विरोध नहीं। किस के ? अयोगी गुणस्थानवर्त्ती परमेष्ठी भगवान् के। कैसे परमेष्ठी भगवत् के ? कि जो निज शुद्धात्मचिद्रूपतन्मयपने से उत्पन्न, निर्भर परमानन्द में बिराजमान है।

अथ ध्यान का निश्चय और व्यवहारपना कहते हैं। तत्त्व से—निश्चय नय के मत से आत्मा ही ध्याता, अर्थात् आत्मा ही करण रूप से कर्मरूपतापन्न आत्मा को

ध्याता है, तिस से अन्य जो कुछ उपचाररूप अष्टांग योग प्रवृत्ति लक्षण, सो सर्व ही व्यवहार नय के मत से जानना ।

अथ अयोगिगुणस्थानवर्त्ती के उपांत्य समय का कृत्य कहते हैं । केवल चिद्रूपमय आत्मस्वरूप का धारक योगी अयोगिगुणस्थानवर्त्ती ही स्फुट-प्रगट उपांत्य समय में शीघ्र युगपत्-समकाल बहत्तर कर्म प्रकृति का क्षय करता है । सो यह हैं—देह पांच अर्थात् शरीर पांच, बंधन पांच, संघात पांच, अंगोपांग तीन, संस्थान छः वर्णपंचक, रस-पंचक, संहननषट्क, अस्थिरषट्क, स्पर्शाष्टक, गंध दो, नीचगोत्र, अगुरुलघुचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, खगति-द्विक, प्रत्येकत्रिक, सुस्वर, अपर्याप्तनाम, निर्माणनाम, दोनों में से कोई भी एक वेदनीय, यह सर्व बहत्तर कर्म प्रकृति मुक्तिपुरी के द्वार में अर्गलभूत हैं, सो केवली भगवान् इन का उपांत्य समय—द्विचरम समय में क्षय करता है ।

अथ अयोगी अन्त समय में कौनसी कर्मप्रकृति का क्षय करके जो कुछ करता है, सो कहते हैं । सो अयोगी अन्त समय में एकतर वेदनीय, आदेयत्व, पर्याप्तत्व, त्रसत्व, बादरत्व, मनुष्यायु, यशनाम, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, सौभाग्य, उच्चगोत्र, पचेंद्रियत्व, तीर्थंकरनाम, इन तेरां कर्म प्रकृति का क्षय करके उसी समय में सिद्ध पर्याय को प्राप्त होता है । सो सिद्ध परमेष्ठी, सनातन भगवान् शाश्वत लोकांत के पर्यंत को जाता है । तथा अयोगिगुणस्थानस्थ

जीव अबन्धक है। तथा एकतर वेदनीय, आदेय, यश, सुभग, त्रसत्रिक, पंचेंद्रियत्व, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, तीर्थंकरनाम, इन तेरां प्रकृति को वेदता है। अन्त के दो समय से पहिले पचासी की सत्ता रहती है, उपांत्य समय में तेरह प्रकृति की सत्ता रहती है, अरु अंत समय में सत्ता रहित होता है।

आशंका:—निष्कर्म-कर्म रहित आत्मा तिस समय में लोकांत में कैसे जाता है?

मुक्त आत्मा की गति

समाधानः—सिद्ध-कर्म रहित की ऊर्ध्वगति होती है, 'कस्मात्'-किस हेतु से होती है? पूर्व प्रयोग से-अचिंत्य आत्मवीर्य करके उपांत्य दो समय में पचासी कर्मप्रकृति के क्षय करने के वास्ते पूर्व में जो व्यापार प्रारम्भ किया था, तिस से ऊर्ध्वगति होती है, यह प्रथम हेतु है। तथा कर्म की संगति रहित होने से ऊर्ध्वगति होती है, यह दूसरा हेतु है। तथा गाढतर बंधनों करके रहित होने से ऊर्ध्वगति होती है, यह तीसरा हेतु है। तथा कर्म रहित जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, यह चौथा हेतु है। यह चार हेतु चारों दृष्टांतों सहित कहते हैं। १. जैसे कुम्भकार का चक्र पूर्व प्रयोग से फिरता है, तैसे आत्मा की भी पूर्वप्रयोग से ऊर्ध्वगति होती है। २. जैसे माटी के लेप से रहित होने से तूंबे की जल में ऊर्ध्वगति होती है, तैसे ही अष्टकर्म

रूप लेप की संगति से रहित धर्मास्तिकायरूप जल करके आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है । ३. जैसे एरंड का फल, बीजादि बंधनों से छुटा हुआ ऊर्ध्वगति वाला होता है, तैसे ही कर्म बंध के विच्छेद होने से सिद्ध की भी ऊर्ध्वगति होती है । ४. जैसे अग्नि का ऊर्ध्व ज्वलन स्वभाव है, तैसे ही आत्मा का भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव है ।

अथ कर्म रहित की नीची अरु तिरछी गति नहीं होती, यह बात कहते हैं । सिद्ध की आत्मा कर्मगौरव के अभाव से नीचे को नहीं जाती, तथा प्रेरक कर्म के अभाव से आत्मा तिरछी भी नहीं जाती है । तथा कर्म रहित सिद्ध लोक के ऊपर भी, धर्मास्तिकाय के न होने से नहीं जाता । क्योंकि लोक में भी जीव, पुद्गल के चलने में धर्मास्तिकाय गति का हेतु है, मत्स्यादि को जैसे जल है । सो धर्मास्तिकाय अलोक में नहीं, इस वास्ते अलोक में सिद्ध नहीं जाते ।

अथ सिद्धों की स्थिति अर्थात् सिद्धशिला से ऊपर लोक के अंत में जैसे सिद्ध रहते हैं । सो

सिद्धशिला

कहते हैं । ईषत् प्राग्भारनामा भूमि–सिद्धशिला चौदह रज्जुलोक के मस्तक के ऊपर व्यवस्थित है । उस को सिद्धों के निकट होने करके सिद्ध शिला कहते हैं । परन्तु सिद्ध कुछ उस शिला के ऊपर बैठे हुए नहीं हैं । सिद्ध तो उस शिला से ऊंचे लोकांत में विराजमान हैं । वो शिला कैसी है ? मनोज्ञा–मनोहारिणी

है। फिर वो शिला कैसी है ? सुरभि-कर्पूर से भी अधिक सुगंधि वाली है, अरु कोमल-सूक्ष्म हैं अवयव जिस के। फिर वो शिला कैसी है ? पुण्या-पवित्र । परमभासुरा-प्रकृष्ट तेजवाली है। मनुष्यक्षेत्र प्रमाण लंबी चौडी है । श्वेत छत्र के समान है-उत्तान छत्राकार है । उस का बड़ा शुभ रूप है। वो ईषत् प्राग्भारनामा पृथ्वी, सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर है। अरु वो पृथ्वी मध्य भाग में आठ योजन की मोटी है, तथा प्रांत में घटती घटती मक्खी के पंख से भी पतली है। तिस शिला के ऊपर एक योजन लोकांत है, उस योजन का जो चौथा कोस है, उस कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना है। सो वह दो हजार धनुष प्रमाण कोस के छठे भाग में तीन सौ तेत्तीस धनुष अरु बत्तीस अंगुल होता है । उतनी सिद्धों के आत्मप्रदेशों की अवगाहना है।

अथ सिद्धों के आत्मप्रदेशों की अवगाहना का आकार लिखते हैं। जैसे मूषा-गुठाली में मोम भर के गालें, तिस के गलने से जो आकार है, तैसा सिद्धों का आकार है।

अथ सिद्धों के ज्ञान दर्शन का विषय लिखते हैं । त्रैलोक्योदरवर्ती चौदह रज्ज्वात्मक लोक में जो गुणपर्याय करके युक्त वस्तु है, तिन जीवाजीव पदार्थों को सिद्ध—मुक्त आत्मा स्पष्ट रूप से देखते और जानते हैं, अर्थात् सामान्य रूप करके देखते हैं, विशेषरूप करके जानते हैं। क्योंकि वस्तु जो है, सो

सर्व सामान्यविशेषात्मक है।

अथ सिद्धों के आठ गुण कहते हैं। १. सिद्धों को ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञान प्रगट हुआ है। २. सिद्धों को दर्शनावरण कर्म के क्षय होने से अनन्त दर्शन हुआ है। ३. सिद्धों को क्षायिकरूप शुद्ध सम्यक्त्व और चरित्र दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षय होने से हुए हैं। ४. सिद्धों को अनंत-अक्षय सुख अरु ५. अनंत वीर्य। वेदनीय कर्म के क्षय होने से अनंत सुख हुआ है, और अंतराय कर्म के क्षय होने से अनंत वीर्य प्रगट हुआ है। तथा ६. सिद्धों की अक्षयगति आयुःकर्म के क्षय होने से हुई है। ७. नामकर्म के क्षय होने से अमूर्त्तपना सिद्धों को प्रगट भया है। ८. गोत्र कर्म के क्षय होने से सिद्धों की अनंत अवगाहना है।

सिद्धावस्था

अथ सिद्धों का सुख कहते हैं। जो सुख चक्रवर्त्ती की पदवी का, अरु जो सुख इन्द्रादि पदवी का है, तिस से भी सिद्धों का सुख अनंत गुणा है। वो सुख क्लेश रहित है। अर्थात् "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा"—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, यह क्लेश हैं, सो जिनमें नहीं हैं। फिर कैसा है सुख? "अव्ययं-न व्येति—स्वभाव से जो नाश नहीं होता।

अथ सिद्धों ने जो कुछ प्राप्त किया है, तिस का सार कहते हैं। अराधक जिस वस्तु का आराधन करते हैं, साधक पुरुष

ज्ञान दर्शन और चरित्र द्वारा जिस की सिद्धि के वास्ते प्रयत्न करते हैं, योगी लोग जिस के वास्ते निरंतर ध्यान करते हैं। उस परम पुनीत पद को सिद्धों ने प्राप्त किया है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप पद अभव्य जीवों को सर्वथा दुर्लभ है।

अथ मुक्ति का स्वरूप कहते हैं। कोई एक वादी अत्यंताऽभावरूप मोक्ष मानते हैं। सो बौद्धों की मोक्ष है। अरु कोई वादी जड़मयी—ज्ञानाभावमयी मोक्ष मानते हैं, सो नैयायिक वैशेषिक मत वाले हैं। अरु कोई एक वादी मोक्ष होकर फिर संसार में अवतार लेना, फिर मोक्षरूप हो जाना, ऐसी मोक्ष मानते हैं, सो आजीवक मत वाले हैं। अरु कोई तो विषयसुखमय मोक्ष मानते हैं। वे कहते हैं, कि मोक्ष में भोग करने के वास्ते बहुत अप्सरा मिलती हैं। और खाने पीने को बहुत वस्तु मिलती है, तथा पान करने को बहुत अच्छी मदिरा मिलती है, और रहने को सुंदर बाग़ मिलता है, इत्यादि। तथा कोई एक वादी कहते हैं कि मोक्ष, जीव की कदापि नहीं होती, यह जैमिनी मुनि का मत है। तथा कोई खरड़ज्ञानी ऐसे कहते हैं, कि जो वेदोक्त अनुष्ठान करता है, वो सर्वथा उपाधि रहित तो नहीं होता, परन्तु शुभ पुण्य फल से सुंदर देह पाकर ईश्वर के साथ मिल कर कितनेक कल्पों लगि सुख भोग करता है, जहां इच्छा होवे, तहां उड़ कर चला जाता है, फिर संसार में

जन्म लेता है, फिर पूर्ववत् सुख भोग करता है, इसी तरें अनादि अनंतकाल लगि करता रहेगा। परन्तु एक जगे स्थित न रहेगा। इस प्रकार भिन्न २ मोक्ष कहते हैं। परन्तु सर्वज्ञ अर्हंत परमेश्वर ने तो सत्रूप-ज्ञानदर्शनरूप, तथा असारभूत जो यह संसार है, तिस से भिन्न सारभूत, निस्सीम आत्यंतिक सुखरूप, अनंत, अतींद्रियानंद अनुभवस्थान, अप्रतिपाती, स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष कही है।

प्रश्न—हे जैन ! तुम ने सर्व वादियों की कही हुई मोक्ष को तो अनुपादेय समझा, अरु अर्हंत की कही हुई मोक्ष उपादेय समझी। इन में क्या हेतु है ?

उत्तरः—हे भव्य ! इन सर्व वादियों की मोक्ष पीछे षड्दर्शन के निरूपण में लिख आये हैं, सो जान लेनी। इन वादियों की कही मोक्ष ठीक नहीं, कारण कि जब अत्यंता-ऽभावरूप मोक्ष होवे, तब तो आत्मा ही का अभाव हो गया, तो फिर मोक्ष फल किस को होवेगा ? ऐसा कौन है जो आत्मा के अत्यंताभाव होने में यत्न करे ? तथा जो ज्ञानाभाव को मोक्ष मानते हैं, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब ज्ञान ही न रहा, तब तो पाषाण भी मोक्षरूप हो गया। तो ऐसा कौन प्रेक्षावान् है, जो अपनी आत्मा को जड पाषाण तुल्य बनाना चाहे ? तथा जो सर्व व्यापी आत्मा को मोक्ष मानते हैं, अर्थात् जब आत्मा की मोक्ष होती है, तब आत्मा सर्व व्यापी मोक्ष रूप होती है, यह भी कहना प्रमाणानभिज्ञ पुरुषों का

है। क्योंकि आत्मा किसी प्रमाण से भी सर्वलोकव्यापी सिद्ध नहीं हो सकती है। इस की विशेष चर्चा देखनी होवे, तो स्याद्वादरत्नाकरावतारिका देख लेनी। तथा जो मोक्ष होकर फिर संसार में जन्म लेना, फिर मोक्ष होना, यह तो मोक्ष भी काहे की? यह तो भांडों का सांग हुआ। इस वास्ते यह भी ठीक नहीं। अरु जो मोक्ष में स्त्रियों के भोग मानते हैं, सो विषय के लोलुपी हैं। तथा खरड़ज्ञानी ने जो मोक्ष कही है, सो भी अप्रामाणिक है, किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, इस वास्ते जो अर्हंत सर्वज्ञ ने मोक्ष कही है, सो निर्दोष है।

इस प्रकार यह चौदह गुणस्थानों का स्वरूप बृहद्गच्छीय श्रीवज्रसेनसूरि के शिष्य श्रीहेमतिलकसूरिपट्टप्रतिष्ठित श्रीरत्नशेखरसूरि ने लिखा है, तिस के अनुसार ही भाषा में गुणस्थान का किंचित्स्वरूप मैंने लिखा है।

इति श्री तपागछीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि

आनंदविजय-आत्माराम विरचिते जैनतत्त्वादर्शे

षष्ठः परिच्छेदः संपूर्णः

शब्दकोष

—:o:—

कठिन, प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

अ

अकिंचित्कर कुछ न करने वाला

अग्रगामि प्रत्यक्ष, आगे नज़र आने वाला

अचेतन जड़

अजा बकरी

अतिक्रान्त अगोचर, परे

अतिप्रसङ्ग पा० अतिव्याप्ति—अलक्ष्य में भी पाया जाना।

अदृष्ट जो दिखाई न दे: धर्म, अधर्म

अध्यवसाय परिणाम

अनवस्था पा० कार्य कारण की परम्परा का विराम न होना।

अनहोई विचित्र, असम्भव

अनहोये न पाये जाने वाले

अनागत भविष्य

अनिर्वाच्य अकथनीय, न कह सकने योग्य

अनुपहत अक्षत, सम्पूर्ण

अनुविद्ध परस्पर मिले हुए

अनुष्ठान आचरण

अनुषंग प्रसङ्ग

अनुसन्धान सम्बन्ध

अन्तर्मुहूर्त लग भग दो घड़ी

अन्तरिक्ष आकाश

अन्तरे दूरी पर

अपराह्न दिन का तीसरा पहर

अपर्यवसित अनन्त

अपवर्ग मोक्ष

अपसिद्धान्त झूठा सिद्धान्त

अपान गुदा से निकलने वाली वायु

अपौरुषेय पुरुष का न बनाया हुआ

अप्रतीयमान मालूम न होने वाला

अबहुश्रुत अज्ञानी

अभिनिवेश आग्रह, हठ

अभिमत सम्मत, स्वीकृत

अमनोज्ञ बुरा, खराब

अमल मद करने वाली वस्तु

अमोघ सार्थक, सफल

अम्भोरुह कमल

अर्क आक का वृक्ष

अर्गल बेड़ी, बन्धन

अर्थाश्रय अर्थ सम्बन्धी

अर्श मस्सा

अरु और

अवकाश स्थान

अवगम ज्ञान

अवर्णवाद निन्दा

अवष्टंभभूत आधारभूत

अवसर्पिणी काल घटती का काल—जिस काल में पदार्थों की शक्ति, परिमाण आदि में कमी होती रहती है।

अवस्वापिनी निद्रा लाने वाली विद्या

अवस्थित रहते हैं बढ़ते नहीं

अविच्छिन्न अत्रुटित, अखण्ड

अविनाभावी नियम से साथ रहने वाला

अविपरीतार्थ सत्य अर्थ

अशिव दुःख

अशुचिपना अपवित्रता

अण्डज अण्डे से उत्पन्न होने वाले

असमंजस असंगत

असमीचीन अनुचित, अच्छा नहीं

अस्मद् हम

अस्थि हड्डी

अस्मिता अहंभाव

अज्ञ अज्ञानी

आ

आंब पं० आम
आक्रन्दन रोना
आगम पा० अरिहन्त वीतराग का कहा हुआ शास्त्र
आच्छादक ढकने वाला
आच्छादित ढका हुआ
आतप ताप, गर्मी
आत्मोत्कर्ष अपनी बड़ाई
आधाकर्मिक पा० साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन
आप्त यथार्थ वक्ता
आय कर पं० आ कर
आरनाल कांजी
आरोप कल्पना
आरोहण चढ़ना
आलोड्यमान इधर उधर हिलाये गये
आवने पं० आने
आवरक ढकने वाला
आवरण ढकना
आवे है आता है

इ

इतरेतरविविक्त अलग अलग
इतरेतराश्रय दूषण पा० एक दूसरे के आश्रित होना
इन्द्रियगोचर इन्द्रियों का विषय
इन्द्रियनिरोध इन्द्रियों को वश में करना
इष्टानिष्ट अच्छा बुरा
इहां यहां

उ

उच्छेद नाश
उत्कट तीव्र, अधिक
उत्कृष्ट पा० अधिक से अधिक
उत्सर्पिणी पा० बढ़ती का काल

—जिस काल में पदार्थों की शक्ति, परिमाण आदि बढ़ते रहते है

उदकवत् पानी की तरह

उत्कृष्ट प्रबल, बेजोड

उद्भावन प्रकाशन

उद्भिज्ज भूमि फोडकर निकलने वाले

उपकरण पा० साधन

उपन्यास कथन

उपपत्ति सिद्धि

उपसर्ग पा० कष्ट

उपाश्रय पा० विहार, धर्म करने का स्थान,

उष्मा गर्मी

ऊ

ऊर्ध्वलोकांत ऊपर के लोकका अंत। ऊषर खारी भूमि, बंजर

ए

ए पं० यह

एकठे इकट्ठे

एक देश एक भाग

एकला गु० अकेला

एह पं० यह

एतावता इस लिये, अर्थात्

ओ

ओगणीश गु० उन्नीस (१९)। ओंधी उलटी

औ

औगुण पं० अवगुण, दोष । औदारिक पा० स्थूल शरीर

क

कंचन सोना
कंठ रहतो नहीं याद नहीं रहतो
कच्छु पं० कछुआ
कछुक थोडा सा, कुछ
कतरणी कैंची
कदन्न अपवित्र-खराब अन्न
कदे भी पं० कभी भी
कर्मरज कर्म रूपी धूली
करके द्वारा से
करतलामलकवत् हाथ में रहे हुए आंवले की तरह
करा किया
कराय के पं० करा कर
करिये पं० करें
करी से
करी है की है
करे है करता है
कलत्र स्त्री
कलल गर्भ की पहली अवस्था
कल्लोल बडी लहर
काढ़ना पं० निकालना
कारणे कारण से
कालात्ययापदिष्ट बाधित हेत्वाभास
काहे को किस लिये
कितनेक कई एक, कुछ
क्रियाकलाप क्रिया का समूह
किंकर दास
कीना था किया था
कुथित सडा हुआ
कुलकर प्रथम नीति चलाने वाले
कुम्भी पाक पा० नरक विशेष, जहां जीव को घड़े की तरह पकाया जाता है।
कुलिंगी बुरे आचरण वाले
कुक्षिंभर पेट भरने वाले
कोकिलावत् कोयल की तरह
कोटाकोटि पा० क्रोडों
कोथली थैली
क्रमोत्क्रम क्रम से, नम्बरवार
क्योंकर कैसे

ख

खण्डीभूत टुकड़े हुआ २

खरविषाण गधे के सींग

ग

गृद्धि अभिलाषा, आसक्ति

गधे खुरकनी पं० गधों का परस्पर खुजाना; परस्पर की प्रशंसा

गर्त गढ़ा

गलना गु० छानने का कपड़ा

गवाश्वादिवत् गाय, घोड़े आदि की तरह

गालें पं० गलायें

ग्यारां पं० ग्यारह (११)

गिरद पं० चारों तरफ़

गिरिशिखर पर्वत की चोटी

गीतार्थ आगम का जानकार

ग्रन्थि गांठ

घ

घन गाढ़

घणं गु० बहुत

घ्रेय सूंघने योग्य

च

चतुष्पद चार पैर वाले

चर्म उत्कर्तन चमड़ी उतारना

चित्राम चित्र, तस्वीर

चिन्तवना चिन्तन, विचार

चिर देर

चीवर सूत का धागा

छ

छगल बकरा

छद्मस्थ पा० अल्पज्ञ

छाग बकरा

छाना गु० छिपा हुआ

ज

जङ्गल शौच
जगा, जगे पं० जगह, स्थान
जघन कमर
जघन्य पा० कम से कम
जनक कारण
जलांजली देना छोड देना
ज्वरोष्मवत् ज्वर की गर्मी की तरह
जांण जानता है
जाभा चोला, अङ्गरखा विशेष
जालमस्वभाव क्रूरता
जावजीव जीवन पर्यन्त
जीत्या जीता, विजय किया
जुगुप्सा घृणा
जेकर पं० यदि
जोराजोरी पं० जबरदस्ती बलपूर्वक

ट

टोला झुंड

ठ

ठोठ मूर्ख

त

तदवस्थ उसी प्रकार
तड़के सवेरे
तपोनुष्ठान से तप करने से
तरे, तरें तरह
तलाव पं० तालाब
तहां वहां
तांई तक
ता करिके इस लिये
तातें इस लिये
तालोद्घाटिनी ताले खोलनेकी विद्या

तिन उन

तिस उस

तैं से

तैसा वैसा

द

दृष्टेष्टबाधारहित पा० प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण से जो बाधित न हो

द्रवना तरलता, पिघलना

दावानल वन की अग्नि

दाहक जलाने वाला

दिग्बंधन दिशा का बान्धना

दिदृक्षा देखने की इच्छा

दीने दिये

दुरंत बुरे परिणाम वाला

देनेहारी देने वाली

देशना पा० धर्मोपदेश

ध

धंधा काम

धरती पृथ्वी

धरनारे धारण करने वाले

धर्मज्ञ धर्म को जानने वाला

धातुरक्त गेरुआ, लाल

धुखने जलने, प्रदीप्त होने

न

नवे नये

न्यायोपपन्न न्याय से प्राप्त हुआ

न्यारा जुदा, अलग

नियन्ता शासन करने वाला,

निर्मति बुद्धि रहित

निरासार्थ खण्डन करने के लिये

निरी केवल

निवाले प्याले खान पान

निवि पा० एक प्रकार का तप

निष्प्रतिभ प्रतिभा-बुद्धि रहित

निस्सरणी सोपान, सीढी

नीहार शौचादि क्रिया

प

पटल परदा
पड़ जाता है गिर जाता है
परचक्र परराष्ट्र
पर्यटन भ्रमण
पराङ्मुख विमुख
परिणति भाव, परिणाम
परिवेष्टित घिरा हुआ
परिहार त्याग
परेष्ट दूसरे का माना हुआ
पाकज पा० अग्नि के संयोग से होने वाला
पादारविंद चरणकमल
पावना प्राप्त करना
पासे ओर, तरफ़
पिंगल पीला
पिछान पहचान
पीठ चौकी, पट्टा
पुरीष मल
पुरोवर्ती सामने खड़ा हुआ
पूंज लेना पूंछ लेना, साफ करना
पूर प्रवाह
पूरता है भरता है
पूरे पानी के सूक्ष्म जन्तु
प्रकरणसम पा० सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास
प्रणिधान भक्ति, ध्यान
प्रतिपत्ति सिद्धि
प्रतिपन्न सिद्धि
प्रतिपक्षी विरोधी
प्रतिबोध ज्ञान
प्रभृति आदि, वगैरह
प्रमाणानभिज्ञ प्रमाण को न जानने वाला
प्रमुख आदि, वगैरह
प्ररूपणा करनी कथन करना
प्ररूपे चलाये, कहे गये
प्रवर्तावे है प्रवृत्त करता है
प्रस्रवण मूत्र

प्रागभाव पा० वह अभाव जो अनादि और सान्त है

प्रावृट् वर्षा ऋतु

प्रसक्ति प्रसंग

प्रासाद मन्दिर, महल

प्रेक्षावान् बुद्धिमान्, विचारशील

फ

फलक चौकी, पट्टा

फुंफुक अग्नि तृण की अग्नि

ब

बंदीखाना कैदखाना

बंधुआ बन्दी, कैदी

बध्यमान लगी हुई

बनाय के बना कर

बहुते बहुत से

बहुश्रुत शास्त्रों का जानकार

बाज़ीवत खेल की तरह

बातां पं० बातें

बावरी पगली

बाहिरले पं० बाहिर के

बीभत्स बुरा

बेटा, बेटी लड़का, लड़की

बेरी पं० बार

बोदी जीर्ण, पुरानी

बोधि ज्ञान

भ

भया हुआ

भव संसार, जन्म

भात भोजन

भान प्रतीति

भासन प्रकाश, प्रतीत

भुवनव्यापक संसार में फैलने वाला

भुवन मकान

भू पृथ्वी

भूंडा बुरा

भूधर पर्वत
भूरुह वृक्ष
भेषज औषधि

म

मंगाय के मंगवा कर
मता विचार
मतान्तराय दूसरे मत वाले
मध्यांग मध्य का भाग
मध्याह्न दोपहर
मनगमता मनपसंद, रुचिकर
मने कराना हटाना
मराय के मारकर
महाज बडा बकरा
महानस रसोई
महापथ्य अति हितकारी
महोक्ष बडा बैल
माटी गु० मिट्टी
माथे मस्तक
मानसी मन की
मान्या माना
माने है मानता है
मायाजन्य माया से होने वाला
मिटाय के मिटाकर
मुदित प्रसन्न
मुनिप्रणीत मुनि का बनाया हुआ
मूक गूंगे, बेज़ुबान्
मूजब अनुसार
मूठीचांपी पैर आदि दबाना
मृत्तिका मिट्टी
मेहरबानगी कृपा

य

यतना सावधानता
यथारुचि इच्छानुसार
यथावस्थित यथार्थ
याग यज्ञ
युगपत् एक साथ
युगल जोड़ा
युक्तिविकल युक्ति रहित
योजन चार कोस

र

रज्जु रस्सी

रांधना पकाना

रूपामय चांदी का

रेल पेल नहीं करना जलमय नहीं करता

ल

लग, लगि तक

लय नाश

लव समय का एक सूक्ष्म परिमाण मुहूर्त का सतरहवां अंश

लवण नमक

लागे गु० लगे

लीनी ली

लूण लून, नमक

लोच करना पा० हाथ से शिर के बाल उखाड़ना

व

वखत समय

वदन मुख

वर्ग समूह, कक्षा

वर्जना छोड़ना

वर्तना बर्ताव करना, होना

वल्लरी बेल

वंचन ठगना

वृंद समूह

वागुरा जाल

वागुरी शिकारी

वाचक कहने वाला

वाम दायां

विकाल सन्ध्या

विक्षेप व्याकुलता

विचरना विहार करना, चलना

विडम्बना दुर्दशा

विडम्ब्यमान दुःखित किया गया

विधायक भावग्राही—वस्तु के

अस्तित्व मात्र को ग्रहण करने वाला
विधुर रहित
विपक्षी विरोधी
विप्रतारणा ठगना
विरूप बुरा
विश्रसा स्वभाव
विषाद खेद
विषं विषय, सम्बन्ध
वेदना पा० अनुभव करना
वेला समय
वेष्टित लिपटा हुआ
व्यक्तिनिष्ठ व्यक्ति में रहने वाला
व्यंजक व्यक्त करने वाला
व्यवच्छेद नाश
व्यामोह अज्ञानता
व्यावृत्त भेद
व्याहतपना विरोध

श

शश ससा, खरगोश
शालि धान, चावल
शाश्वत नित्य
शिव सुख, मोक्ष
शील चारित्र, स्वभाव
शुक्र वीर्य
शुष्क सूखा
शुश्रूषा सेवा
श्रेय कल्याण
शोषित सूखा हुआ
शौनिक हिंसक, कसाई

स

सधर्मीवत्सल–साधर्मी० समान धर्म वाले की सेवा भक्ति करना
समीचीन ठीक
सरपंच मुखिया
सरीखा समान
सहत शहद
सहकार आम
संकरता मिश्रण

संमोह संदेह, भ्रम
संविति ज्ञान
संस्तारक बिछौना
सान्त अन्त वाला
सान्निध्य समीपता, उपस्थिति
सामायिक रागद्वेष को छोड़ कर समभाव—मध्यस्थ भाव में रहना, ऐसे भाव की प्राप्ति के लिये की जाने वाली आवश्यक क्रिया
सार सकता है पूर्ण कर सकता है
सिद्धिसौध मोक्षस्थान
सुकृत पुण्य, अच्छे कार्य
सुखशीलिया सुखप्रिय
सुखे सुखे सुख से
सुज्ञ विद्वान्
सेती से
सो वह, अतः
सोई वही
सोलां पं० सोलह
स्थाणु ठूंठ वृक्ष, स्तंभ
स्वकपोलकल्पित मनघडंत, मनमाना
स्वकृतांत अपना सिद्धान्त
स्वचक्र अपना राष्ट्र
स्वसंवेदन आत्मविषयक अनुभव-ज्ञान

ह

हलुवे हलुवे धीरे धीरे
हाट दुकान
हाड़ हड्डी
हाथफेरी चालाकी
हिम बर्फ
हेठ पं० नीचे
हेयोपादेय छोड़ने और ग्रहण करने योग्य
होती भई हुई
होवे है होता है

क्ष

क्षरे नष्ट होवे

क्षीर नीर दूध पानी

क्षुधा भूख

क्षुर उस्तरा

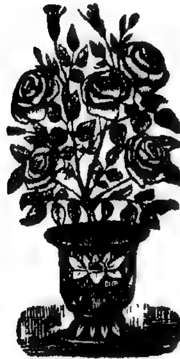
त्र

त्रयात्मक तीन स्वरूप वाला

त्राण रक्षण, शरण

त्रिदिव स्वर्ग

त्रिभुवन तीन लोक



जैन पारिभाषिक शब्द

—:o:—

अ

आ

उ



परिशिष्ट नं० १—क

[पृ० ७]

अर्धमागधी भाषा

लौकिक भाषा दो प्रकार की है—१ संस्कृत और २. प्राकृत। इनमें पहली संस्कृत भाषा वैदिक और लौकिक भेदसे दो प्रकार की है। *और दूसरी प्राकृत—प्रकृति संस्कृत, उस से उत्पन्न होने वाली अर्थात् उसकी विकृति को प्राकृत कहते हैं। वह प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश, इन भेदों से छः प्रकार की है।

महाराष्ट्र देश मे उत्पन्न होने वाली भाषा को प्राकृत कहते हैं, शूरसेन देश मे उत्पन्न होने वाली भाषा को शौरसेनी कहते

* प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ॥ २५ ॥
षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात् ॥ २६ ॥
तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः।
शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते ॥ २७ ॥
मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं संप्रचक्षते।
पिशाचदेशनियतं पैशाचीद्वितयं भवेत् ॥ २८ ॥
अपभ्रंशस्तु भाषा स्यादाभीरादिगिरां चयः ॥ ३१ ॥

[षड्भाषाचन्द्रिका पृ० ४-५]

हैं, मगध देश मे उत्पन्न होने वाली भाषा को मागधी कहते हैं, पिशाच देश मे निकलने वाली भाषा पैशाची और चूलिका है, एवं आभीर आदि की भाषा अपभ्रंश कहलाती है।

सामान्य नाटकों में जिस प्राकृत भाषा का उपयोग हुआ है, वह प्रायः महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी है। और जैन साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैन शौरसेनी है।

जैनागमों के लेखानुसार—

१. *भगवान् अर्धमागधी द्वारा उपदेश देते हैं।

२. †भगवान् महावीर स्वामी ने भंभसार के पुत्र कोणिक को अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिया।

३. ‡देवता अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं और बोल चाल की भाषाओं में अर्धमागधी ही विशिष्ट भाषा है।

* भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

[समवा० सू०, आग० स०, पृ० ६०]

† तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्ध-मागहीए भासाए भासति। [औप० सू० आग० स० पृ० ७७]

‡ गोयमा ! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति, सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिस्सइ।

[भग० सू०, आग० स० पृ० २३१]

४. *भाषार्य—भाषा की दृष्टि से भी वही आर्य कहला सकता है, जो कि अर्धमागधी भाषा का उपयोग करे।

इत्यादि आगम वाक्यों के पर्यालोचन से निश्चित होता है, कि अर्धमागधी सर्व श्रेष्ठ, देवप्रिय तथा आर्य भाषा है, इस लिये समस्त जैनागम इसी भाषा से अलंकृत हुए हैं।

परन्तु अर्धमागधी का सामान्य अर्थ और उसकी प्रामाणिक आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या का विचार करते हुए एक विचार शील पुरुष को जैनागमों की भाषा को अर्धमागधी कहने की अपेक्षा उसे प्राकृत भाषा कहना व स्वीकार करना कुछ अधिक सङ्गत प्रतीत होगा।

अर्धमागधी की व्याख्या—

संस्कृत के अतिरिक्त लौकिक भाषाओं के—१. प्राकृत, २. शौरसेनी, ३. मागधी, ४. पैशाची, ५. चूलिका पैशाची, और अपभ्रंश, यह छः भेद हैं।

व्यापकता की दृष्टि से औरों की अपेक्षा प्राकृत भाषा अधिक महत्त्व रखती है, अस्तु, मागधी का सामान्य अर्थ यह होता है कि जिसमें मागधी भाषा का अर्ध भाग हो, अर्थात् उस के शब्दों में अर्ध भाग मागधी का हो और अर्ध दूसरी भाषा का। तथा प्रामाणिक आचार्यों ने इस की जो व्याख्या की है, वह इस प्रकार है—

* भासारिया जे णं अद्धमागहीए भासाए भासेंति। [प्रज्ञा० सू०, आग० स०, पृ० ५६]।

(१) आचार्य श्री विजयानन्द जी सूरि ने *तत्त्व निर्णय-प्रासाद में 'भाषार्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए निशीथ चूर्णिका निर्देश करके कहा है, कि जो अठारह देश को एकत्र मिली हुई भाषा बोली जाती है, सो अर्धमागधी है।

(२) निशीथ चूर्णि में जिनदास महत्तर ने †अर्धमागध शब्द की उक्त व्याख्या के अतिरिक्त मगध देश की आधी भाषा यह दूसरी व्याख्या भी की है।

(३) तथा नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि ने समवायांग तथा औपपातिक सूत्र की वृत्ति में लिखा है कि जिस में मागधी भाषा के नियमों की तो बहुत न्यूनता हो, और प्राकृत लक्षणों की बहुलता हो, उसे अर्धमागधी कहते हैं। ‡

उपर्युक्त कथन का सारांश यह निकला कि जिसमें प्राकृत भाषा के नियमों की बहुलता और मागधी भाषा के

* देखिये पृ० ६३५।

† मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं।

‡ प्राकृतादीनां षण्णां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा "रसोर्लशौ मागध्याम्" इत्यादि लक्षणवती सा असमाश्रितस्वकीयसमग्र लक्षणाऽर्धमागधीत्युच्यते। [समवा० सू०, आग० स०, पृ० ६२]

"रसोर्लशौ मागध्याम्" इत्यादि यत् मागधभाषालक्षणं तेन अपरिपूर्णा प्राकृतभाषालक्षणबहुला अर्धमागधी।

[औप० सू०, आग० स०, पृ० ७८]

लक्षणों की स्वल्पता पाई जावे, वह अर्धमागधी भाषा है।

श्री अभयदेव सूरि आदि आचार्यों की इस पारिभाषिक व्याख्या के अनुसार तो जैन आगमों को भाषा को अर्ध-मागधी कहने अथवा स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं, क्योंकि उन में इसी नियम की व्यापकता उपलब्ध होती है। अर्थात् जैनगामों की भाषा में प्राकृत के नियमों का अधिक अनुसरण किया हुआ है, और मागधी का कहीं कहीं।

परन्तु यदि उक्त व्याख्या को पारिभाषिक न मान कर यौगिक मानें, तब तो उक्त जैन प्रवचन की भाषा को प्राकृत या आर्षप्राकृत कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। हमारी दृष्टि में तो जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी और प्राकृत दोनों ही नामों से अभिहित की जा सकती है। पूर्वाचार्यों ने इसे प्राकृत के नाम से भी उल्लेख किया है। जैसे कि आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

प्राकृतनिबन्धोऽपि बालादिसाधारणः।

उक्तं च—

बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः कृतः॥

इस लेख के द्वारा आगमों की भाषा को प्राकृत स्वीकार किया है। तथा स्वर्गीय आचार्य श्री विजयानंद सूरि जी ने

भी तत्त्वनिर्णयप्रासाद में *आगम के प्रमाण द्वारा इसी बात को समर्थन किया है। इस विषय में और भी कई एक आचार्यों के उल्लेख देखने में आये हैं, परन्तु विस्तारभय से उन का निर्देश नहीं किया जाता।

सब से अधिक विचारणीय बात यह है, कि आचार्य श्री हेमचंद्र सूरि ने प्राकृत भाषा के अतिरिक्त शौरसेनी, मागधी और पैशाची आदि भाषाओं के नियमों का उल्लेख किया, परन्तु आगम स्थित सर्वतः प्रिय अर्धमागधी भाषा के विषय में उन्हों ने किसी स्वतंत्र नियम (व्याकरण) की रचना नहीं की। इस से प्रतीत होता है कि आर्ष प्राकृत की भांति अर्धमागधी को वे प्राकृत भाषा में ही

* यदुक्तमागमे—

मुत्तूण दिट्ठिवायं कालिय उक्कालियंग सिद्धंतम्।

थीबालवायणत्थं पाइयमुइय जिणवरेहिं॥

अर्थ—दृष्टिवाद को वर्ज के कालिक उत्कालिक अंगसिद्धांत को स्त्री बालकों के वाचनार्थ जिनवरों ने प्राकृत में कथन करे हैं।

बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।

उच्चारणाय तत्त्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः कृतः॥

.... इस वास्ते ही अरिहन्त भगवन्तों ने एकादशांगादि शास्त्र प्राकृत में करे हैं। [तत्त्वनिर्णय प्रासाद पृ० ४१२—१३]

गर्भित मानते थे । इस लिये जिनप्रवचन की भाषा के अर्धमागधी और प्राकृत ये दोनों ही नाम शिष्टजन को सम्मत हैं ।

परिशिष्ट नं० १—ख

[पृ० ८,९]

तीर्थंकर और जीवन मुक्त

जैन सिद्धान्त के अनुसार जिस समय तीर्थंकर भगवान् को कर्मजन्य समस्त आवरणों के सर्वथा दूर हो जाने से केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस समय उन को संसार के सारे पदार्थों का करामलकवत् पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष भान होने लगता है । तथा उन में कई एक अतिशय उत्पन्न हो जाते हैं, जिन के प्रभाव से ऋद्धिसम्पन्न अनेक देवता हर समय उन की सेवा में उपस्थित रहते हैं ।

वैदिक वाङ्मय में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है । जीवन मुक्त के ज्ञान और ऐश्वर्य के वर्णन में उपनिषदों के निम्न लिखित कतिपय वाक्य उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये पर्याप्त प्रतीत होते हैं । जिस आत्मा को ब्रह्म अथवा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे वीतराग आत्मा की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्यः स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ।

[प्रश्न० उ०,४-११]

अर्थात् जो उस ब्रह्म को जान लेता है: वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है । तथा—

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखं सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ।

[छां० उ०, ७—२६—२]

अर्थात् तत्त्ववेत्ता (केवलज्ञानी) मृत्यु को नहीं देखता, न किसी प्रकार के रोग और दुःख को प्राप्त होता है, सर्व को देखता और सब कुछ प्राप्त कर लेता है । एवं—

स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । [छां० उ० ७—२५—२]

सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति । [तै० उ० १—५]

अर्थात् वह सब का राजा होता है, और सभी देवता उस की पूजा करते हैं । इस के अतिरिक्त योग दर्शन में लिखा है कि—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। [३-४६]

अर्थात् विवेकान्यताख्याति वाले पुरुष को सर्वज्ञत्व

और सर्वाधिष्ठातृत्व की प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त उदाहरणों से उक्त जैन सिद्धांत का कितने अंश में समर्थन होता है, इस का निर्णय विचारशील पाठक स्वयं कर लेवें।

परिशिष्ट नं० १–ग

[पृ० २१]

परिषह

आस्रव के निरोध का नाम संवर है, वह यद्यपि सामान्य रूप से एक ही प्रकार का है तथापि उपाय के भेद से उस के अनेक भेद वर्णन किये गये हैं, परन्तु संक्षेप मे उस के सात भेद हैं। इन्हीं सात में से परिषह भी एक है।

परिषह का लक्षण—

+ अंगीकार किये हुए धर्ममार्ग में दृढ़ रह कर कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिये, उपस्थित होने वाली विकट स्थिति को भी समभाव पूर्वक सहन करने का नाम परिषह है।

संख्या—परिषह बावीस हैं, उन के नाम और अर्थ का निर्देश इसी ग्रन्थ के पृ० ४५८ से ४६१ में विस्तार पूर्वक किया गया है।

+ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः।

[तत्वा० ९—८]

किस गुणस्थानवर्ती जीव में कितने परिषह होते हैं ?

(क) १० सूक्ष्म सम्पराय ११ उपशान्त मोह और १२ क्षीणमोह, इन तीन गुणस्थानों में-क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, ये * चौदह ही परिषह होते हैं, बाकी के आठ नहीं होते। कारण कि ये आठ मोहजन्य हैं। परन्तु ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में मोह का उदय है नहीं और दशवें गुणस्थान में तो यद्यपि मोह विद्यमान है, परन्तु वह इतना स्वल्प है, कि होने पर भी उसे न होने जैसा ही समझना चाहिये। इस लिये इन उक्त गुणस्थानवर्ती जीवों में मोहजन्य इन बाकी के आठ परिषहों की संभावना नहीं हो सकती।

(ख) १३ वें सयोगिकेवली और १४ वें अयोगिकेवली गुणस्थान में तो मात्र क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, और मल इन § ग्यारह का ही सम्भव है। बाकी के ग्यारह की इन में संभावना नहीं हो सकती।

क्योंकि ग्यारह घाति कर्म जन्य हैं। परन्तु १३ वें १४ वें गुणस्थान में घातिकर्मों का अभाव है, इस लिये इन में उक्त बाकी के ग्यारह परिषहों की सम्भावना नहीं हो सकती।

* सूक्ष्म संपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश। [तत्त्वा० ९—१०]

§ एकादश जिने। [तत्त्वा० ९—११]

(ग) *बादरसम्पराय नाम के नवमे गुणस्थान में विचरने वाले जीव के तो २२ परिषहों की संभवता है। क्योंकि परिषहों के कारण कर्मों की सत्ता वहां पर मौजूद है। इस के अतिरिक्त यह बात तो अर्थतः सिद्ध है कि जब नवमे गुणस्थानवर्ती जीव में ये बावीस ही परिषह विद्यमान हैं तो इस के पूर्ववर्ती छठे आदि गुणस्थानों में तो उन की पूर्ण रूप से विद्यमानता है ही।

परिषहों के कारण का निर्देश—

जैन सिद्धान्त के अनुसार अनुभव में आने वाले प्राकृतिक सुख दुःख की व्यवस्था अध्यवसायानुसार बान्धे हुए शुभाशुभ कर्मों पर ही अवलम्बित है। इसी के अनुसार उक्त बावीस परिषहों का कारण अथवा निमित्त भी ज्ञानावरणीय, मोहनीय, वेदनीय और अन्तराय यह चार कर्म हैं। ×इन में ज्ञानावरण तो प्रज्ञा और अज्ञान परिषह का कारण है। ‡दर्शन मोहनीय और अन्तराय यह क्रमशः अदर्शन और अलाभ परिषह के कारण हैं। एवं चारित्र मोहनीय से अचेलकत्व, [1]अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार ये

* बादर सम्पराये सर्वे। [तत्त्वा० ९—१२]

× ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने। [तत्त्वा० ९—१३]

‡ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ। [तत्त्वा० ९—१४]

सात परिषह उत्पन्न होते हैं *। †तथा वेदनीय कर्म यह ऊपर वर्णन किये गये सर्वज्ञ में होने वाले ग्यारह परिषहों के कारण हैं।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि एक जीव में एक ही साथ समस्त बावीस परिषहों की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि उन में कितनेक परस्पर विरोधी परिषह भी हैं। यथा शीत, उष्ण चर्या और शय्या इत्यादि। जब शीत होगा तब उष्ण नहीं और जब चर्या होगी तो शय्या नहीं, इसी प्रकार इस के विपरीत भी समझ लेना। इस लिये § एक ही काल में एक जीव में एक से लेकर अधिक से अधिक उन्नीस परिषहों की सम्भावना की जा सकती है।

* चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्री निषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः। [तत्त्वा० ९—१५]

† वेदनीये शेषाः। [तत्त्वा० ९—१६]

§ एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः। [तत्त्वा० ९—१७]

परिशिष्ट नं० १—घ

[पृ० ८२]

नयवाद

प्रमाणनयैरधिगमः । [तत्त्वा० १—६]

जैनधर्म के सुप्रसिद्ध तार्किकशिरोमणि आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि *"जितने भी बोलने के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय अर्थात् अन्य सिद्धांत हैं" । वस्तु तत्त्व का विवेचन केवल एक ही दृष्टि से नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही दृष्टि से किया गया पदार्थ का विवेचन अधूरा होता है । जो विचार एक दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है, उस का विरोधी विचार भी दूसरी दृष्टि से सत्य ठहरता है, इस लिये विविध दृष्टियों से ही पदार्थ के स्वरूप का पर्यालोचन करना सिद्धांत की दृष्टि से सम्पूर्ण एवं सत्य ठहरता है, इसी का नाम प्रमाण है ।

वस्तु में सत्त्व, असत्त्व नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्वादि अनेकविध विरोधी धर्मों का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है । इन सम्पूर्ण धर्मों का एक ही समय में निर्वचन नहीं किया

* जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥ [सं० त० ३—४७]

जा सकता । अतः वस्तु में रहे हुए इन विविध धर्मों में से किसी एक धर्म को लेकर अन्य धर्मों का अपलाप न करके वस्तु के स्वरूप का जो आंशिक निर्वचन है, उस को नय कहते हैं, इस को सद्दृष्टि अथवा अपेक्षा भी कहते हैं। यद्यपि वस्तु में अनन्त धर्मों की विद्यमानता होने से उन के द्वारा वस्तु का निर्वचन करने वाली दृष्टियें भी अनन्त हैं,तथापि वर्गीकरण द्वारा शास्त्रकारों ने उन सब दृष्टियों का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में अन्तर्भाव करके पहिले के तीन और दूसरे के चार भेद करके सम्पूर्ण विचारों को सात भागों में विभक्त कर दिया है । ऊपर कहा गया है कि सम्पूर्ण विचारों, दृष्टियों, अपेक्षाओं और नयों का समावेश मुख्यतया द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में किया गया है । उन में द्रव्य अर्थात् मूल वस्तु—पदार्थ विषयक जो विचार सो द्रव्यार्थिकनय और पर्याय अर्थात् पदार्थ की विकृति का निर्वचन करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

उदाहरण—स्वर्ण द्रव्य और कटक कुण्डलादि पर्याय हैं। अतः केवल स्वर्ण द्रव्य का विचार करने वाली दृष्टि द्रव्यार्थिक नय और स्वर्ण की विकृति रूप कटक कुण्डलादि का निर्वचन करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते हैं । इन में प्रथम द्रव्यार्थिक नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, यह तीन भेद हैं। दूसरे पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द,

समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार भेद हैं। इस प्रकार समस्त नयों का इन सातों में समावेश किया गया है। नय के इन सात प्रकारों का कुछ अधिक विवेचन किया जावे, इस से प्रथम पदार्थ में रहने वाले सामान्य तथा विशेष धर्म का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

'सामान्य'—जाति आदि को कहते हैं, और 'विशेष' भिन्न भिन्न व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है। सामान्य धर्म भिन्न भिन्न व्यक्तियों में जातिरूप एकत्व बुद्धि का उत्पादक है, जैसे सैंकड़ों मनुष्य व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न भिन्न है, परंतु हर एक में मनुष्यत्व जातिरूप समान्य धर्म एक है, अर्थात् मनुष्यत्वरूप से वे सब एक हैं; इस लिये सामान्य धर्म विभिन्न व्यक्तियों में एकता का उत्पादक है। और विशेष धर्म से प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे से भेद बोधित है। क्योंकि व्यक्ति स्वयं विशेषरूप–भेदरूप है, और उस में रहा हुआ व्यक्तिगत गुण भी विशेष रूप है, इस लिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्नरूप है। जैसे मनुष्यत्व रूप सामान्य धर्म से सभी मनुष्य व्यक्तियें एक हैं, तथापि व्यक्तिगत विशेष धर्म को ले कर एक दूसरे से भिन्न हैं, कारण कि प्रत्येक व्यक्ति में रहे हुए विशिष्ट गुण उस की पारस्परिक विभिन्नताओं के नियामक हैं, इस लिये वस्तु-गत सामान्य और विशेषधर्म की अपेक्षा उस को—वस्तु को सामान्य और विशेष उभयरूप माना गया है। इस

का अभिप्राय यह है, कि जैन सिद्धांत में वैशेषिक दर्शन की भांति सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माने, किन्तु इन को वस्तु के धर्म मान कर वस्तु को ही सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार किया है। इस प्रकार वस्तु में सामान्य और विशेष धर्म की प्रतीति होने से यह सिद्ध हुआ कि सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य नहीं रहता। किन्तु सामान्य और विशेष दोनों ही एक दूसरे के आश्रित हैं, और दोनों ही वस्तु मात्र में विद्यमान हैं।

१. नैगमनय—वस्तु में रहे हुए सामान्य और विशेष इन दोनों धर्मों को समानरूप से मान्य रखने वाली दृष्टि का नाम नैगमनय है। इस के मत में विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं, किंतु वस्तुमात्र ही सामान्य विशेष उभयधर्म वाली है। तात्पर्य कि जिस प्रकार द्रव्य सामान्य और विशेष धर्मवाला है उसी प्रकार पर्याय भी सामान्य विशेष धर्मयुक्त है।

समस्त घटों में ऐक्य बुद्धि का उत्पादक घटत्वरूप सामान्य धर्म है, और प्रत्येक घट में रक्त पीतता आदि विशेष गुण उन की—घटों की विभिन्नता के नियामक हैं, इस लिये नैगमनय के मत से संसार की सभी वस्तुएं सामान्य और विशेष धर्म वाली मानी गई हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन ने इसी नय का अनुसरण किया है।

२. संग्रह—अनेक पदार्थों में एकत्व बुद्धि का समर्थक संग्रह नय है, संग्रह नय वस्तु के केवल सामान्यधर्म—सत्ता को ही स्वीकार करता है, उस के मत में सामान्य से अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की सत्ता स्वीकृत नहीं। आम नीम आदि भिन्न भिन्न सभी प्रकार के वृक्षों का जैसे वनस्पति शब्द से ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेष धर्मों का सामान्य—सत्तारूप से यह नय संग्रह करता है। अतः इस नय के अनुसार सामान्य से अतिरिक्त विशेष नाम का कोई धर्म नहीं है। वेदांत और सांख्य दर्शन ने इसी नय को स्वीकार किया है।

३. व्यवहार नय—वस्तु में रहे हुए सामान्य और विशेष इन दो में से केवल विशेष धर्म को ही मानता है, उस के मत में विशेष से अतिरिक्त सामान्य कोई वस्तु नहीं। जैसे कि वनस्पति के ग्रहण का आदेश होने पर भी उस के आम नीम आदि किसी विशेषरूप का ही ग्रहण किया जाता है, वनस्पति सामान्य का नहीं। अतः सामान्य रूप में भी विशेष का ही ग्रहण शक्य है और इष्ट है। चार्वाक दर्शन ने इसी नय को अंगीकार किया है।

४. ऋजुसूत्र नय—वस्तु के केवल पर्याय को ही मानता है, अतीत और अनागत को नहीं, उस के मत में वस्तु के अतीत पर्याय का नाश होने से वर्तमान में उस का अभाव है, और भविष्यत् काल के पर्याय की अभी तक उत्पत्ति ही

नहीं हुई, इस लिये वस्तु में वर्तमानकाल में जो निज पर्याय विद्यमान है, उसी को अंगीकार करना युक्तियुक्त है। क्योंकि अतीत अनागत और परकीय भाव से कभी कार्य की सिद्धि नहीं होती।

जैसे पूर्व जन्म का पुत्र और आगे को होनेवाला पुत्र वर्तमान राजपुत्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार वस्तु के अतीतानागत पर्यायों से भी वस्तु के स्वरूप का निरूपण नहीं किया जा सकता। इस लिये भूत और भविष्यत् काल का परित्याग करके केवल वर्तमान काल में जिस प्रकार के गुणधर्मों से जिस रूप में वस्तु विद्यमान हो, उसी रूप में उस को ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है। बौद्ध दर्शन में इसी नय को अंगीकार किया गया है।

५. शब्द नय—वाच्यार्थ का अनेक शब्दों द्वारा निर्देश किये जाने पर भी उसे एक ही पदार्थ समझना शब्द नय है। इसी प्रकार लिंग संख्यादि के भेद रहने पर भी उसे एक स्वीकार करना शब्द नय कहलाता है। जैसे कलश-कुंभ आदि अनेक शब्दों के द्वारा सम्बोधित होने वाला एक ही घट पदार्थ है। तथा 'तटः', 'तटी' आदि में लिंग भेद रहने पर भी इन का वाच्य एक ही तट पदार्थ है। तात्पर्य कि इस नय के अनुसार पर्यायवाचक शब्दों में भेद होने पर भी वाच्यार्थ में भेद नहीं होता। संख्या वचन में 'दारा' और 'कलत्र' इन शब्दों को समझ लेना चाहिये,

वैयाकरणों को यही नय मान्य है।

६. समभिरूढ़—पर्यायवाचक शब्दों के भेद से वाच्यार्थ में भी भेद कल्पना करने की पद्धति को समभिरूढ़ कहते हैं। इस नय के मत में घट शब्द के वाच्यार्थ घटरूप पदार्थ से कुम्भ शब्द के वाच्यरूप कुंभ पदार्थ में भेद है, अतः घट, कुम्भ और कलश में जहां शब्द नय के अनुसार अभेद है, वहां समभिरूढ़ नय के मत में भिन्नता है, क्योंकि इन में व्युत्पत्ति के द्वारा जो अर्थ ध्वनित होता है, वह इन के सहज भेद का नियामक है। वैयाकरणों ने इसी नय का अनुसरण किया है।

७. एवंभूत—व्युत्पत्ति द्वारा उपलब्ध होने वाला अर्थ जिस समय वाच्य पदार्थ में घट रहा हो, उसी समय उस का शब्द के द्वारा निर्देश करना एवंभूत नय है। जैसे घट को उसी समय पर घट कहना चाहिये, जब कि उस में जल भरा हो, और किसी व्यक्ति द्वारा मस्तक पर उठाया हुआ घट घट शब्द करे। यह नय केवल विशुद्ध भाव को लेकर प्रवृत्त होता है।

परिशिष्ट नं० २—क

[पृ० १०३]

ख्यातिवाद

जहां पर रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत—चांदी का भ्रम होता है, वहां पर दार्शनिकों के भिन्न २ मत हैं, जो कि

ख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं । दार्शनिक ग्रन्थों की पर्यालोचना से इन तार्किकों के उक्त भ्रमस्थल में छः मत देखने में आते हैं। यथा—

१. सत्ख्याति, २. असत्ख्याति, ३. आत्मख्याति, ४. अन्यथाख्याति, ५. अख्याति, और ६. अनिर्वचनीयख्याति।

१. सत्ख्याति—सत्ख्यातिवादी के सिद्धान्त में जिस प्रकार शुक्ति सत्य है, उसी प्रकार रजत भी सत्य है, अर्थात् शुक्ति के अवयवों के साथ रजत के अवयव सदा रहते हैं; इस लिये जैसे शुक्ति के अवयव सत्य हैं, उसी प्रकार रजत के अवयव भी सत्य हैं। परन्तु सदोष नेत्र के सम्बन्ध से वहां पर सत्य रजत ही उत्पन्न होती है, और अधिष्ठानरूप शुक्ति के ज्ञान से सत्य रजत का अपने अवयवों में ध्वंस हो जाता है, अतः सत् पदार्थ का ही उक्त भ्रमस्थल में भान होता है, मिथ्या का नहीं। यह मत सत्कार्यवादी का है।

२. असत्ख्याति—शून्यवादी बौद्ध के मत में असत्ख्याति का अंगीकार है। उस के मत में जिस प्रकार रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत अत्यन्त असत् है, वैसे ही दुकान में भी अत्यन्त असत् है, इस लिये अत्यन्त असत् रूप सर्प और चांदी की जो रज्जु और शुक्ति में प्रतीति-ज्ञान होना उस का नाम असत्ख्याति है।

३. आत्मख्याति—यह सिद्धांत क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध का है। उस का कथन है कि शुक्ति में तथा अन्यस्थान

में बुद्धि से अतिरिक्त रजत कोई नहीं, किन्तु बुद्धि ही सर्व पदार्थ के आकार को धारण करती है। और वह बुद्धि क्षणिक विज्ञान स्वरूप है, जो कि क्षण क्षण में उत्पन्न और विनष्ट होता है, इस लिये क्षणिक विज्ञान ही सर्व रूप से सर्वत्र प्रतीत होता है, इसी का नाम आत्मख्याति है, आत्मा-क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि, उस की सर्वरूप से ख्याति-भान अथवा कथन, आत्मख्याति है ।

४. अन्यथाख्याति—यह नैयायिकों और वैशेषिकों का मत है। उन के सिद्धान्त में सराफ की दुकान पर देखी गई सत्य रजत का नेत्रगत दोष के प्रभाव से शुक्ति के स्थान में प्रतीति होना अर्थात् दुकान पर पडी हुई चांदी का, अन्यथा—सन्मुख में भान होना, इस का नाम अन्यथा-ख्याति है। और चिन्तामणिकार का कथन है कि दुकान पर पडी हुई चांदी का सन्मुख में भान नहीं होता, किन्तु नेत्रगत दोष से शुक्ति का ही अन्यथा-अन्यप्रकार से-रजत के आकार से प्रतीत होना अन्यथाख्याति है ।

५. अख्याति—इस मत का समर्थक सांख्य और प्रभाकर को माना गया है। इन के विचार से शुक्ति में जहां रजत का भ्रम होता है, वहां पर दो ज्ञान हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा स्मृति रूप। शुक्ति का ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और रजत की स्मृति होती है, परन्तु नेत्र के दोष से वह भिन्न २ ज्ञान एक हो कर भासता है, इसी का नाम अख्याति अथवा भ्रम है ।

६. अनिर्वचनीयख्याति—यह मत वेदान्तियों का है इस की प्रक्रिया इस प्रकार है—

अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र के द्वारा बाहिर निकल कर विषय के आकार को धारण करती है, विषयाकार होने से विषय में रहे हुए आवरण का भंग हो जाने से उस का प्रकाश हो जाता है। तात्पर्य कि वृत्ति द्वारा विषयावच्छिन्न चेतन में रही हुई अविद्या का भंग होने से वह प्रकाशित हो जाता है, तब पदार्थ का भान होने लगता है। परन्तु इस में प्रकाश की सहायता की भी आवश्यकता रहती है, बिना प्रकाश के पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। शुक्ति रजत अथवा रज्जु सर्प आदि भ्रम स्थल में शुक्ति या रज्जु के साथ नेत्र द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध हो कर वह शुक्ति रूप अथवा रज्जु रूप को धारण तो करती है, परन्तु प्रकाश के न होने से वह विषयगत अविद्या का भंग नहीं कर सकती। प्रत्युत विषयावच्छिन्न चेतननिष्ठ उस अविद्या में क्षोभ पैदा कर देती है, तब वही क्षुब्ध हुई अविद्या शुक्ति स्थल में चांदी और रज्जु स्थल में सर्प के आकार को धारण कर लेती है। तथा अविद्याजन्य इस रजत और सर्प को न तो सत् कह सकते हैं क्योंकि अधिष्ठान रूप शुक्ति और रज्जु के स्पष्ट ज्ञान से उस का बाध हो जाता है; और असत् इस लिये नहीं कह सकते कि उस की प्रतीति होती है, अतः सत् असत् उभय विलक्षण होने से यह अनिर्वचनीय है। तब

अनिर्वचनीय रजत आदि की जो ख्याति अर्थात् भान होना उस का नाम अनिर्वचनीय ख्याति है। इस प्रकार भ्रमस्थल में दार्शनिकों के छः मत हैं, जिन का अति संक्षेप से वर्णन किया गया है।

परिशिष्ट नं० २--ख

[पृ० १६६]

वैध हिंसा निषेधक वचन

वैधयज्ञों—जिन में हिंसा की प्रचुरता देखने में आती है—को जैनों के अतिरिक्त उपनिषद् और महाभारत आदि में भी गर्हित बतलाया है। यथा—

१.– (क) प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनंदन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यंति ॥७॥

(ख) इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं,
नान्यच्छ्रेयो वेदयंते प्रमूढाः ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशंति ॥१०॥
[मुंडकोपनिषद् मु० १ खं २]

तात्पर्य कि यह यज्ञरूप प्लव-क्षुद्र बेडियें अदृढ हैं, टूट जाने वाली हैं, अर्थात् संसार समुद्र से पार करने में सर्वथा असमर्थ हैं, जो मूर्ख इन वैध यज्ञों को श्रेष्ठ मान कर इन का अभिनन्दन करते हैं, वे फिर भी जन्म मरण को ही प्राप्त होते हैं ॥७॥

जो लोग यागादि वैदिक कर्म और कूप तड़ागादि स्मार्त कर्म को परमोत्तम मानते हैं, वे मूर्ख हैं, क्योंकि उन को यह मालूम नहीं कि इस से अतिरिक्त मोक्ष का साधक कोई और भी श्रेष्ठ मार्ग विद्यमान है। इस लिये वे स्वर्ग में पुण्य का फल भोग कर इस लोक में मनुष्य पशु और नरकादि गति को प्राप्त होते हैं। उपनिषद् के इन वाक्यों से वैध यज्ञों के प्रति जो तिरस्कार प्रकट होता है, उस पर किसी प्रकार से विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं। इस के अतिरिक्त मुंडकोपनिषद् के इन दो मन्त्रों के बीच के आठवें मन्त्र में इसी कर्म को गर्हित बतलाते हुए उस के अनुष्ठान करने वालों को पंडितमानी, महामूर्ख और "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" के शब्दों से स्मरण किया है।

२—(क) महाभारत में राजा विचख्यु के इतिहास में लिखा है कि—

* अव्यवस्थितमर्यादैर्मूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तै हिंसा समनुवर्णिता ॥६॥
† सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥७॥
तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा एव सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥८॥
[शां० प० अ० २७१]

इन श्लोकों का भावार्थ यह है कि मर्यादा रहित, मूढ़ और नास्तिक पुरुषों ने तथा जिन को आत्मा के विषय में संशय है और यज्ञादि अनुष्ठान से प्रसिद्धि की इच्छा रखते हैं, उन्होंने ही यज्ञों में पशुओं की हिंसा को श्रेष्ठ कहा अथवा माना है । जिस प्रकार अन्यत्र, लोग अपनी इच्छा से पशुओं का वध करते हैं, उसी प्रकार ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में भी

* नास्तिकैः—नास्ति ब्रह्मेति वदद्भिः संशयात्मभि.—आत्मा देहोऽन्यो वा, अव्यक्तैः—यज्ञादिद्वारैव ख्यातिमिच्छद्भिः, हिंसा—क्रतौ पश्वालंभः श्रेष्ठः कृतः ॥६॥

† बहिर्वेद्यामिव ज्योतिष्टोमादिष्वपि नराः कामकारादेव पशून् हिंसंति न तु शास्त्रात् यतो धर्मात्मा मनुः सर्ववेदार्थतत्त्ववित् अहिंसामेवा-ब्रवीत्-प्रशशंस [टीकायां नीलकण्ठाचार्यः]

जो पशुओं का वध किया जाता है, वह भी स्वेच्छाचार से ही किया जाता है, इस में शास्त्र की आज्ञा बिल्कुल नहीं है, क्योंकि वेदार्थ को सब से अधिक जानने वाले धर्मात्मा मनु ने तो सर्व कर्म में अहिंसा की ही प्रशंसा की है। इस लिये बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रानुसार ही धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्मों में श्रेष्ठ है।

(ख) * यज्ञों में मांस मदिरा आदि का विधान वेदों में नहीं है। यह तो काम मोह और लोभ के वशीभूत हो कर मांस लोलुपी धूर्त पुरुषों की चलाई हुई रीति है। ब्राह्मणों को तो सर्व यज्ञों में फल पुष्पादि से विष्णु भगवान् का यजन-पूजन करना ही अभीष्ट है।

(ग) इस के अतिरिक्त पिता पुत्र के सम्वाद में शान्ति पर्व अध्याय २८३ में लिखा है, कि—

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥३३॥

* सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतत् नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥११॥
कामान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रवर्तितम्।
विष्णुमेवाभिजानंति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥१२॥

[शां० प० अ० २७१]

यज्ञानुष्ठान के लिये पिता का आदेश होने पर पुत्र कहता है कि मेरे जैसा धर्मात्मा पुरुष पिशाच की तरह इन हिंसक यज्ञों का अनुष्ठान किस प्रकार कर सकता है। इत्यादि अनेक स्थानों पर वैध यज्ञों को गर्हित ठहराया गया है। इस के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी इन यज्ञों की अवगणना की गई है परन्तु विज्ञजनों के लिये इतना ही पर्याप्त है।



शुद्धि पत्रक

—:o:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२२	नहां हाता	नहीं होता
११	१३	दाषों	दोषों
१७	१६	मात्तप्राप्ति	मोक्षप्राप्ति
१८	२१	ययार्थ	यथार्थ
२७	१७	नम	नमि
२८	२०	क बाद ज्ञातकुल म	के बाद ज्ञातकुल में
३१	१५	हका ो	हकारो
६३	१०	ज्ञानोत्पार्तिका	ज्ञानोत्पत्ति की
६४	१७	भवसंक्या	भवसंख्या
७७	७	बेट	बेटी
९२	१०	ईश्वर त	ईश्वर तो
९४	१६	हां	हो
११६	१३	द्ोनों	दोनों
१३१	११	वाह्नि	वह्नि
१३१	१३	विराधी	विरोधी
१३१	२१	ह	है
१३३	२०	तीसेर	तीसरे
१३४	१६	गगयेत्	गमयेत्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	३	अदश्य	अदृश्य
१४०	२	प्रवृत्त	प्रवृत्त
१५३	१८	अग्नि में ल	अग्नि में जल
१५४	११	विश्वता बाहु	विश्वतो बाहु
,,	१५	व्यापक	व्यापक
१५७	१७	ईश्वर चर्चा	ईश्वर चर्चा
१५८	१६	ह,	है,
१६६	१८	जीब	जीव
१६६	११	सा	सो
१७१	१	पथ्यकारा	पथ्यकारी
१७६	३	पूवक	पूर्वक
१८४	१७	शद	शब्द
१९६	१५	पलक	फलक
१९७	१६	तथा स्त्रा	तथा स्त्री
२०८	१५	सद्गनि	सद्गति
२०९	१	नहां हैं	नहीं हैं
२०९	१९	जी जीव	जो जीव
२१२	२१	पांचां	पांचों
२१६	११	अरु जी	अरु जो
२२४	१७	सुहसीला	सुहसीलो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२८	२	यह द	यह दो
२२८	५	जन तत्त्वादर्श	जैन तत्त्वादर्श
२२६	१७	एसा न्यारा	ऐसा न्यारा
२३१	१०	यह दा	यह दो
२४७	१८	खडन	खण्डन
२५१	८	फल नहां	फल नहीं
२६०	१	नियति को	नियति की
२६४	३	ऐसा ज्ञानो	ऐसा ज्ञानी
२७०	१६	खिखते हैं	लिखते हैं
२७३	१४	तत्पर्य	तात्पर्य
,,	१६	उत्पत्ति ह	उत्पत्ति है
२८२	८	करने को वास्ते	करने के वास्ते
२८५	१	कृष्णादिरूप	कृष्णादिरूप
२८६	१	प्रक्रात	प्रकृति
२६३	४	यथः—	यथाः—
२६८	१६	वेटा	बेटी
३०४	७	भार्या का	भार्या को
,,	६	होनी थो	होती थी
३०५	५	बहुश्रु ।	बहुश्रुत
३१०	६	न हीं	नहीं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	१०	तोन रूप	तीन रूप
३१४	१०	तृष्ण	तृष्णा
३२३	२	अतातानागत	अतीतानागत
,,	५	मेघाभ्राति	मेघोभ्रति
३२६	१६	द्वि० द्वा०	द्वा० द्वा०
३३५	१६	का भी	को भी
३५१	११	संगृहति	संगृहीत
३६०	१२	वंध्या भ है	वंध्या भी है
३६१	११	वो जी	वो जीव
३७२	६	अंधेतमासि	अंधेतमसि
३७४	४	नाहिं	नहीं
३८१	४	श्रार	और
३८३	८	प्राति	प्रीति
३६०	२२	शा० स०स्तु०	शा० स० स्त०
३६४	८	उत्पन्न	उत्पन्न
३६७	२	ज्ञन	ज्ञान
४०३	१६	यम्यक्	सम्यक्
४२३	१६	शोव	शोच
४३८	८	तीनों के	तिनों के
४८०	६	जोव के	जीव के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८४	६	सद्धपना	सिद्धपना
४८६	२३	साहुसुआलाहु०	साहुसु अलाहु०
४९८	७	सगरोपम	सागरोपम
५००	१०	वो भी	वो भी
५०२	३	इस वास्ते	इस वास्ते
५०७	१५	कर्मफलोदय	कर्मफलोदय
५०८	४	हावे	होवे
५१०	२	तत्संतहृत्य	तत्संहृत्य
५१४	१	तत्त्वमुत्तम	तत्त्वमुत्तमम्
५१५	२२	यागी	योगी
५२८	६	क्यानी	क्यानी
५५०	१	मुख नहीं	मुख नहीं
५६१	२२	अराधक	आराधक

